श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

पुस्तक प्रकाशक समिति

अध्यक्ष— श्री दानवीर सेठ भैरोदानजी सेठिया

मन्त्री— श्री जेठमलजी सेठिया

उपमन्त्री श्री माणकचन्दजी सेठिया

लेखक मण्डल

१– श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री M A शास्त्राचार्य, न्यायतीर्थ, वेदान्तवारिधि

२– श्री रोशनलाल चपलोत B.A LL B न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ सिद्धान्त तीर्थ, विशारद

३– श्री श्यामलालजी जैन M A. न्यायतीर्थ, विशारद

४– श्री घेवरचन्दजी बांठिया 'वीरपुत्र' सिद्धान्त शास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ हिन्दीशॉर्ट हैण्ड विशारद

दो शब्द

(द्वितीयावृत्ति के सम्बन्ध में)

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह के आठ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। जनता ने इन भागों को इतना अधिक अपनाया कि प्रकाशित होने के थोड़े समय बाद ही इसके कई भाग out of Stock हो गये। दूसरा भाग तो बहुत शीघ्र out of Stock हो गया। भागों के लिए जनता की मांग बराबर आती रही। तदनुसार हमने इन भागों की द्वितीयावृत्ति छपाने का विचार किया। आज दूसरे भाग की द्वितीयावृत्ति पाठकों के सन्मुख रखते हुए मुझे पहले से भी अधिक हर्ष हो रहा है। –

जैनदर्शन के सप्तभङ्गी, नय, द्रव्य आदि मुख्य सिद्धान्त तथा धार्मिक मुख्य मान्यताएं इसी भाग में अन्तर्हित हैं और वे भी पर्याप्त विस्तार के साथ लिखी गई हैं। सात निह्नव और छह दर्शनों का ज्ञान भारतीय प्राचीन मान्यताओं का यथेष्ट दिग्दर्शक है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छः आरे, परदेशी राजा के छः प्रश्न, सात नरक, पाथापाथ सात आदि आदि बातों का वर्णन पर्याप्त विस्तार के साथ दिया गया है। इसलिए यह भाग पाठकों को विशेष रुचिकर होगा ऐसी पूर्ण आशा है।

पुस्तक का नाम 'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' होने से इसमें प्रायः सारी बातें आगमों से ही ली गई हैं। कुछ ऐसी बातें जिनके विषय में किसी तरह का विवाद नहीं है, प्रकरण ग्रन्थों से या इधर उधर से भी उपयोगी समझकर ले ली गई हैं। किन्तु उन्हें देते समय प्रामाणिकता का पूरा ध्यान रक्खा गया है।

प्रमाण के लिए बोलों के नीचे मूल सूत्र और ग्रन्थ का ही नाम दिया है। मूल में जहाँ नाम [illegible] व्याख्या

शास्त्र के अनुकूल उनकी टीका, निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि आदि से लिखी गई है।

सूत्रों में प्रायः 'आगमोदय समिति' का संस्करण ही उद्धृत किया गया है। इसके सिवाय जो संस्करण यहाँ उद्धृत हैं उनके नाम भी दे दिये गए हैं।

वर्तमान समय में कागज तथा छपाई सम्बन्धी साधन और अन्य सारा सामान महँगा होने के कारण पुस्तक की कीमत कुछ बढ़ानी पड़ी है। फिर भी ज्ञानप्रचार की दृष्टि से इसकी कीमत लागत मूल्य से भी कम रखी गई है। यह भी फिर साहित्य प्रकाशन आदि ज्ञान के कार्यों में ही लगाई जायगी।

मंगाने वाले सज्जन अपना पूरा पता (मुकाम, पोस्ट और रेल्वे स्टेशन) साफ साफ हिन्दी और अंग्रेजी में लिखें।

पेज १२८ तक 'श्री सेठिया जैन प्रिंटिंग प्रेस' में छपे हैं। इसके बाद 'एजूकेशनल प्रेस' में छपे हैं वहाँ प्रूफ देखने की यथेष्ट सुविधा न होने के कारण एवं प्रेस कर्मचारियों की असावधानी के कारण कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनके लिए शुद्धिपत्र दे दिया गया है। अतः पाठक उस शुद्धिपत्र के अनुसार पुस्तक को शुद्ध करके पढ़ें।

पुस्तक प्रेस बीकानेर (राजपूताना) फाल्गुन कृष्णा जयोदशी ता० ८-१-१९४८ ई०	निवेदक— भैरोदान सेठिया

आभार प्रदर्शन

जैन धर्म दिवाकर पंडितप्रवर उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ने पुस्तक का आद्योपान्त अवलोकन करके आवश्यक संशोधन किया है। परमप्रतापी पूज्य श्री हुक्मीचंदजी महाराज के पाट पट्टधर श्री श्री १००८ आचार्यप्रवर पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज के सुशिष्य पं० मुनि श्री पन्नालालजी महाराज ने भी परिश्रम पूर्वक पूरा समय देकर पुस्तक का ध्यान पूर्वक निरीक्षण किया है। बहुत से नए बोल तथा कई पाठों के लिए सूत्रों के प्रमाण भी उपरोक्त मुनिवरों की कृपा से ही प्राप्त हुए हैं। उक्त सम्प्रदाय के मुनिश्री बड़े चाँदमलजी महाराज के सुशिष्य पं० मुनिश्री घासीलालजी महाराज ने भी समय समय पर अपना सत्परामर्श देकर पूर्ण सहयोग दिया है। पुस्तक की प्रामाणिकता का बहुत बड़ा श्रेय उपरोक्त मुनिवरों को ही है। इन महापुरुषों के उपकार के लिए मैं उनका सदा आभारी रहूँगा।

चिरंजीव जेठमल सेठिया ने पुस्तक को बड़े ध्यान से आद्योपान्त देखा है। समय समय पर अपना गम्भीर परामर्श भी दिया है। उनके परिश्रम और लगन ने पुस्तक को उपयोगी तथा सुन्दर बनाने में बहुत बड़ा सहयोग दिया है।

इसके अतिरिक्त जिन २ सज्जनों ने पुस्तक को उपयोगी बनाने के लिए समय समय पर अपनी शुभ सम्मतियाँ एवं सत्परामर्श दिया है तथा पुस्तक के संकलन और प्रूफ संशोधन में सहायता दी है, उन सबका मैं आभार मानता हूँ।

निवेदक

भैरोंदान सेठिया

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४३	२४	की	+
१४८	१७	कर्मयनि	कर्मयोनि
१५४	१६	बादारायण	बादरायण
१५७	४	सामान	समाम
१५८	१५	करता	करना
१५६	१५	पोपाक	पोपक
१६१	४	हास	ह्रास
१६१	१८	हास	ह्रास
१६१	२१	लामी	लागी
१६४	३	मेमीनाथ	नमिनाथ
१६४	१६	नहीं	+
१६४	२४	यावाद्दी	यावाब्दी
१६६	२५	श्वास	विश्वास
१६८	१८	जागा	जायगा
१६१	१७	भागचन्द्रि	भगचन्द्रि
१६१	२५	क	को
२०१	२०	कम्यक्त्व	सम्यक्त्व
२३०	१०	यथाख्पाति	यथाख्यात
२७२	२२	मामीवका	मामीविका
२७६	२	शकेन्द्र	चमरन्द्र
२०७	१	सुरा।नी	सुरसी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७९	६	भावण	भावक
२८६	६	क	को
२६६	१	माछुम	मालूम
३०४	१	विमारियों	बीमारियों
३१०	२	+	है
३१०	११	से	में
३३८	२७	नरकवासों	नरकावासों
३५७	१	+	यह भिन्न
३७०	१	नहीं	क्यों नहीं
३७४	१५	स	एसी
३७६	१८	के	को
३८६	१२	भगवान्!	भगवन !
३६१	३	कुम्भुकी	कम्नुकी
३६५	४	की	को
३६५	२४	ध्याख्यान	प्रत्याख्यान
४०८	१६	आवश्वता	आवश्यकता
४१६	१५	प्रभुसूत	प्रभुसूत
४१६	१	होन	होना
४१५	१	समता	समाता

अगरचन्दजी भैरोदान सेठिया

जैन पारमार्थिक संस्था

सेठिया का मोहल्ला—कसारा ठंठारा का रास्ता बीकानेर
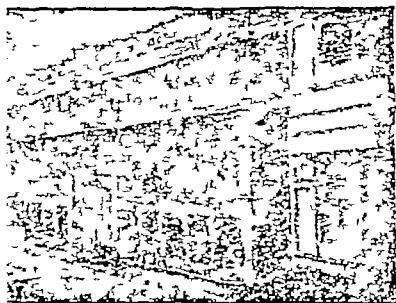
धर्म कार्य स्थान
एवं
व्याख्यान भवन

संस्था का कार्यालय भवन
ग्रन्थालय शास्त्रभंडार भवन
छात्रावास भवन

श्री अगरचन्द भैंरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था बीकानेर का सन् १९४७ का व्यय का विवरण

इस संस्था की स्थापना सन् १९२१ में हुई। इसका डीड आफ ट्रस्ट सन् १९४४ में कलकत्ते में और सन् १९४६ में बीकानेर में रजिस्टर्ड कराया गया।

२५८६।≈)॥ विद्यालय विभाग इसमें धर्म, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि की शिक्षा दी गई है। जिसका अध्यापकों का वेतन खर्च

१४३६।-)॥ ग्रन्थालय (लायब्रेरी) इसमें संस्कृत प्राकृत हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के ग्रन्थों का संग्रह है। इसमें कार्य करने वाले पुस्तकालयाध्यक्ष (लायब्रेरियन) और सहायक लायब्रेरियन का वेतन खर्च तथा नवीन पुस्तकें, मंगाई जिसका खर्च।

१३३।-)॥ वाचनालय विभाग अखबार तथा पत्रिका खर्च

१८१६॥≈)॥ साहित्य निर्माण विभाग इस विभाग में नवीन साहित्य निर्माण, सूत्रों का अनुवाद, साहित्य संशोधन आदि कार्य होता है इसका वेतन आदि।

१५६१॥)॥ सिद्धान्त शिक्षण विभाग इसमें पंडितों को भेज कर साधु साध्वियों को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी की पढ़ाई कराई गई है। इसके अध्यापकों का खर्च।

१२३≈)॥ महाजनी शिक्षा इसमें बही खाता और आंकड़ा तथा मुनीमी के शिक्षण में खर्च

३४३॥≈)॥ भाविका शिक्षण इसमें भाविकाओं को अध्ययन कराया गया।

११३२॥-)॥ नाइट क्लास इसमें अंग्रेजी का उच्च शिक्षण दिया गया है और हिन्दी संकेत लिपि का अध्ययन कराया गया।

१३०४॥)॥ बाल पाठशाला इसमें विद्यार्थियों को प्रारम्भिक हिन्दी, धर्म, गणित आदि के शिक्षण खर्च।

१३३६।-)। कन्या पाठशाला इसमें बालिकाओं को प्रारम्भिक हिन्दी और धर्म तथा गणित आदि तथा सिना, पीराना आदि का शिक्षण खर्च।

१४८०।) कार्यालय विभाग इसमें मुनीम गुमास्ता एवं कर्मचारियों का वेतन खर्च।

८०६॥।≈) भण्डार (भेट) विभाग इसमें पुस्तकें आदि तथा नगद भेट दिये गये।

७३७॥=) सहायता खाता।

११२४।) बोर्डिङ्ग विभाग इसमें बोर्डिङ्ग में रहने वाले छात्रों का भोजन खर्च और परीक्षा देने गये जिसका सफर खर्च।

७०७।।-)। दीक्षा उपकरण विभाग इसमें ओघा, पूंजणी, पातरा, कम्बल आदि दीक्षोपकरण दीक्षार्थियों का भेट दिये गये।

२०४-) धर्मोपकरण विभाग इसमें पूंजणी, नवकारवाली आदि भावकों को भेट दिये गये।

४००।≈)॥ प्रकाशन विभाग इसमें भेट भेजी गई पुस्तकों का पोस्टेज खर्च तथा चिट्ठी पत्री का खर्च।

१७२॥=)। डाकमहसूल

४३) टाईप सल्यान में खर्च हुए।

८३॥/)॥ जीव रक्षा के लिए दिये।

२७६=)॥। दवा खाता।

२५१) प्रायश्चित्त खाता।

४६६।=)॥ कमठाणा खाता, व्याख्यान भवन और सामग्रेरी भवन आदि मकान के मरम्मत में खर्च हुए।

४४७।) औषधालय विभाग में दवा और डाक्टर खर्चे।

१२८॥।-) रोशनी खर्च।

१४७।) पानी खर्च।

कुल रु० १६४६८॥।=)॥।

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

द्वितीय भाग

मङ्गलाचरण

जयति भुवनैकभानुः, सर्वत्राविहतकेवलालोकः ।
नित्योदितः स्थिरस्तापवर्जितो वर्धमानजिनः ॥ १ ॥
जयति जगन्मयमङ्गलमपहतनिःशेषदुरितघनतिमिरम् ।
रविबिम्बमिव यथास्थितवस्तुविकाशं जिनेशवचः ॥ २ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धं, यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।
दुःखनिमित्तमपीदं, तेन सुलब्धं भवति जन्म ॥ ३ ॥
नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥४॥

भावार्थ—बिना रुकावट सर्वत्र फैलने वाले केवलज्ञानरूपी प्रकाश को धारण करने वाले, सदा उदित रहने वाले, स्थिर तथा विविध ताप से रहित श्री वर्द्धमान भगवान् रूपी अनुपम सूर्य सदा विजयवन्त हैं ॥१॥

जगत का एकमात्र सर्वश्रेष्ठ मङ्गल, समस्त पापों के गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने वाली, सूर्य के समान यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने वाली, जिनेन्द्र भगवान् की वाणी सदा उत्कर्षशालिनी हो कर देदीप्यमान है ॥२॥

जो व्यक्ति शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान और चारित्र को प्राप्त कर लेता है, दुःखों का हेतु भी यह जन्म उस के लिए कल्याणकारी बन जाता है ॥३॥

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। बिना सम्यग्ज्ञान के सम्यक्चारित्र अर्थात् व्रत और पच्चक्खाण नहीं हो सकते। सम्यक्चारित्र के बिना मोक्षप्राप्ति नहीं होती और मोक्ष के बिना निर्विकल्प परमसुख की प्राप्ति असम्भव है ॥४॥

छठा बोल संग्रह

[बोल नम्बर ४२४—४६७ तक]

४२४ द्रव्य छह

"गुणपर्यायवद्द्रव्यम्" अर्थात् गुण और पर्यायों के आधार को द्रव्य कहते हैं। अथवा 'द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यम्' अर्थात् जो उत्तरोत्तर पर्यायों को प्राप्त हो वह द्रव्य है। द्रव्य छह हैं:-

(१) धर्म द्रव्य—जो पुद्गल और जीवों की गति में सहायक हो, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं।

(२) अधर्म द्रव्य—जो जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक हो, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं।

(३) आकाश द्रव्य—जीव और पुद्गलों को स्थान देने वाला द्रव्य आकाश द्रव्य है।

(४) काल द्रव्य—जो जीव और पुद्गलों में अपरापर पर्याय की प्राप्ति रूप परिणमन करता रहता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं।

(५) जीव द्रव्य—जिस में ज्ञान दर्शन रूप उपयोग हो उसे जीव द्रव्य कहते हैं।

(६) पुद्गल द्रव्य—जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त हो उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं।

ये छह द्रव्य शाश्वत अर्थात् अनादि अनन्त हैं; इनमें से पाँच अजीव हैं, एक जीव। जीव द्रव्य का लक्षण चेतना है, वह उपादेय है, बाकी के पाँचों अजीव द्रव्य हेय (छोड़ने योग्य) हैं।

द्रव्यों के गुण

धर्मास्तिकाय के चार गुण हैं--१ अरूपिता, २ अचेतनता, ३ अक्रियता, ४ गति-सहायता अर्थात् जीव और पुद्गल को चलन में सहायता देना। अधर्मास्तिकाय के चार गुण---१ अरूपिता, २ अचेतनता, ३ अक्रियता, ४ स्थिति सहायता अर्थात् जीव और पुद्गलों को स्थिति में सहायता पहुँचाना। आकाशास्तिकाय के चार गुण---१ अरूपिता, २ अचेतनता ३ अक्रियता, ४ अवगाहनादान (सब द्रव्यों को जगह देना)। काल द्रव्य के चार गुण---१ अरूपिता, २ अचेतनता, ३ अक्रियता, ४ वर्तना (नये को पुराना करना)। पुद्गलास्तिकाय के चार गुण---१ रूपिता, २ अचेतनता, ३ सक्रियता, ४ मिलन विखरण अर्थात् मिलना और अलग होना या पूरण गलन, पूर्ति करना और गल जाना। जीव के चार गुण---१ अनन्त ज्ञान, २ अनन्त दर्शन, ३ अनन्त चारित्र, ४ अनन्त वीर्य।

द्रव्यों के पर्याय

धर्मास्तिकाय के चार पर्याय हैं---१ स्कन्ध, २ देश, ३ प्रदेश, ४ अगुरुलघु। इसी तरह

अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय के भी ये ही चारों पर्याय हैं। काल द्रव्य के चार पर्याय—१ अतीत (भूत), २ अनागत (भविष्यत्), ३ वर्तमान, ४ अगुरुलघु। पुद्गल द्रव्य के पांच पर्याय हैं—१ वर्ण, २ गन्ध ३ रस, ४ स्पर्श और ५ अगुरुलघु। जीव द्रव्य के चार पर्याय—१ अव्याबाध, २ अनवगाह, ३ अमूर्तिकता, ४ अगुरुलघु।

समानता और भिन्नता

इन छहों द्रव्यों के गुण और पर्यायों में परस्पर साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्य (भिन्नता इस प्रकार है। अगुरुलघु पर्याय सब द्रव्यों में समान है। अरूपिता गुण पुद्गल को छोड़ बाकी पांचों द्रव्यों में समान है। अचेतनता गुण जीव को छोड़ बाकी सब द्रव्यों में तुल्य है। सक्रियता गुण जीव और पुद्गल में ही है, बाकी के चारों में नहीं। गति सहायता गुण केवल धर्मास्तिकाय में है, बाकी पांच द्रव्यों में नहीं। स्थिति सहायता गुण केवल अधर्मास्तिकाय में है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं। अवगाहनादान अर्थात् जगह देने का गुण केवल आकाशास्तिकाय में है, शेष द्रव्यों में नहीं। वर्तना गुण केवल काल द्रव्य में है, बाकी में नहीं। मिलन बिखरण गुण केवल पुद्गल द्रव्य में है, औरों में नहीं। ज्ञानादि चारों गुण केवल जीव द्रव्य में है और किसी द्रव्य में नहीं। इस तरह यह स्पष्ट

है कि किसी द्रव्य का मूल गुण अन्य द्रव्य में नहीं है। मूल गुण की भिन्नता के कारण ही ये द्रव्य भिन्न भिन्न कहलाते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों द्रव्यों में तीन गुण और चार पर्याय एक समान हैं। इस प्रकार इन द्रव्यों का आपस में साधर्म्य और वैधर्म्य है।

छह द्रव्यों के साधर्म्य, वैधर्म्य जानने के लिए नीचे की गाथा उपयुक्त है—

परिणामि जीव मुत्ता, सपएसा एगखित्त किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता, सव्वगय इयर अपवेसे॥

अर्थ—निश्चय नय की अपेक्षा छहों द्रव्य परिणामी अर्थात् बदलने वाले हैं। व्यवहार नय से जीव और पुद्गल ही परिणामी हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल अपरिणामी हैं। छह द्रव्यों में एक जीव है पांच अजीव हैं। एक पुद्गल मूर्त अर्थात् रूपी है बाकी पाँचों अरूपी हैं। एक काल द्रव्य अप्रदेशी है। बाकी के सब सप्रदेशी (प्रदेश वाले) हैं। धर्म, अधर्म असंख्यात प्रदेश वाले हैं। आकाश और पुद्गल अनन्त प्रदेशी हैं। एक जीव की अपेक्षा जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है और सब जीवों की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं, बाकी तीन अनेक हैं। आकाश क्षेत्र रूप है, बाकी के पांच क्षेत्राश्रित हैं।

निश्चय नय से सभी द्रव्य सक्रिय हैं। व्यवहार नय की अपेक्षा जीव और पुद्गल ही सक्रिय हैं, बाकी

अक्रिय हैं। निश्चय नय से सभी द्रव्य नित्य और अनित्य हैं। व्यवहार नय से जीव और पुद्गल अनित्य और बाकी के चार नित्य हैं। दूसरे सभी द्रव्य जीव के काम में आते हैं किन्तु जीव किसी दूसरे द्रव्य के काम नहीं आता। इसलिए पाँच द्रव्य कारण हैं और जीव अकारण। निश्चय नय से सभी द्रव्य कर्त्ता हैं। व्यवहार नय से जीव द्रव्य ही कर्त्ता है बाकी पाँच अकर्त्ता हैं। आकाश सर्व (लोकालोक) व्यापी है बाकी पाँच द्रव्य सिर्फ लोक व्यापी हैं। छहों द्रव्य एक क्षेत्र में अवस्थित होने पर भी परस्पर मिश्रित नहीं होते।

आठ पक्ष

प्रत्येक द्रव्य में आठ पक्ष बतलाये जाते हैं। १ नित्य २ अनित्य ३ एक ४ अनेक ५ सत् ६ असत् ७ वक्तव्य और ८ अवक्तव्य।

नित्य अनित्य—धर्मास्तिकाय के चारों गुण और एक लोक परिमाण स्कन्ध रूप पर्याय नित्य हैं। देश प्रदेश और अगुरुलघु ये तीन पर्याय अनित्य हैं। इसी तरह अधर्मास्तिकाय के चारों गुण और एक पर्याय नित्य हैं। आकाशास्तिकाय के भी चारों गुण और लोकालोक परिमाण स्कन्ध रूप पर्याय नित्य हैं। काल द्रव्य के चारों गुण नित्य हैं। चारों पर्याय अनित्य हैं। जीव द्रव्य के चारों गुण और तीन पर्याय नित्य हैं। अगुरुलघु पर्याय अनित्य हैं।

एक अनेक—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का लोक

परिमाण स्कन्ध एक है। गुण, पर्याय और प्रदेश अनेक हैं। गुण अनन्त हैं। पर्याय भी अनन्त हैं। प्रदेश असंख्यात हैं। आकाश द्रव्य में भी लोक अलोक परिमाण स्कन्ध एक है। गुण पर्याय और प्रदेश अनेक हैं तीनों अनन्त हैं। काल द्रव्य में वर्तना रूप गुण एक है। दूसरे गुण, पर्याय और समय अनेक तथा अनन्त हैं। क्योंकि भूतकाल के अनन्त समय हो गये, भविष्यत् के भी अनन्त समय होंगे। वर्तमान का समय एक ही रहता है। पुद्गल द्रव्य के परमाणु अनन्त हैं। एक एक परमाणु में अनन्त गुण और पर्याय हैं। किन्तु सर्व परमाणु में पुद्गलपना एक ही है। जीव अनन्त हैं। एक जीव में असंख्यात प्रदेश हैं और अनन्त गुण तथा पर्याय हैं। सर्व जीवों में जीवपना अर्थात् चेतना लक्षण एक समान है।

सब जीवों में समानता

शंका—सर्व जीव समान हैं, यह कहना युक्ति संगत नहीं है क्योंकि व्यवस्था भिन्न भिन्न मालूम पड़ती है। जैसे एक जीव तो सिद्ध, परमात्मा, आनन्दमय है दूसरा संसारी कर्म के वश चारों गति में भ्रमण करता दिखाई देता है। फिर सब जीव समान कैसे कहे जा सकते हैं?

समाधान—निश्चय नय की अपेक्षा सर्व जीव सिद्ध के समान हैं। क्योंकि सब जीव कर्मों का क्षय करके सिद्ध हो सकते हैं। इस अपेक्षा से सब जीव सामान्य

रूप से समान है।

अभव्य और मोक्ष

शंका—सर्व जीव सिद्ध के समान हैं तो अभव्य मोक्ष क्यों नहीं जा सकता?

समाधान—अभव्य के कर्म चिकने हैं। इस कारण उनके कर्मों का मूल से नाश नहीं होने पाता। यह उनका स्वभाव है। स्वभाव बदल नहीं सकता। सब जीवों के आठ रुचक प्रदेश सुरूप होते हैं। इन आठ प्रदेशों में कभी कर्मों का संयोग नहीं होता। ये आठ प्रदेश चाहे भव्य के हों चाहे अभव्य के, सब के अत्यन्त निर्मल रहते हैं। इसलिए निश्चय नय के मत से सर्व जीव सिद्ध के समान हैं। इसी तरह पुद्गल में भी पुद्गलस्वरूप सामान्य धर्म सब पुद्गलों में समान होने से पुद्गल द्रव्य एक है।

सद् असद्

पूर्वोक्त छहों द्रव्य स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से सत् अर्थात विद्यमान हैं। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा असत्-अविद्यमान हैं। इन छहों के स्वद्रव्यादि का स्वरूप इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय का स्वद्रव्य अपने गुण और पर्यायों का आश्रय होना है अर्थात् धर्मास्तिकाय के गुण और पर्याय जिसमें रहते हों, वह धर्मास्तिकाय का स्वद्रव्य है। इसी तरह अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल का स्वद्रव्य भी समझ लेना चाहिए। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का स्वक्षेत्र अपने अपने असंख्यात प्रदेश हैं, आकाश का स्वक्षेत्र अनन्त प्रदेश हैं।

कालद्रव्य का स्वक्षेत्र समय है। पुद्गल का स्वक्षेत्र पर माणु है। जीव द्रव्य का स्वक्षेत्र एक जीव की अपेक्षा असंख्यात प्रदेश हैं। छहों द्रव्यों का स्वकाल अगुरुलघु पर्याय है, क्योंकि अगुरुलघु को ही काल कहते हैं इस अगुरुलघु में ही उत्पाद और व्यय होता है। छहों द्रव्यों में अपना अपना मुख्य गुण ही स्वभाव है। जैसे धर्मास्तिकाय का मुख्य गुण गति सहायता है, यही उसका स्वभाव कहा जाता है। इसी तरह अन्य द्रव्यों के पूर्वोक्त मुख्य मुख्य गुणों में जिसस जो द्रव्य जाना जाता है, वह उस द्रव्य का स्वभाव कहते हैं। इस प्रकार छहों द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् हैं और पर द्रव्य आदि की अपेक्षा असत् हैं।

वक्तव्य अवक्तव्य

वचन से जो कहा जा सके उसे वक्तव्य और जो न कहा जा सके उसे अवक्तव्य कहते हैं। छहों द्रव्यों में अनन्त गुण और अनन्त पर्याय वक्तव्य हैं। अनन्तगुण तथा पर्याय अवक्तव्य हैं। केवली भगवान् सर्व द्रव्य और पर्यायों को देखते हैं। परन्तु उनका अनन्तवां भाग ही कह सकते हैं। उनके ज्ञान का अनन्तवां भाग श्रीगणधर महाराज आगम रूप से गूंथते हैं। उन आगमों का भी असंख्यातवां भाग इस समय विद्यमान है। इस प्रकार वक्तव्य और अवक्तव्य विषय का स्वरूप दिखलाया गया। इसको स्पष्ट करने के लिए लौकिक दृष्टान्त दिखाया जाता है। जैसे किसी जगह अच्छे २ गानेवाले पुरुष गान कर रहे हों, उस गाने में कोई उसका समझने वाला भी बैठा हो,

उस समझने वाले से यदि कोई पूछे कि इस गाने का रस जैसा आपने समझा, वैसा मुझे भी कृपया समझा दीजिये। इसके उत्तर में वह समझदार पुरुष अपने वचन से राग रागिणी, स्वर, ताल, ग्राम आदि तो उस पुरुष को किसी तरह वचन द्वारा समझा सकता है। लेकिन उस आकर्षक गान का रस वचन से यथावत् नहीं समझा सकता, उसे अवक्तव्य कहते हैं। इसी तरह सामान्य रूप से ये आठ पक्ष कहे गये हैं। अब इन्हीं आठ पक्षों को विशेष रूप से समझाने के लिए विस्तार पूर्वक वर्णन किया जाता है।

नित्य अनित्य पक्ष की चौभङ्गी

नित्य और अनित्य पक्ष पहले कहा जा चुका है, उसमें इस प्रकार चार भङ्ग होते हैं। जिसकी आदि और अन्त दोनों न हों, वह अनादि अनन्त रूप प्रथम भङ्ग है। जिस चीज की आदि नहीं है किन्तु अन्त है वह अनादि सान्त रूप द्वितीय भङ्ग है। जिसकी आदि और अन्त दोनों हैं, वह सादि सान्त नामक तृतीय प्रकार है। जिसकी आदि है किन्तु अन्त नहीं है, वह सादि अनन्त रूप चतुर्थ भङ्ग है।

जीव द्रव्य में चौभङ्गी

उपरोक्त चारों भङ्गों को छह द्रव्यों में इस रीति से समझना चाहिए। जीव में ज्ञान आदि गुण अनादि अनन्त हैं अर्थात् नित्य हैं। मोक्ष जाने वाले भव्य जीव के कर्म का संयोग अनादि सान्त है। क्योंकि कर्म अनादि से लगे हुए हैं, परन्तु भव्य जीव के मोक्ष पक्ष जाने पर उन कर्मों का सम्बन्ध बिलकुल नष्ट हो जाता है। जीव जन्मान्तर करता हुआ कभी देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व और तिर्यञ्च

पन को प्राप्त करता है। ये देवत्वादि पर्याय सादि सान्त हैं, उत्पन्न भी होते हैं और इनका अन्त भी होता है। इससे ये तृतीय भङ्ग के अन्तर्गत है। भव्य जीव कर्मक्षय करके जब मुक्ति को प्राप्त करता है, तब उसका मुक्तत्व पर्याय उत्पन्न होने से सादि और उसका कभी अन्त न होने से अनन्त अर्थात् सादि अनन्त है।

धर्मास्तिकाय में चौभङ्गी

धर्मास्तिकाय में चार गुण और लोकपरिमाण स्कन्ध ये पाँचों अनादि अनन्त हैं। अनादि सान्त भङ्ग इसमें नहीं है। देश प्रदेश और अगुरुलघु सादि सान्त हैं। सिद्ध जीवों से जो धर्मास्तिकाय के प्रदेश लगे हुए हैं, वे सादि अनन्त हैं। इसी तरह अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में भी समझ लेना चाहिये।

पुद्गलास्तिकाय में चौभङ्गी

पुद्गल में चार गुण अनादि अनन्त हैं। पुद्गल के सब स्कन्ध सादि सान्त हैं। बाकी दो भङ्ग पुद्गल में नहीं हैं

काल द्रव्य में चौभङ्गी

काल द्रव्य में चार गुण अनादि अनन्त हैं। भूत काल पर्याय अनादि सान्त है। वर्तमान पर्याय सादि सान्त है और भविष्यत् काल सादि अनन्त है।

जीव में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से चौभङ्गी

अब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में चौभङ्गी बतलाई जाती है। जीव द्रव्य में स्वद्रव्य से ज्ञानादि गुण अनादि अनन्त हैं। जीव जितने आकाश प्रदेशों में रहता है वही जीव का

क्षेत्र है। यह सादि सान्त है। जीव का काल अगुरुलघु पर्याय से अनादि अनन्त है। परन्तु अगुरुलघु की उत्पत्ति और नाश सादि सान्त हैं। जीव का स्वभाव गुण पर्याय अनादि अनन्त हैं।

धर्मास्तिकाय में स्वद्रव्यादि से चौभङ्गी

धर्मास्तिकाय का स्वद्रव्य अनादि अनन्त है। स्वक्षेत्र असंख्यात प्रदेश लोक परिमाण सादि सान्त है। स्वकाल अगुरुलघु से अनादि अनन्त है। किन्तु उत्पाद व्यय की अपेक्षा से सादि सान्त है। स्वभाव गुण चलन सहाय अनादि अनन्त है। परन्तु देश प्रदेश की अपेक्षा सादि सान्त है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय में भी समझ लेना चाहिए।

आकाशास्तिकाय में स्वद्रव्यादि की चौभङ्गी

आकाशास्तिकाय में स्वद्रव्य अनादि अनन्त है। स्वक्षेत्र लोकालोक परिमाण से अनन्त प्रदेश अनादि अनन्त है। स्वकाल अगुरुलघु गुण अनादि अनन्त है परन्तु उत्पाद व्यय की अपेक्षा सादि सान्त है। आकाश के दो भेद हैं। लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश का स्कन्ध सादि सान्त है। अलोकाकाश का स्कन्ध सादि अनन्त है। यहां पर कोई ऐसी शंका करे कि अलोकाकाश को सादि कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी आदि कहीं है ही नहीं। इसका समाधान यह है कि जिस जगह लोकाकाश का अन्त है उस जगह से ही अलोकाकाश शुरू होता है। इसस उसकी आदि है। इसीसे सादि अनन्त कहा गया है।

काल में स्वद्रव्यादि की चौभङ्गी

काल का स्वद्रव्य वर्तनादि गुण अनादि अनन्त है। समय सादि सान्त है। अगुरुलघु रूप स्वकाल अनादि अनन्त है, परन्तु उत्पादादि की अपेक्षा सादि सान्त है। स्वभाव गुण वर्तनादि रूप अनादि अनन्त है, परन्तु अतीत काल अनादि सान्त, वर्तमान काल सादि सान्त और भविष्यत् काल सादि अनन्त हैं।

पुद्गल में स्वद्रव्यादि की चौभङ्गी

पुद्गल में स्वद्रव्य पूरणगलन गुण अनादि अनन्त है। स्वक्षेत्र परमाणु सादि सान्त है। स्वकाल अगुरुलघु की अपेक्षा अनादि अनन्त और उसके उत्पादादि की अपेक्षा सादि सान्त है। स्वभाव गुण मिलन विखरनादि अनादि अनन्त है। वर्णादि चार पर्याय सादि सान्त हैं।

द्रव्यों में परस्पर सम्बन्ध

छहों द्रव्यों में परस्पर सम्बन्ध को लेकर चार भङ्ग होते हैं। आकाशद्रव्य के दो भेद हैं। लोकाकाश और अलोकाकाश अलोकाकाश में किसी द्रव्य का सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि उसमें कोई द्रव्य ही नहीं है, जिसके साथ उसका सम्बन्ध हो सके। लोकाकाश में सब द्रव्य हैं। इससे उसके साथ अन्य द्रव्य का सम्बन्ध है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का लोकाकाश से अनादि अनन्त सम्बन्ध है। क्योंकि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश के साथ इन दोनों द्रव्यों के प्रदेश ऐसे मिले हुए हैं जो कभी अलग नहीं होते। यही कारण है कि इनका परस्पर सम्बन्ध अनादि अनन्त है। ऐसे ही जीव द्रव्य का भी लोकाकाश के साथ अनादि

अनन्त सम्बन्ध है, परन्तु जो संसारी जीव कर्म सहित हैं उनके साथ लोकाकाश का सादि सान्त सम्बन्ध है। सिद्ध जीव और सिद्धक्षेत्र के लोकाकाश प्रदेश का सम्बन्ध सादि अनन्त है। पुद्गलद्रव्य का आकाश से अनादि अनन्त सम्बन्ध है, परन्तु आकाश प्रदेश और पुद्गल परमाणुओं का परस्पर सम्बन्ध सादि सान्त है। लोकाकाश की तरह धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का भी अन्य द्रव्यों के साथ पारस्परिक सम्बन्ध जान लेना चाहिये। जीव और पुद्गल के सम्बन्ध में अभव्य जीव से पुद्गल का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। क्योंकि अभव्य के कर्मरूपी पुद्गल कभी भी छूटने वाले नहीं हैं। भव्य जीव से पुद्गल का सम्बन्ध अनादि सान्त है। क्योंकि भव्य जीव यथासमय क्रिया करके कर्मों को छोड़ने वाला होता है। उसके मोक्ष चले जाने पर कर्मरूप पुद्गल का सम्बन्ध छूट जाता है।

द्रव्यों का परिणाम

निश्चय नय की अपेक्षा छहों द्रव्य स्वभाव परिणाम से परिणत होते हैं। इस लिए स्वपरिणामी हैं। यह परिणामिपना शाश्वत् अर्थात् अनादि अनन्त है, परन्तु जीव और पुद्गल आपस में मिलकर सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। इससे परपरिणामी हैं। यहाँ पर भी अभव्य जीव का परिणामिपना अनादि अनन्त और भव्य जीव का वह अनादि सान्त है। पुद्गल में परिणामिपना सत्ता की अपेक्षा अनादि अनन्त और आपस के संयोगवियोग की अपेक्षा सादि सान्त है। जीव द्रव्य भी जब तक पुद्गल के साथ मिला रहता है तब तक सक्रिय है। अलग होने पर अर्थात्

मोक्ष में भान के बाद अक्रिय है। पुद्गल द्रव्य सदा सक्रिय है। इस प्रकार नित्य अनित्य पक्ष में चौभङ्गी कही गई है।

(आगमसार) (उत्तराध्ययन ३६ अ०)

४२५ सामान्य गुण छह

सामान्य रूप से सभी द्रव्यों में रहने वाले गुण सामान्य गुण कहलाते हैं। सामान्य गुण छह हैं–

(१) अस्तित्व–द्रव्य का सदा सत् अर्थात् विद्यमान रहना अस्तित्व गुण है। इस गुण के होने से द्रव्य में सद्रूपता का व्यवहार होता है।

(२) वस्तुत्व–द्रव्य का सामान्य विशेषात्मक स्वरूप वस्तुत्व गुण है। जैसे सुवर्ण घट में घटत्व सामान्य गुण है और सौवर्णत्व विशेष गुण है। इसलिए सुवर्ण घट सामान्यविशेषात्मक है। अवग्रह ज्ञान में सब पदार्थों के सामान्य स्वरूप का आभास होता है और अवाय में विशेष का भी आभास होजाता है।

अथवा, द्रव्य में अर्थक्रिया का होना वस्तुत्व गुण है। जैसे घट में जलधारण रूप अर्थक्रिया।

(३) द्रव्यत्व–गुण और पर्यायों का आधार होना द्रव्यत्व–गुण है।

(४) प्रमेयत्व–प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय होना प्रमेयत्व गुण है।

(५) अगुरुलघुत्व–द्रव्य का गुरु अर्थात् भारी या लघु अर्थात् हल्का न होना अगुरुलघुत्व गुण है। अगुरुलघुत्व गुण सूक्ष्म है, इसलिए केवल अनुभव का विषय है।

(६) प्रदेशवत्व–वस्तु के निरंश अंश को प्रदेश कहते

हैं। द्रव्यों का प्रदेश सहित होना प्रदेशवत्त्व गुण है। प्रदेशवत्त्व गुण के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है।

(स्याद्वादमंजरी श्लोक ११ श्लोक २४)

'आगमसार' में इनका विस्तार इस प्रकार दिया गया है — सब द्रव्यों में छः सामान्य गुण हैं—१ अस्तित्व ,२ वस्तुत्व, ३ द्रव्यत्व, ४ प्रमेयत्व, ५ सत्त्व और ६ अगुरुलघुत्व। इनका स्वरूप संक्षेप से इस प्रकार है—

(१) अस्तित्व—छहों द्रव्य अपने गुण, पर्याय और प्रदेश की अपेक्षा सत्—विद्यमान हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और जीव इन चार द्रव्यों के असंख्यात प्रदेश इकट्ठे होकर स्कन्ध बनते हैं। पुद्गल में भी स्कन्ध बनने की शक्ति है। इससे ये पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं। काल अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि काल के समय एक दूसरे से नहीं मिलते। एक समय का नाश होने पर ही दूसरा समय आता है। तात्पर्य्य यह है कि जिस द्रव्य के प्रदेश समूहरूप हों, वही अस्तिकाय है। अस्तिकाय शब्द का अर्थ है प्रदेश समूह। काल के समयों का समूह नहीं हो सकता, क्योंकि वे इकट्ठे नहीं होते। इसलिए काल अस्तिकाय नहीं है।

(२) वस्तुत्व—वस्तुत्व का अर्थ है भिन्न २ वस्तु होना। सब द्रव्य एक ही क्षेत्र में इकट्ठे रहने पर भी एक दूसरे से अपने अपने गुणों द्वारा भिन्न हैं। एक आकाश प्रदेश में धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, जीवों के अनन्त प्रदेश और पुद्गलों के अनन्त परमाणु रहे हुए हैं, परन्तु अपने अपने स्वभाव में रहते हुए एक दूसरे की सत्ता में नहीं मिलते। इसी से इनकी स्वतन्त्र वस्तुता (वस्तुपना) है।

(२) द्रव्यत्व—सब द्रव्य भिन्न २ क्रिया करते हैं। भिन्न २ क्रिया का करना ही द्रव्यत्व है। जैसे धर्मास्तिकाय की अर्थक्रिया है चलने में सहायता करना। यह गुण उसके प्रत्येक प्रदेश में है।

द्रव्यों की अर्थक्रिया

शंका—लोकान्त (सिद्धिक्षेत्र) में जो धर्मास्तिकाय है वह सिद्ध जीवों के चलने में सहायता नहीं पहुँचाता, फिर प्रत्येक प्रदेश में गतिसहायता गुण कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—सिद्ध जीव अक्रिय हैं। धर्मास्तिकाय का स्वभाव है कि जो चलता हो उसको गति में सहायता करना। जो स्वयं गति नहीं करता उसको जबर्दस्ती चलाना इसका स्वभाव नहीं है। सिद्ध क्षेत्र में भी जो निगोद के जीव और पुद्गल हैं उन की गति क्रिया में वहाँ रहे हुए धर्मास्तिकाय के प्रदेश अवश्य सहायता करते हैं, इसलिए सिद्ध क्षेत्र में जहाँ धर्मास्तिकाय है वहाँ उसकी क्रिया भी सिद्ध है। इसी तरह अधर्मास्तिकाय स्थिति क्रिया में सहायता पहुँचाता है। आकाश द्रव्य सब द्रव्यों को अवगाहना देने की क्रिया करता है।

शंका—अलोकाकाश में अन्य कोई भी द्रव्य नहीं है, फिर उसमें अवकाश देने की क्रिया कैसे घट सकेगी ?

समाधान—अलोकाकाश में भी लोकाकाश के समान ही अवकाश देने की शक्ति है। वहाँ कोई अवकाश लेने वाला द्रव्य नहीं है, इसीसे वह क्रिया नहीं करता। पुद्गल द्रव्य मिलना और बिखरना(अलग होना)रूप क्रिया करता है। काल द्रव्य वर्तना रूप क्रिया करता है अर्थात् दूसरे द्रव्यों की उत्तरोत्तर पर्याय

का ग्रहण करवाता है। जीव द्रव्य में उपयोग रूप क्रिया है। इस तरह ये छहों द्रव्य अपने २ स्वभावानुसार क्रिया करते हैं।
(४) प्रमेयत्व—प्रमाण का विषय होना प्रमेयत्व है। सभी पदार्थ केवल ज्ञान रूप प्रमाण के विषय हैं, इसलिए प्रमेय हैं।

द्रव्यों की संख्या

पूर्वोक्त छहों द्रव्यों को केवली भगवान् ने अपने ज्ञान से देख कर उनकी संख्या इस प्रकार बतलाई है:—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक एक हैं। जीव द्रव्य अनन्त है, उनके भेद इस प्रकार हैं:—संज्ञी मनुष्य संख्यात और असंज्ञी मनुष्य असंख्यात। नरक के जीव असंख्यात, देवता असंख्यात, तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय असंख्यात, बेइन्द्रिय जीव असंख्यात, तेइन्द्रिय असंख्यात, चउरिन्द्रिय असंख्यात, पृथ्वीकाय असंख्यात, अप्काय असंख्यात, तेउकाय असंख्यात, वायुकाय असंख्यात और प्रत्येक वनस्पतिकाय भी असंख्यात हैं। इनसे सिद्ध जीव अनन्तगुणे हैं।

निगोद

अनन्त जीवों के पिण्ड भूत एक शरीर को निगोद कहते हैं। सिद्धों से बादर निगोद के जीव अनन्त गुणे हैं। कन्द, मूल, अदरक, गाजर आदि बादर निगोद हैं। सुई के अग्र भाग में बादर निगोद के अनन्त जीव रहते हैं। सूक्ष्मनिगोद के जीव उनसे भी अनन्त गुणे हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने सूक्ष्म निगोद के गोले हैं। एक एक गोले में असंख्यात निगोद हैं। एक एक निगोद में अनन्त जीव हैं। भूत, भविष्यत्

और वर्तमान तीनों काल के समय इकट्ठे करने पर जो संख्या हो, उससे अनन्त गुणे जीव एक एक निगोद में हैं।

प्रत्येक संसारी जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। एक एक प्रदेश में अनन्त कर्म वर्गणाएं लगी हुई हैं। एक एक वर्गणा में अनन्त पुद्गल परमाणु हैं। इस तरह अनन्त परमाणु जीव के साथ लगे हुए हैं। उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल परमाणु जीव से अलग हैं।

"गोला य असंखिज्जा, असंखनिगोयओ हवइ गोलो।
इक्किक्कम्मि निगोए, अणन्तजीवा मुणेयव्वा ॥"

अर्थात्–लोक में असंख्यात गोले हैं। एक एक गोले में असंख्यात निगोद हैं और प्रत्येक निगोद में अनन्त जीव हैं।

"सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणम्मि हुंति खुड्डभवा
सगतीस सय तिहुत्तर, पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥"

तात्पर्य्य—पूर्वोक्त निगोद के जीव मनुष्य के एक श्वास में कुछ अधिक सतरह जन्म मरण करते हैं। एक मुहूर्त में मनुष्य के ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं।

"पणसट्ठि सहस्स पण सय, छत्तीसा इग मुहुत्त खुड्डभवा
आवलियाणं दो सय, छप्पन्ना एग खुड्डभवे ॥"

अर्थात्–निगोद के जीव एक मुहूर्त में ६५५३६ भव करते हैं। निगोद का एक भव २५६ आवलियों का होता है। यह परिमाण छोटे से छोटे भव का कहा गया है। निगोद वाले जीव से कम आयुष्य और किसी जीव का नहीं होता।

"अत्थि अणन्ता जीवा, जेहिं न पत्तो तसाइपरिणामो
उववज्जंति चयंति य, पुणोवि तत्थेव तत्थेव ॥"

अर्थ—निगोद में ऐसे अनन्त जीव हैं, जिन्होंने कभी त्रस

आदि पर्याय को प्राप्त नहीं किया है, व हमेशा मरकर वहीं उत्पन्न होते रहते हैं।

निगोद के दो भेद हैं—(१) व्यवहार राशि (२) अव्यवहार राशि। जो जीव एक बार बादर एकेन्द्रिय या त्रसपने को प्राप्त करके फिर निगोद में चला जाता है, वह व्यवहार राशि कहलाता है। जिस जीव ने निगोद से बाहर निकल कर कभी बादर एकेन्द्रिय पना या त्रसपना प्राप्त नहीं किया, अनादि काल से निगोद में ही जन्म मरण कर रहा है वह अव्यवहार राशि है। अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आया हुआ जीव फिर सूक्ष्म निगोद में जा सकता है किन्तु वह व्यवहार राशि ही कहा जायगा। (सेन प्रश्न उल्लास ४)। एक समय में जितने जीव मोक्ष में जाते हैं ठीक उतने ही जीव उसी समय अव्यवहार राशि से निकल कर व्यवहार राशि में आ जाते हैं। ~~कभी-कभी एक भव्य जीव कम निकलते हैं जो एक-दो अभव्य जीव भी वहां से निकल आते~~ हैं। इसलिए व्यवहार राशि के जीव कभी कम ज्यादा नहीं होते। पूर्वोक्त निगोदों के जो गोल लोकाकाश के भीतर हैं, उनके जीव छहों दिशाओं से आए हुए पुद्गलों को आहारादि के लिए ग्रहण करते हैं। इसलिए वे सकल गोले कहलाते हैं। जो गोले लोकाकाश के अन्तिम प्रदेशों में हैं वे तीन दिशाओं से आहार ग्रहण कर सकते हैं, इसलिए वे विकल गोले कहे जाते हैं। साधारण वनस्पति काय स्थावर को ही सूक्ष्म निगोद कहते हैं, दूसरे चार स्थावरों को नहीं। सूक्ष्म जीव सारे लोक में भरे हुए हैं।

सूक्ष्म निगोद में अनन्त दुःख हैं। जिनकी कल्पना कराने के लिये कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। तेतीस सागरोपम के जितने

समय हैं, उतनी बार यदि कोई जीव सातवीं नरक में तेतीस सागरोपम की आयुष्य वाला होकर छेदन भेदनादि असह्य दुःख सहे तो उसको होने वाले दुःखों से अनन्तगुणा दुःख निगोद के जीव को एक ही समय में होता है, अथवा मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम हैं, प्रत्येक रोम में यदि कोई देवता खोरे की खूब गरम की हुई सुई घुसेड़ दे, उस समय उस मनुष्य को जितना दुःख होता है, उससे अनन्तगुणा दुःख निगोद में है। निगोद का कारण अज्ञान है। भव्य पुरुषों को चाहिये कि वे ऐसे दुःखों का नाश करने के लिय ज्ञान का आदर करें और अज्ञान को त्याग दें। (लाक प्रकाश सर्ग ४ श्लोक ३१—४०) (स्याद्वादमंजरी कारिका १६)

(५) सत्त्व—उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय और ध्रुवपना (स्थिरता) सत्त्व का लक्षण है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"। ये छहों द्रव्य प्रत्येक समय उत्पन्न होते हैं, विनाश को प्राप्त होते हैं और किसी रूप से स्थिर भी हैं, इसलिए सत् हैं। जैसे धर्मास्तिकाय के किसी एक प्रदेश में अगुरुलघु पर्याय असंख्यात हैं, दूसरे प्रदेश में अनन्त हैं, तीसरे में संख्यात हैं। इस तरह सब प्रदेशों में उसका अगुरुलघु पर्याय घटता या बढ़ता रहता है। यह अगुरुलघु पर्याय सत्त्व है। जिस प्रदेश में वह एक समय असंख्यात है उसी प्रदेश में दूसरे समय अनन्त हो जाता है। जहाँ अनन्त है वहाँ असंख्यात हो जाता है। इस प्रकार धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेशों में अगुरुलघु पर्याय घटता बढ़ता रहता है। जिस प्रदेश में वह असंख्यात से अनन्त होता है, उस प्रदेश में असंख्यातपना नष्ट हुआ, अनन्तपना उत्पन्न हुआ और दोनों अवस्थाओं में अगुरुलघुपना ध्रुव अर्थात्

स्थिर रहा। इस तरह उत्पाद, व्यय और ध्रुवता ये तीनों सिद्ध हैं। इसी रीति से अधर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेशों में, आकाश के अनन्त प्रदेशों में, जीव के असंख्यात प्रदेशों में और पुद्गलों में भी ये तीनों परिणाम हर समय होते हैं। काल में भी ये तीनों परिणाम बराबर हैं। क्योंकि वर्तमान समय नष्ट होकर जब अतीत रूप होता है उस समय उसमें वर्तमान की अपेक्षा नाश, भूत की अपेक्षा उत्पत्ति और काल सामान्य रूप से ध्रौव्य अर्थात् स्थिरता रहती है।

इस प्रकार स्थूल रूप से उत्पाद, व्यय और ध्रुवता बताए गए। ज्ञान आदि सूक्ष्म वस्तुओं में भी ये तीनों परिणाम पाए जाते हैं। क्योंकि ज्ञेय (ज्ञान का विषय) के बदलने से ज्ञान भी बदल जाता है। पूर्व पर्याय की भासना (ज्ञान) का व्यय, उत्तर पर्याय की भासना की उत्पत्ति और दोनों अवस्थाओं में ज्ञानपने की स्थिरता होती है। इसी प्रकार सिद्ध भगवान् में गुणों की प्रवृत्ति रूप नवीन पर्याय का उत्पाद, पूर्व पर्याय का नाश और सामान्यरूप से गुणों की ध्रुवता विद्यमान है। इस तरह सभी द्रव्यों में सत्त्व है। यदि अगुरुलघु का भेद न हो तो प्रदेशों में भी परस्पर भेद न हो। अगुरुलघु का भेद सभी द्रव्यों में है। जिस द्रव्य का उत्पाद, व्यय रूप सत्त्व एक है, वह द्रव्य भी एक है और जिसका उत्पाद व्यय रूप सत्त्व भिन्न है, वह द्रव्य भी भिन्न है। जैसे कोई जीव मनुष्यत्व को खपा कर देव रूप में उत्पन्न होता है। यहाँ मनुष्यत्व का नाश और देवत्व की उत्पत्ति दोनों एक ही जीव में होते हैं। इसलिए इन दोनों का आश्रय जीव द्रव्य एक है। जहाँ उत्पन्न कोई दूसरा जीव हुआ और नाश

किसी दूसरे जीव का, यहाँ पर्यायों का आधार भिन्न होने से द्रव्य भी भिन्न है। इस तरह सत्त्व का कथन किया गया।

(६)अगुरुलघु—जिस द्रव्य में अगुरुलघु पर्याय है,उसमें हानि और वृद्धि होती है।वृद्धि का अर्थ है उत्पत्ति और हानि का अर्थ है नाश। वृद्धि छः प्रकार की है(१)अनन्त भाग वृद्धि,(२)असंख्यात भाग वृद्धि, (३) संख्यात भाग वृद्धि,(४)संख्यात गुण वृद्धि,(५) असंख्यात गुण वृद्धि,(६) अनन्त गुण वृद्धि । हानि के भी छः प्रकार हैं—(१)अनन्त भाग हानि, (२)असंख्यात भाग हानि,(३)संख्यात भाग हानि,(४) संख्यात गुण हानि, (५) असंख्यात गुण हानि, (६) अनन्त गुण हानि । वृद्धि और हानि सभी द्रव्यों में हर समय होती रहती है । जो गुरु भी न हो और हल्का भी न हो उसका नाम अगुरुलघु है। यह स्वभाव सभी द्रव्यों में है। श्री भगवती सूत्र में कहा है कि— "सव्वदव्वा, सव्वगुणा,सव्वपएसा,सव्वपज्जवा,सव्वद्धा अगुरुलहुआए"। सभी द्रव्य, सभी गुण,सभी प्रदेश,सभी पर्याय और समस्त काल अगुरुलघु है। इस अगुरुलघु स्वभाव का आवरण नहीं है। आत्मा का अगुरुलघु गुण है, आत्मा के सभी प्रदेशों में क्षायिकभाव होने पर सर्व गुण साधारणतया परिणत होते हैं। अधिक या न्यून रूप से परिणत नहीं होते । इस प्रकार अगुरुलघु गुण का परिणाम जानना चाहिये । अगुरुलघु गुण को गोत्र कर्म रोकता है अर्थात् गोत्र कर्म के नष्ट होने पर आत्मा का अगुरुलघु गुण प्रकट होता है। इस तरह छहों सामान्य गुणों का वर्णन हुआ।

(आगमसार)

४२६—पुद्गल के छः भेद

पूरण, गलन धर्म वाला रूपी द्रव्य को पुद्गल कहते हैं। इसके छः भेद हैं:—

(१) सूक्ष्म सूक्ष्म—परमाणु पुद्गल।

(२) सूक्ष्म—दो प्रदेश से लेकर सूक्ष्मरूप से परिणत अनन्त प्रदेशों का स्कन्ध।

(३) सूक्ष्म बादर—गंध के पुद्गल।

(४) बादर सूक्ष्म—वायुकाय का शरीर।

(५) बादर—ओस वगैरह अप्काय का शरीर।

(६) बादर बादर—अग्नि,वनस्पति,पृथ्वी तथा त्रसकाय के जीवों का शरीर।

सूक्ष्म सूक्ष्म और सूक्ष्म का इन्द्रियों से अनुभव नहीं हो सकता। इन दोनों में सिर्फ परमाणु या प्रदेशों का भेद है। सूक्ष्मसूक्ष्म में एक ही परमाणु होता है और वह एक ही आकाश प्रदेश को घेरता है। सूक्ष्म में परमाणु अधिक होते हैं और आकाश प्रदेश भी अनेक। सूक्ष्मबादर का सिर्फ घ्राणेन्द्रिय से अनु-भव किया जा सकता है और किसी इन्द्रिय से नहीं। बादर सूक्ष्म का स्पर्शनेन्द्रिय से। बादर का चक्षु और स्पर्शनेन्द्रिय से। बादर बादर का सभी इन्द्रियों से।

(दशवैकालिक अध्ययन ४ भाष्य गाथा ६ टीका)

४२७—उपक्रम के छः भेद

जिस प्रकार कई द्वारवाले नगर में प्रवेश करना सरल होता है, उसी प्रकार शास्त्ररूपी नगर के भी कई द्वार होने पर प्रवेश

सरल हो जाता है अर्थात् उस आसानी से समझा जा सकता है। शास्त्ररूपी नगर में प्रवेश करने के द्वारों को अनुयोग द्वार कहते हैं। सूत्र के अनुकूल अर्थ का योग अर्थात् सम्बन्ध अनुयोग है अथवा प्रत्येक अध्ययन का अर्थ करने की विधि को अनुयोग कहते हैं। इसके चार भेद हैं—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय।

(अनुयोगद्वार सूत्र ५९)

(१) इधर उधर बिखरे हुए वस्तु तत्त्व को विभिन्न प्रकार से प्रतिपादन करके समीप में लाना और निक्षेप के योग्य बनाना उपक्रम है। जिस वस्तु का नामोपक्रम आदि भेदों के अनुसार उपक्रम नहीं किया जाता उसका निक्षेप नहीं हो सकता। अथवा जिसके द्वारा गुरु की वाणी निक्षेप के योग्य बनाई जा सके उसे उपक्रम कहते हैं। अथवा शिष्य के सुनने के लिए तैयार होने पर जो वस्तुतत्त्व प्रारम्भ किया जाता है उसे उपक्रम कहते हैं। अथवा शिष्य द्वारा विनयपूर्वक पूछने पर जो बात गुरु की आय वह उपक्रम है। इस के छः भेद हैं:—

(१) आनुपूर्वी—पहले के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा इत्यादि अनुक्रम को आनुपूर्वी कहते हैं।

(२) नाम—जीव में रहे हुए ज्ञानादि गुण और पुद्गल में रहे हुए रूपादि गुण के अनुसार जो प्रत्येक वस्तु का भिन्न २ रूप से अभिधान अर्थात् कथन होता है वह नाम कहलाता है।

(३) प्रमाण—जिसके द्वारा वस्तु का परिच्छेद अर्थात् निश्चय होता है उसे प्रमाण कहते हैं।

(४) वक्तव्यता—अध्ययनादि में प्रत्येक अवयव का यथासंभव नियत नियत अर्थ कहना वक्तव्यता है।

(५) अर्थाधिकार—सामायिक आदि अध्ययन के विषय का वर्णन करना अर्थाधिकार है।

अर्थाधिकार अध्ययन के प्रारम्भ से अन्त तक एक सरीखा रहता है किन्तु वक्तव्यता एक देश में नियत रहती है। यही अर्थाधिकार और वक्तव्यता में अन्तर है।

(६) समवतार—स्व, पर और उभय में वस्तुओं के अन्तर्भाव का विचार समवतार कहलाता है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से भी उपक्रम के छः भेद हैं।

इनका विशेष विस्तार अनुयोगद्वार सूत्र से जानना चाहिये

(अनुयोगद्वार सूत्र ७)

४२८—अवधिज्ञान के छः भेद

भव या क्षयोपशम से प्राप्त लब्धि के कारण रूपी द्रव्यों को विषय करने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान अवधि ज्ञान कहलाता है। इस के छः भेद हैं:—

(१) अनुगामी—जो अवधिज्ञान नेत्र की तरह ज्ञानी का अनुगमन करता है अर्थात् उत्पत्ति स्थान को छोड़कर ज्ञानी के देशान्तर जाने पर भी साथ रहता है वह अनुगामी अवधिज्ञान है।

(२) अननुगामी—जो अवधिज्ञान स्थिर प्रदीप की तरह ज्ञानी का अनुसरण नहीं करता अर्थात् उत्पत्तिस्थान को छोड़ कर ज्ञानी के दूसरी जगह चले जाने पर नहीं रहता वह अननुगामी अवधिज्ञान है।

(३) वर्धमान—जैसे अग्नि की ज्वाला ईंधन पाने पर उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़ती है उसी प्रकार जो अवधिज्ञान शुभ अध्यवसाय होने पर अपनी पूर्वावस्था से उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है।

(४) हीयमान—जैसे अग्नि की ज्वाला नवीन ईंधन न डाले से क्रमशः घटती जाती है उसी प्रकार जो अवधिज्ञान संक्लेशवश परिणाम विशुद्धि के घटने से उत्पत्ति समय की अपेक्षा क्रमशः घटता जाता है वह हीयमान अवधिज्ञान है।

(५) प्रतिपाती—जो अवधिज्ञान उत्कृष्ट सर्व लोक परिमाण विषय करके चला जाता है वह प्रतिपाती अवधिज्ञान है

(६) अप्रतिपाती—जो अवधिज्ञान भवक्षय या केवलज्ञान होने से पहले नष्ट नहीं होता वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

जिस अवधिज्ञानी को सम्पूर्ण लोक से आगे एक भी प्रदेश का ज्ञान हो जाता है उसका अवधिज्ञान अप्रतिपाती समझना चाहिये। यह बात सामर्थ्य (शक्ति) की अपेक्षा कही गई है। वास्तव में अलोकाकाश रूपी द्रव्यों से शून्य है इसलिए वहाँ अवधिज्ञानी कुछ नहीं देख सकता। ये छहों भेद तिर्यञ्च और मनुष्यों में होने वाले क्षायोपशमिक अवधिज्ञान के हैं।

(ठाणांग ६ उद्देशा ३ सू. ५२६) (नंदीसूत्र सू. ६ से १५)

४२६— अर्थावग्रह के छः भेद

इन्द्रियों द्वारा अपने अपने विषयों का अस्पष्ट ज्ञान अवग्रह कहलाता है। इसके दो भेद हैं—व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। जिस प्रकार दीपक के द्वारा घटपटादि पदार्थ प्रकट किये जाते हैं उसी प्रकार जिसके द्वारा पदार्थ व्यक्त अर्थात् प्रकट हों ऐसे विषयों के इन्द्रियज्ञान योग्य स्थान में होने रूप सम्बन्ध को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। अथवा दर्शन द्वारा पदार्थ का सामान्य प्रतिभास होने पर विशेष जानने के लिए इन्द्रिय और पदार्थों का योग्य देश में मिलना व्यञ्जनावग्रह है।

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि अर्थ अर्थात् विषयों को सामान्य रूप से जानना अर्थावग्रह है। इसके छः भेद हैं —

(१) श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह, (२) चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, (४) रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, (५) स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह, (६) नोइन्द्रिय (मन) अर्थावग्रह।

रूपादि विशेष की अपेक्षा किए बिना केवल सामान्य अर्थ को ग्रहण करने वाला अर्थावग्रह पाँच इन्द्रिय और मन से होता है इसलिए इसके उपरोक्त छः भेद हो जाते हैं।

अर्थावग्रह के समान ईहा, अवाय और धारणा भी ऊपर लिखे अनुसार पाँच इन्द्रिय और मन द्वारा होते हैं। इसलिए इनके भी छः छः भेद जानने चाहिएं।

(नंदीसूत्र, सूत्र २८, ३)(ठा ६ उ ३ सूत्र ५२५)(तत्त्वार्थाधिगम भाष्य प्रथम अध्याय)

४३०—अवसर्पिणी काल के छः आरे

जिस काल में जीवों के संहनन और संस्थान क्रमशः हीन होते जायँ, आयु और अवगाहना घटते जायँ तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम का ह्रास होता जाय वह अवसर्पिणी काल है। इस काल में पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हीन होते जाते हैं। शुभ भाव घटते जाते हैं और अशुभ भाव बढ़ते जाते हैं। अवसर्पिणी काल दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है।

अवसर्पिणी काल के छः विभाग हैं, जिन्हें आरे कहते हैं। वे इस प्रकार हैं —(१) सुषम सुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषम दुषमा, (४) दुषम सुषमा, (५) दुषमा, (६) दुषम दुषमा।

(१) सुषम सुषमा—यह आरा चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम का

करने लगे। अपने विवादों का निपटारा कराने के लिए इन्होंने सुमति को स्वामीरूप से स्वीकार किया। ये प्रथम कुलकर थे। इनके बाद क्रमशः चौदह कुलकर हुए। पहले पाँच कुलकरों के शासन में हकार दंड था। छठे से दसवें कुलकर के शासन में मकार तथा ग्यारहवें से पन्द्रहवें कुलकर के शासन में धिक्कार दंड था। पन्द्रहवें कुलकर ऋषभदेव स्वामी थे। ये चौदहवें कुलकर नाभि के पुत्र थे। माता का नाम मरुदेवी था। ऋषभदेव इस अवसर्पिणी के प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे। इनकी आयु चौरासी लाख पूर्व थी। इन्होंने बीस लाख पूर्व कुमारावस्था में बिताए और त्रेसठ लाख पूर्व राज्य किया। अपने शासन काल में प्रजा हित के लिए इन्होंने लेख, गणित आदि ७२ पुरुष कलाओं और ६४ स्त्री कलाओं का उपदेश दिया। इसी प्रकार १०० शिल्पों और असि, मसि और कृषि रूप तीन कर्मों की भी शिक्षा दी। त्रेसठ लाख पूर्व राज्य का उपभोग कर दीक्षा अङ्गीकार की। एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ रहे। एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व केवली रहे। चौरासी लाख पूर्व की आयुष्य पूर्ण होने पर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत महाराज इस आरे के प्रथम चक्रवर्ती थे।

(४) दुषम सुषमा —यह आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इस में मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। अवगाहना बहुत से धनुषों की होती है और आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की होती है। एक पूर्व सत्तर लाख करोड़ वर्ष और छप्पन हजार करोड़ वर्ष (७०५६ ००००००००००) का होता है। यहाँ

से आयु पूरी करके जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं और कई जीव सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर सकल दुःखों का अन्त कर देते हैं अर्थात् सिद्ध गति का प्राप्त करते हैं।

वर्तमान अवसर्पिणी के इस आरे में तीन वंश उत्पन्न हुए। अरिहन्तवंश, चक्रवर्ती वंश और दशारवंश। इसी आरे में तेईस तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रति-वासुदेव उत्पन्न हुए। दुःख विशेष और सुख कम होने से यह आरा दुषम सुषमा कहा जाता है।

(५) दुषमा — पाँचवा दुषमा आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। इस आरे में मनुष्यों के छहों संहनन तथा छहों संस्थान होते हैं। शरीर की अवगाहना ७ हाथ तक की होती है। आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट सौ वर्ष भाझेरी होती है। जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं। चौथे आरे में उत्पन्न हुआ कोई जीव मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है, जैसे जम्बूस्वामी। वर्तमान पंचम आरे के अन्तिम दिन का तीसरा भाग बीत जाने पर गण (समुदाय जाति) विवाहादि व्यवहार, पाखण्डधर्म, राजधर्म, अग्नि और अग्नि से होने वाली रसोई आदि क्रियाएँ, चारित्रधर्म और गच्छ व्यवहार— इन सभी का विच्छेद हो जायगा। यह आरा दुःख प्रधान है इसलिए इसका नाम दुषमा है।

(६) दुषम दुषमा— अवसर्पिणी का दुषमा आरा बीत जाने पर अत्यन्त दुःखों से परिपूर्ण दुषम दुषमा नामक छठा आरा आरम्भ होगा। यह काल मनुष्य और पशुओं के दुःखजनित हाहाकार से व्याप्त होगा। इस आरे के आरम्भ में धूलिमय भयङ्कर आँधी चलेगी तथा संवर्तक वायु बहेगी। दिशाएँ धूलि से भरी होंगी इसलिए प्रकाश शून्य होंगी। अरस, विरस, क्षार, खात, अग्नि,

होता है। इसमें मनुष्यों की अवगाहना तीन कोस की और आयु तीन पल्योपम की होती है। इस आरे में पुत्र पुत्री युगल(जोड़ा) रूप से उत्पन्न होते हैं। बड़े होकर वे ही पति पत्नी बन जाते हैं। युगल रूप से उत्पन्न होने के कारण इस आरे के मनुष्य युगलिया कहलाते हैं। माता पिता की आयु छः मास शेष रहने पर एक युगल उत्पन्न होता है। ४६ दिन तक माता पिता उसकी प्रतिपालना करते हैं। आयु समाप्ति के समय माता को छींक और पिता को जंभाई (उबासी) आती है और दोनों काल कर जाते हैं। व मर कर देवलोक में उत्पन्न होते हैं। इस आरे के मनुष्य दस प्रकार के कल्पवृक्षों से मनोवाञ्छित सामग्री पाते हैं। तीन दिन के अन्तर से इन्हें आहार की इच्छा होती है। युगलियों के वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है। इनके शरीर में २५६पसलियाँ होती हैं। युगलिए असि, मसि और कृषि कोई कर्म नहीं करते।

इस आरे में पृथ्वी का स्वाद मिश्री आदि मधुर पदार्थों से भी अधिक स्वादिष्ट होता है। पुष्प और फलों का स्वाद चक्रवर्ती के श्रेष्ठ भोजन से भी बढ़ कर होता है। भूमिभाग अत्यन्त रमणीय होता है और पांच वर्ण वाली विविध मणियों, वृक्षों और पौधों से सुशोभित होता है। सब प्रकार के सुखों से पूर्ण होने के कारण यह आरा सुषमसुषमा कहलाता है।

(२) सुषमा—यह आरा तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों की अवगाहना दो कोस की और आयु दो पल्योपम की होती है। पहले आरे के समान इस आरे में भी युगलधर्म रहता है। पहले आरे के युगलियों से इस आरे के युगलियों में इतना ही अन्तर होता है कि इन के शरीर में १२८

पसलियाँ होती हैं। माता पिता बच्चों का ६४ दिन तक पालन पोषण करते हैं। दो दिन के अन्तर से आहार की इच्छा होती है। यह आरा भी सुखपूर्ण है। शेष सारी बातें स्थूलरूप से पहले आरे जैसी माननी चाहिएं। अवसर्पिणी काल होने के कारण इस आरे में पहले की अपेक्षा सब बातों में क्रमशः हीनता होती जाती है।

(३) सुषम दुषमा—सुषम दुषमा नामक तीसरा आरा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें दूसरे आरे की तरह सुख है परन्तु साथ में दुःख भी है। इस आरे के तीन भाग हैं। प्रथम दो भागों में मनुष्यों की अवगाहना एक कोस की और स्थिति एक पल्योपम की होती है। इनमें युगलिए उत्पन्न होते हैं जिनके ६४ पसलियाँ होती हैं। माता पिता ७९ दिन तक बच्चों का पालन पोषण करते हैं। एक दिन के अन्तर से आहार की इच्छा होती है। पहले दूसरे आरों के युगलियों की तरह ये भी छींक और जंभाई के आने पर काल कर जाते हैं और देव लोक में उत्पन्न होते हैं। शेष विस्तार स्थूल रूप से पहले दूसरे आरों जैसा मानना चाहिए।

सुषम दुषमा आरे के तीसरे भाग में छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। अवगाहना हजार धनुष से कम रह जाती है। आयु जघन्य संख्यात वर्ष और उत्कृष्ट असंख्यात वर्ष की होती है। मृत्यु होने पर जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं। इस भाग में जीव मोक्ष भी जाते हैं।

वर्तमान अवसर्पिणी के तीसरे आरे के तीसरे भाग की समाप्ति में जब पल्योपम का आठवां भाग शेष रह गया उस समय कल्पवृक्षों की शक्ति कालदोष से न्यून हो गई। युगलियों में द्वेष और कषाय की मात्रा बढ़ने लगी और वे आपस में विवाद

करने लगे। अपने विवादों का निपटारा कराने के लिए उन्होंने सुमति को स्वामीरूप से स्वीकार किया। ये प्रथम कुलकर थे। इनके बाद क्रमशः चौदह कुलकर हुए। पहले पाँच कुलकरों के शासन में हकार दण्ड था। छठे से दसवें कुलकर के शासन में मकार तथा ग्यारहवें से पन्द्रहवें कुलकर के शासन में धिक्कार दण्ड था। पन्द्रहवें कुलकर ऋषभदेव स्वामी थे। ये चौदहवें कुलकर नाभि के पुत्र थे। माता का नाम मरुदेवी था। ऋषभदेव इस अवसर्पिणी के प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे। उनकी आयु चौरासी लाख पूर्व थी। इन्होंने बीस लाख पूर्व कुमारावस्था में बिताए और त्रेसठ लाख पूर्व राज्य किया। अपने शासन काल में प्रजा हित के लिए इन्होंने लेख, गणित आदि ७२ पुरुष कलाओं और ६४ स्त्री कलाओं का उपदेश दिया। इसी प्रकार १०० शिल्पों और असि, मसि और कृषि रूप तीन कर्मों की भी शिक्षा दी। त्रेसठ लाख पूर्व राज्य का उपभोग कर दीक्षा अङ्गीकार की। एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ रहे। एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व केवली रहे। चौरासी लाख पूर्व की आयुष्य पूर्ण होने पर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत महाराज इस आरे के प्रथम चक्रवर्ती थे।

(४) दुषम सुषमा — यह आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इस में मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। अवगाहना बहुत से धनुषों की होती है और आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की होती है। एक पूर्व सत्तर लाख करोड़ वर्ष और छप्पन हजार करोड़ वर्ष (७०५६००० ००० ००) का होता है। यहाँ

से आयु पूरी करके जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं और कई जीव सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर सकल दुःखों का अन्त कर देते हैं अर्थात् सिद्ध गति को प्राप्त करते हैं।

वर्तमान अवसर्पिणी के इस आरे में तीन वंश उत्पन्न हुए। अरिहन्तवंश, चक्रवर्ती वंश और दशारवंश। इसी आरे में तेईस तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रति-वासुदेव उत्पन्न हुए। दुःख विशेष और सुख कम होने से यह आरा दुषम सुषमा कहा जाता है।

(५) दुषमा—पाँचवां दुषमा आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। इस आरे में मनुष्यों के छहों संहनन तथा छहों संस्थान होते हैं। शरीर की अवगाहना ७ हाथ तक की होती है। आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट सौ वर्ष झाझेरी होती है। जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं। चौथे आरे में उत्पन्न हुआ कोई जीव मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है, जैसे जम्बूस्वामी। वर्तमान पंचम आरे के अन्तिम दिन का तीसरा भाग बीत जाने पर गण (समुदाय जाति) विवाहादि व्यवहार, पाखण्डधर्म, राजधर्म, अग्नि और अग्नि से होने वाली रसोई आदि क्रियाएँ, चारित्रधर्म और गच्छ व्यवहार—इन सभी का विच्छेद हो जायगा। यह आरा दुःख प्रधान है इसलिए इसका नाम दुषमा है।

(६) दुषम दुषमा—अवसर्पिणी का दुषमा आरा बीत जाने पर अत्यन्त दुःखों से परिपूर्ण दुषम दुषमा नामक छठा आरा प्रारम्भ होगा। यह काल मनुष्य और पशुओं के दुःखजनित हाहाकार से व्याप्त होगा। इस आरे के प्रारम्भ में धूलिमय भयङ्कर आँधी चलेगी तथा संवर्तक वायु बहेगी। दिशाएँ धूलि से भरी होंगी इसलिए प्रकाश शून्य होंगी। अरस, विरस, क्षार, खात, अग्नि,

विद्युत् और विष प्रधान मेघ बरसेंगे। प्रलयकालीन पवन और वर्षा के प्रभाव से विविध वनस्पतियाँ एवं त्रस प्राणी नष्ट हो जायेंगे। पहाड़ और नगर पृथ्वी से मिल जायेंगे। पर्वतों में एक वैताढ्य पर्वत स्थिर रहेगा और नदियों में गंगा और सिंधु नदियाँ रहेंगी। काल के अत्यन्त रूक्ष होने से सूर्य खूब तपेगा और चन्द्रमा अति शीत होगा। गंगा और सिंधु नदियों का पाट रथ के पीछे जितना अर्थात् पहियों के बीच के अन्तर जितना चौड़ा होगा और उनमें रथ की धुरी प्रमाण गहरा पानी होगा। नदियाँ मच्छ, कच्छपादि जलचर जीवों से भरी होंगी। भरत क्षेत्र की भूमि अंगार, मोमर, राख तथा तपे हुए तवे के सदृश होगी ताप में वह अग्नि जैसी होगी। तथा धूलि और कीचड़ से भरी होगी। इस कारण प्राणी पृथ्वी पर कष्ट पूर्वक चल फिर सकेंगे। इस आरे के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना एक हाथ की और उत्कृष्ट आयु सोलह और बीस वर्ष की होगी। ये अधिक सन्तान वाले होंगे। इनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान सभी अशुभ होंगे। शरीर सब तरह से बेडौल होगा। अनेक व्याधियों घर किये रहेंगी। राग द्वेष और कषाय की मात्रा अधिक होगी। धर्म और श्रद्धा बिल्कुल न रहेंगे। वैताढ्य पर्वत में गंगा और सिंधु महानदियों के पूर्व पश्चिम तट पर ७२ बिल हैं वे ही इस काल के मनुष्यों के निवास स्थान होंगे। ये लोग सूर्योदय और सूर्यास्त के समय अपने अपने बिलों से निकलेंगे और गंगा सिंधु महानदी से मच्छ, कच्छपादि पकड़ कर रेत में गाड़ देंगे। शाम के गाड़े हुए मच्छादि को सुबह निकाल कर खायेंगे और सुबह के गाड़े हुए मच्छादि शाम को निकाल कर खायेंगे। व्रत, नियम और प्रत्याख्यान से

रहित, मांस का आहार करने वाले, संक्लिष्ट परिणाम वाले ये जीव मरकर प्रायः नरक और तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होंगे।

(जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २ सू. १८-३६) (ठाणांग ६ उ. ३ सू. ४९२)
(भगवती शतक ७ उद्देशा ६ दुषम दुषमाधिकार सू. २८७-२८८)

४३१ उत्सर्पिणी के छः आरे

जिस काल में जीवों के संहनन और संस्थान क्रमशः अधिकाधिक शुभ होते जायँ, आयु और अवगाहना बढ़ते जायँ तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की वृद्धि होती जाय वह उत्सर्पिणी काल है। जीवों की तरह पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी इस काल में क्रमशः शुभ होते जाते हैं। अशुभतम भाव, अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर होते हुए यावत् शुभतम हो जाते हैं। अवसर्पिणी काल में क्रमशः ह्रास होते हुए हीनतम अवस्था आजाती है और इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए क्रमशः उच्चतम अवस्था आजाती है।

अवसर्पिणी काल के जो छः आरे हैं वे ही आरे इस काल में व्यत्यय (उल्टे) रूप से होते हैं। इन का स्वरूप भी ठीक उन्हीं जैसा है, किन्तु विपरीत क्रम से। पहला आरा अवसर्पिणी के छठे आरे जैसा है। छठे आरे के अन्त समय में जो हीनतम अवस्था होती है उससे इस आरे का प्रारम्भ होता है और क्रमिक विकास द्वारा बढ़ते २ छठे आरे की प्रारम्भिक अवस्था के आने पर यह आरा समाप्त होता है। इसी प्रकार शेष आरों में भी क्रमिक विकास होता है। सभी आरे अन्तिम अवस्था से शुरु होकर क्रमिक विकास से प्रारम्भिक अवस्था को पहुँचते हैं। यह काल भी अवसर्पिणी काल की तरह दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में जो अन्तर है वह नीचे लिखे अनुसार है:—

उत्सर्पिणी के छः आरे—दुषम दुषमा, दुषमा, दुषम सुषमा, सुषम दुषमा, सुषमा, सुषम सुषमा।

(१) दुषमदुषमा—अवसर्पिणी का छठा आरा आषाढ़ सुदी पूनम को समाप्त होता है और सावन बदी एकम को चन्द्रमा के अभिजित् नक्षत्र में होने पर उत्सर्पिणी का दुषम दुषमा नामक प्रथम आरा प्रारम्भ होता है। यह आरा अवसर्पिणी के छठे आरे जैसा है। इसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि पर्यायों में तथा मनुष्यों की अवगाहना, स्थिति, संहनन और संस्थान आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है।

(२) दुषमा—इस आरे के प्रारम्भ में सात दिन तक भरतक्षेत्र जितने विस्तार वाले पुष्कर संवर्तक मेघ बरसेंगे। सात दिन की इस वर्षा से छठे आरे के अशुभ भाव, रूक्षता उष्णता आदि नष्ट हो जायेंगे। इसके बाद सात दिन तक क्षीर मेघ की वर्षा होगी। इससे शुभ वर्ण, गन्ध रस और स्पर्श की उत्पत्ति होगी। क्षीर मेघ के बाद सात दिन तक घृत मेघ बरसेगा। इस वृष्टि से पृथ्वी में स्नेह (चिकनाहट) उत्पन्न हो जायगा। इसके बाद सात दिन तक अमृत मेघ वृष्टि करेगा जिसके प्रभाव से वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता आदि वनस्पतियों के अंकुर फूटेंगे। अमृत मेघ के बाद सात दिन तक रसमेघ बरसेगा। रसमेघ की वृष्टि से वनस्पतियों में पाँच प्रकार का रस उत्पन्न होगा और उनमें पत्र, प्रवाल, अंकुर, पुष्प, फल की वृद्धि होगी।

उक्त प्रकार से वृष्टि होने पर जब पृथ्वी सरस हो जायगी तथा वृक्ष लतादि विविध वनस्पतियों से हरी भरी और रमणीय

मेघ—क्षीर घृत, अमृत और रस मेघ पानी ही बरसाते हैं पर इनका पानी क्षीर आदि की तरह गुण करने वाला होता है इसलिए गुण की अपेक्षा क्षीरमेघ आदि नाम दिये गये हैं।

हो जायगी तब लोग बिलों से निकलेंगे। वे पृथ्वी को सरस सुन्दर और रमणीय देखकर बहुत प्रसन्न होंगे। एक दूसरे को बुलावेंगे और खूब खुशियाँ मनावेंगे। पत्र, पुष्प, फल आदि से शोभित वनस्पतियों से अपना निर्वाह होते देख वे मिलकर यह मर्यादा बांधेंगे कि आज से हम लोग मांसाहार नहीं करेंगे और मांसाहारी प्राणी की छाया तक हमारे लिए परिहार योग्य (त्याज्य) होगी।

इस प्रकार इस आरे में पृथ्वी रमणीय हो जायगी। प्राणी सुखपूर्वक रहने लगेंगे। इस आरे के मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होंगे। उनकी अवगाहना बहुत से हाथ की और आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सौ वर्ष झाझेरी होगी। इस आरे के जीव मर कर अपने कर्मों के अनुसार चारों गतियों में उत्पन्न होंगे, सिद्ध नहीं होंगे। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का होगा।

(३) दुषम सुषमा—यह आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम का होगा। इसका स्वरूप अवसर्पिणी के चौथे आरे के सदृश जानना चाहिए। इस आरे के मनुष्यों के छहों संस्थान और छहों संहनन होंगे। मनुष्यों की अवगाहना बहुत से धनुषों की होगी। आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की होगी। मनुष्य मरकर अपने कर्मानुसार चारों गतियों में जायेंगे और बहुत से सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त करेंगे। इस आरे में तीन वंश होंगे—तीर्थंकरवंश, चक्रवर्तीवंश और दशार-वंश। इस आरे में तेईस तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव होंगे।

(४) सुषम दुषमा—यह आरा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होगा और सारी बातें अवसर्पिणी के तीसरे आरे के समान होंगी।

इसके भी तीन भाग होंगे किन्तु उनका क्रम उल्टा रहेगा । अव सर्पिणी के तीसरे भाग के समान इस आरे का प्रथम भाग होगा । इस आरे में ऋषभदेव स्वामी के समान चौबीसवें भद्रकृत तीर्थंकर होंगे । शिल्पकलादि तीसरे आरे से चले आएँगे इसलिए उन्हें कला आदि का उपदेश देने की आवश्यकता न होगी । कहीं २ पन्द्रह कुलकर उत्पन्न होने की बात लिखी है । वे लोग क्रमशः धिक्कार, मकार और हकार दण्ड का प्रयोग करेंगे । इस आरे के तीसरे भाग में राजधर्म यावत् चारित्र धर्म का विच्छेद हो जायगा । दूसरे और तीसरे त्रिभाग अवसर्पिणी के तीसरे आरे के दूसरे और पहले त्रिभाग के सदृश होंगे ।

(५—६) सुषमा और सुषम सुषमा नामक पाँचवें और छठे आरे अवसर्पिणी के द्वितीय और प्रथम आरे के समान होंगे ।

विशेषावश्यकभाष्य में सामायिक चारित्र की अपेक्षा काल के चार भेद किए गए हैं । (१) उत्सर्पिणी काल, (२) अवसर्पिणी काल,(३) नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी काल और (४) अकाल । उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी पहले बताए जा चुके हैं । महाविदेह आदि क्षेत्रों में जहाँ एक ही आरा रहता है अर्थात् उन्नति और अवनति नहीं है, उस जगह के काल को नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी काल कहते हैं । अढ़ाई द्वीप से बाहर के द्वीप समुद्रों में जहाँ सूर्य चन्द्र वगैरह स्थिर रहते हैं और मनुष्यों का निवास नहीं है, उस जगह अकाल है अर्थात् तिथि, पक्ष, मास, वर्ष आदि काल गणना नहीं है ।

सामायिक के चार भेद हैं—(१) सम्यक्त्व सामायिक, (२) श्रुतसामायिक,(३) देशविरति सामायिक और (४) सर्वविरति सामायिक ।

(१) आषाढ़ का कृष्णपक्ष, (२) भाद्रपद का कृष्णपक्ष, (३) कार्तिक का कृष्णपक्ष (४) पौष का कृष्णपक्ष, (५) फाल्गुन का कृष्णपक्ष, (६) वैशाख का कृष्णपक्ष ।

(ठाणांग ६ उ ३ सू ५२४) (चन्द्रप्रज्ञप्ति १२ प्राभृत) (उत्तराध्ययन अ २६ गा १५)

४३४—अधिक तिथिवाले पर्व छः

सूर्यमास की अपेक्षा छः पर्वो में एक एक तिथि बढ़ती है । वे इस प्रकार हैं:—(१) आषाढ़ का शुक्लपक्ष, (२) भाद्रपद का शुक्लपक्ष, (३) कार्तिक का शुक्लपक्ष, (४) पौष का शुक्लपक्ष, (५) फाल्गुन का शुक्लपक्ष, (६) वैशाख का शुक्लपक्ष, ।

(ठाणांग ६ उ ३ सू ५२४)(चन्द्र प्रज्ञप्ति १२ प्राभृत)

४३५—जम्बूद्वीप में छः अकर्मभूमियाँ

जहाँ असि, मसि और कृषि किसी प्रकार का कर्म (आजीविका) नहीं होता, ऐसे क्षेत्रों को अकर्म भूमियाँ कहते हैं । जम्बूद्वीप में छः अकर्म भूमियाँ हैं—(१) हैमवत, (२) हैरण्यवत, (३) हरिवर्ष, (४) रम्यकवर्ष, (५) देवकुरु, (६) उत्तरकुरु ।

(ठाणांग ६ उ ३ सू ५२२)

४३६—मनुष्यक्षेत्र छः

मनुष्य अढ़ाई द्वीप में ही उत्पन्न होते हैं । उसके मुख्य छः विभाग हैं । यही मनुष्यों की उत्पत्ति के छः क्षेत्र हैं । वे इस प्रकार हैं—(१) जम्बूद्वीप, (२) पूर्वधातकी खण्ड (३) पश्चिम धातकीखण्ड, (४) पूर्वपुष्करार्ध, (५) पश्चिमपुष्करार्ध (६) अन्तर्द्वीप।

(ठाणांग ६ उ ३ सू ४६)

४३७—मनुष्य के छः प्रकार

मनुष्य के छः क्षेत्र ऊपर बताए गए हैं । इनमें उत्पन्न होने

देवता द्वारा हरण होने पर तो सभी क्षेत्रों में सभी सामायिक पाए जा सकते हैं।

(जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार २ सूत्र १७-४)(प्र १उ १सू ५२१)
(विशेषावश्यकभाष्य गाथा १७ ८१)

४३२—ऋतुएं छः

दो मास का काल विशेष ऋतु कहलाता है। ऋतुएं छः होती हैं-

(१) आषाढ़ और श्रावण मास में प्रावृट् ऋतु होती है।
(२) भाद्रपद और आश्विन मास में वर्षा।
(३) कार्तिक और मार्गशीर्ष में शरद्।
(४) पौष और माघ में हेमन्त।
(५) फाल्गुन और चैत्र में वसन्त।
(६) वैशाख और ज्येष्ठ में ग्रीष्म।

(ठाणांग ६ उद्देशा ३ सू. ५२३)

ऋतुओं के लिए लोक व्यवहार निम्नलिखित है—

(१) वसन्त—चैत्र और वैशाख।
(२) ग्रीष्म—ज्येष्ठ और आषाढ़।
(३) वर्षा—श्रावण और भाद्रपद।
(४) शरद्—आश्विन और कार्तिक।
(५) शीत—मार्गशीर्ष और पौष।
(६) हेमन्त—माघ और फाल्गुन।

(पूजा सेवाफल)

४३३—न्यूनतिथि वाले पर्व छः

अमावस्या या पूर्णिमा को पर्व कहते हैं। इनसे युक्त पक्ष भी पर्व कहा जाता है। चन्द्र मास की अपेक्षा छः पक्षों में एक एक तिथि घटती है। वे इस प्रकार हैं—

दो प्रकार के हैं। चारित्र और तप विशेष के प्रभाव से जिन्हें आकाश में आने जाने की ऋद्धि प्राप्त हो वे जंघाचारण कहलाते हैं। जिन्हें यह लब्धि विद्या द्वारा प्राप्त हो वे विद्याचारण कहलाते हैं। जंघाचारण और विद्याचारण का विशेष वर्णन भगवती शतक २० उद्देशा ६ में है।

(६) विद्याधर—वैताढ्य पर्वत के अधिवासी महाप्ति आदि विद्याओं के धारण करने वाले विशिष्ट शक्ति सम्पन्न व्यक्ति विद्याधर कहलाते हैं। ये आकाश में उड़ते हैं तथा अनेक चमत्कारिक कार्य करते हैं।

(ठाणांग ६ उद्देशा ३ सूत्र ४९१)(प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३७)

४३६—दुर्लभ बोल छः

जो बातें अनन्त काल तक संसार चक्र में भ्रमण करने के बाद कठिनता से प्राप्त हों तथा जिन्हें प्राप्त करके जीव संसार चक्र को काटने का प्रयत्न कर सके उन्हें दुर्लभ कहते हैं। वे छः हैं— (१) मनुष्य जन्म, (२) आर्य क्षेत्र, (साढ़े पच्चीस आर्य देश), (३) धार्मिक कुल में उत्पन्न होना, (४) केवली प्ररूपित धर्म का सुनना, (५) केवली प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करना, (६) केवली प्ररूपित धर्म का आचरण करना।

इन बोलों में पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिकाधिक दुर्लभ हैं। अज्ञान, प्रमाद आदि दोषों का सेवन करने वाला जीव इन्हें प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसे जीव एकेन्द्रिय आदि में जन्म लेते हैं, जहाँ कायस्थिति बहुत लम्बी है।

नोट— दस दुर्लभ' दसवें बोल संग्रह में दिये जायेंगे।

(ठाणांग ६ उ० ३ सूत्र ४८५)

वाले मनुष्य भी क्षेत्रों के भेद से छः प्रकार के कहे जाते हैं। अथवा गर्भज मनुष्य के (१) कर्मभूमि, (२) अकर्मभूमि, (३) अन्तर्द्वीप, तथा सम्मूर्छिम के (४) कर्मभूमि, (५) अकर्मभूमि, और (६) अन्तर्द्वीप इस प्रकार मनुष्य के छः भेद होते हैं।
(ठाणांग ६ उ. ३ सू. ४९)

४३८—ऋद्धिप्राप्त आर्य के छः भेद

जिसमें ज्ञान दर्शन और चारित्र ग्रहण करने की योग्यता हो उसे आर्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं— ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धिप्राप्त।

जो व्यक्ति अरिहन्त चक्रवर्ती आदि की ऋद्धियों को प्राप्त कर लेता है, उसे ऋद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं। आर्य क्षेत्र में उत्पन्न होने आदि के कारण जो पुरुष आर्य कहा जाता है उसे अनृद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं। ऋद्धिप्राप्त आर्य के छः भेद हैं—

(१) अरिहन्त—राग द्वेष आदि शत्रुओं का नाश करने वाले अरिहन्त कहलाते हैं। ये आठ महाप्रातिहार्यादि ऋद्धियों से सम्पन्न होते हैं।

(२) चक्रवर्ती—चौदह रत्न और छः खण्डों के स्वामी चक्रवर्ती कहलाते हैं, ये सर्वोत्कृष्ट लौकिक समृद्धि सम्पन्न होते हैं।

(३) वासुदेव—सात रत्न और तीन खण्डों के स्वामी वासुदेव कहलाते हैं। ये भी अनेक प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न होते हैं।

(४) बलदेव—वासुदेव के बड़े भाई बलदेव कहे जाते हैं। ये कई प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न होते हैं। बलदेव से वासुदेव और वासुदेव से चक्रवर्ती की ऋद्धि दुगुनी होती है। तीर्थंकर की आध्यात्मिक ऋद्धि चक्रवर्ती से अनन्त गुणी होती है।

(५) चारण—आकाशगामिनी विद्या जानने वाले चारण कहलाते हैं। जंघाचारण और विद्याचारण के भेद से चारण

४४३—कल्पस्थिति छः

साधु के शास्त्रोक्त आचार को कल्पस्थिति कहते हैं। अथवा सामायिक छेदोपस्थापनीय आदि साधु के चारित्र की मर्यादा को कल्पस्थिति कहते हैं। कल्पस्थिति छः भेद हैं— (१) सामायिक कल्पस्थिति, (२) छेदोपस्थापनीय कल्प स्थिति, (३) निर्विशमान कल्पस्थिति, (४) निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति, (५) जिनकल्पस्थिति, (६) स्थविर कल्पस्थिति।

(१) सामायिक कल्पस्थिति—सर्वसावद्य विरतिरूप सामायिक चारित्र वाले संयमी साधुओं की मर्यादा सामायिक कल्प स्थिति है। सामायिक कल्प प्रथम और चरम तीर्थङ्करों के साधुओं में स्वल्पकालीन तथा मध्य तीर्थङ्करों के शासन में और महा विदेह क्षेत्र में यावज्जीव होता है।

(१) शय्यातर पिंड का परिहार, (२) चार महाव्रतों का पालन, (३) पिण्डकल्प (४) पुरुष ज्येष्ठता अर्थात् रत्नाधिक का वन्दन, ये चार सामायिक चारित्र के अवस्थित कल्प हैं अर्थात् सामायिक चारित्र वालों में ये नियमित रूप से होते हैं।*

(१) श्वेत और प्रमाणोपेत वस्त्र की अपेक्षा अचेलता (२) औद्देशिक आदि दोषों का परिहार, (३) राजपिण्ड का त्याग (४) प्रतिक्रमण (५) मासकल्प (६) पर्युषण कल्प, ये छः सामायिक चारित्र के अनवस्थित कल्प हैं अर्थात् अनियमित रूप से पाये जाते हैं।

(ठा ३ उ ४ सू २ १ टीका) (ठा ६ उ ३ सू ५३ टीका)

(२) छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति—जिस चारित्र में पूर्व पर्याय को छेद कर फिर महाव्रतों का आरोपण हो उसे छेदोपस्थापनीय

टिप्पणी—*प्रथम एवं चरम तीर्थङ्कर के शासन में चार महाव्रतों के बदले पाँच महाव्रतों का अवस्थित कल्प है।

४४०—ज्ञानावरणीय कर्म बांधने के छः कारण

(१) ज्ञानी से विरोध करना या उसके प्रतिकूल आचरण करना।
(२) ज्ञानगुरु तथा ज्ञान का गोपन करना।
(३) ज्ञान में अन्तराय देना।
(४) ज्ञानी से द्वेष करना।
(५) ज्ञान एवं ज्ञानी की आशातना करना।
(६) ज्ञान एवं ज्ञानी के साथ विवाद करना अथवा उनमें दोष दिखाने की चेष्टा करना।

(भगवती शतक ८ उद्देशा ९ सूत्र ११

४४१—दर्शनावरणीय कर्म बांधने के छः कारण

(१) दर्शनवान् के साथ विरोध करना या उसके प्रतिकूल आचरण करना।
(२) दर्शन का निह्नव (गोपन) करना।
(३) दर्शन में अन्तराय देना।
(४) दर्शन से द्वेष करना।
(५) दर्शन अथवा दर्शनवान् की आशातना करना।
(६) दर्शन या दर्शनवान् के साथ विवाद करना अथवा उ में दोष दिखाने की चेष्टा करना।

(भगवती शतक ८ उद्देशा ९ सूत्र १

४४२—मोहनीय कर्म बांधने के छः कारण

(१) तीव्र क्रोध, (२) तीव्र मान, (३) तीव्र माया (४) तीव्र लोभ, (५) तीव्र मिथ्यात्व (६) तीव्र नोकषाय।

(भगवती शतक ८ उद्देशा ९ सूत्र

४४३—कल्पस्थिति छः

साधु के शास्त्रोक्त आचार को कल्पस्थिति कहते हैं। अथवा सामायिक छेदोपस्थापनीय आदि साधु के चारित्र की मर्यादा को कल्पस्थिति कहते हैं। कल्पस्थिति छः भेद हैं— (१) सामायिक कल्पस्थिति, (२) छेदोपस्थापनीय कल्प स्थिति, (३) निर्विशमान कल्पस्थिति, (४) निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति, (५) जिनकल्पस्थिति, (६) स्थविर कल्पस्थिति।

(१) सामायिक कल्पस्थिति—सर्वसावद्य विरतिरूप सामायिक चारित्र वाले संयमी साधुओं की मर्यादा सामायिक कल्प स्थिति है। सामायिक कल्प प्रथम और चरम तीर्थङ्करों के साधुओं में स्वल्पकालीन तथा मध्य तीर्थङ्करों के शासन में और महाविदेह क्षेत्र में यावज्जीव होता है।

(१) शय्यातर पिंड का परिहार, (२) चार महाव्रतों का पालन, (३) पिंडकल्प, (४) पुरुष ज्येष्ठता अर्थात् रत्नाधिक का वन्दन ये चार सामायिक चारित्र के अवस्थित कल्प हैं अर्थात् सामायिक चारित्र वालों में ये नियमित रूप से होते हैं।*

(१) श्वेत और प्रमाणोपेत वस्त्र की अपेक्षा अचेलता (२) औद्देशिक आदि दोषों का परिहार, (३) राजपिंड का त्याग (४) प्रतिक्रमण (५) मासकल्प (६) पर्युषणा कल्प, ये छः सामायिक चारित्र के अनवस्थित कल्प हैं अर्थात् अनियमित रूप से पाले जाते हैं।

(ठा. ३ उ. ४ सू. १ १ टीका) (ठा. ६ उ. १ सू. ५३ टीका)

(२) छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति—जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद कर फिर महाव्रतों का आरोपण हो उसे छेदोपस्थापनीय

टिप्पणी—*प्रथम एवं चरम तीर्थङ्कर के शासन में चार महाव्रतों के बदले पांच महाव्रतों का अवस्थित कल्प है।

चारित्र कहते हैं। छेदोपस्थापनीय चारित्रधारी साधुओं के आचार की मर्यादा को छेदोपस्थापनीय कल्पस्थिति कहते हैं। यह चारित्र प्रथम एवं चरम तीर्थङ्करों के साधुओं में ही होता है। इसलिए यह कल्पस्थिति भी उन्हीं साधुओं के लिए है।

सामायिक कल्पस्थिति में बताए हुए अवस्थित कल्प के चार और अनवस्थित कल्प के छः, कुल दसों बोलों का पालन करना छेदोपस्थापनीय चारित्र की मर्यादा है।

(३) निर्विशमान कल्पस्थिति —*परिहार विशुद्धि चारित्र अङ्गीकार करने वाले पारिहारिक साधुओं की आचार मर्यादा को निर्विशमान कल्पस्थिति कहते हैं। पारिहारिक साधु ग्रीष्मकाल में जघन्य उपवास, मध्यम बेला और उत्कृष्ट तेला, शीतकाल में जघन्य बेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट चोला (चार उपवास) तथा वर्षाकाल में जघन्य तेला, मध्यम चोला और उत्कृष्ट पंचोला तप करते हैं। पारणे के दिन आयम्बिल करते हैं। संसृष्ट और असंसृष्ट पिण्डैषणाओं को छोड़ कर शेष पाँच में से इच्छानुसार एक से आहार और दूसरी से पानी लेते हैं, इस प्रकार पारिहारिक साधु छः मास तक तप करते हैं।

(४) निर्विष्ट कायिक कल्पस्थिति—पारिहारिक तप पूरा करने के बाद जो वैयावृत्य करने लगते हैं, वे निर्विष्टकायिक कहलाते हैं। इन्हीं को अनुपारिहारिक भी कहा जाता है। इनकी मर्यादा निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति कहलाती है। उनमें कुछ साधु पहले निर्विशमान कल्पस्थिति अङ्गीकार करते हैं, शेष इनकी

---

*नोट—अपरिमित और उत्कृष्ट पन्नगधारी साधुओं का गच्छ परिहार-विशुद्धि चारित्र अंगीकार करता है। वे जघन्य नव पूर्वधारी और उत्कृष्ट किंचिन्न्यून दस पूर्वधारी होते हैं। वे व्यवहार कल्प और प्रायश्चित्तों में कुशल होते हैं।

सेवा करते हैं, फिर सेवा करने वाले तप करने लगते हैं और तप वाले वैयावच्च करने लगते हैं।

(५) जिनकल्पस्थिति—उत्कृष्ट चारित्र पालन करने की इच्छा से गच्छ से निकले हुए साधु विशेष जिनकल्पी कहे जाते हैं। इनके आचार को जिनकल्पस्थिति कहते हैं।

जघन्य नवें पूर्व की तृतीय वस्तु और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व धारी साधु जिनकल्प अङ्गीकार करते हैं। वे वज्रऋषभनाराच संहनन के धारक होते हैं। अकेले रहते हैं, उपसर्ग और रोगादि की वेदना बिना औषधादि उपचार किए सहते हैं। उपाधि से रहित स्थान में रहते हैं। पिछली पाँच में से किसी एक पिण्डैषणा का अभिग्रह कर के भिक्षा लेते हैं।

(६) स्थविर कल्पस्थिति—गच्छ में रहने वाले साधुओं के आचार को स्थविर कल्पस्थिति कहते हैं।

सत्रह प्रकार के संयम का पालन करना तप और प्रवचन को दीपाना, शिष्यों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणों की वृद्धि करना, वृद्धावस्था में जंघा बल क्षीण होने पर वसति, आहार और उपधि के दोषों का परिहार करते हुए एक ही स्थान में रहना आदि स्थविर का आचार है।

(ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ५३ और ठाणांग ३ उ ४ सू० १)
(बृहत्कल्प उद्देशा ६ औपपातिक वैयावृत्य बोली)

४४४—कल्प पलिमन्थु छः

साधु के आचार का मन्थन अर्थात् घात करने वाले कल्प पलिमन्थु कहलाते हैं। इनके छः भेद हैं—

(१) कौकुचिक—स्थान, शरीर और भाषा की अपेक्षा कुत्सित चेष्टा करने वाला कौकुचिक साधु संयम का घातक होता है।

जो साधु बैठा हुआ या खड़ा हुआ दीवाल, स्तम्भ आदि पर गिरता है, बारम्बार घूमता रहता है, पैरों का संकोच विस्तार करता रहता है तथा निश्चल आसन से नहीं बैठता वह स्थान कौकुचिक है। हाथ पैर आदि अङ्गों को निष्प्रयोजन हिलाने वाला साधु शरीर कौकुचिक है।

जो साधु बाजा बजाता है, हास्योत्पादक वचन बोलता है, पशु-पक्षियों की नकल करता है, लोगों को हँसाने के लिए अनार्य देश की भाषा बोलता है, वह भाषा कौकुचिक है।

(२) मौखरिक—जो बहुत बोलता है, या ऐसी बात कहता है कि सुनने वाला शत्रु बन जाता है, उसे मौखरिक कहते हैं। ऐसे साधु से असत्य भाषण की सम्भावना रहती है और वह सत्य धर्म का घातक होता है।

(३) चक्षु लोलुप—जो स्तूप आदि को देखते हुए, धर्म कथा या स्वाध्याय करते हुए, मन में किसी प्रकार की भावना भाते हुए चलता है, मार्ग में ईर्या सम्बन्धी उपयोग नहीं रखता, ऐसा चञ्चल साधु ईर्या समिति का घातक होता है।

(४) तिंतिणक—आहार उपधि या शय्या न मिलने पर खेद वश बिना विचारे जैसे तैसे बोल देने वाला तुनक मिजाज (तिंतिणक) साधु एषणा समिति का घातक होता है, क्योंकि ऐसे स्वभाव वाला साधु दुखी होकर अनेषणीय आहार भी ले लेता है।

(५) इच्छा लोभिक—अतिशय लोभ और इच्छा होने से अधिक उपधि को ग्रहण करने वाला साधु निर्लोभता, निष्परिग्रहतारूप सिद्धिपथ का घातक होता है।

(६) निदान कर्ता—चक्रवर्ती इन्द्र आदि की ऋद्धि का निदान करने वाला साधु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का

पातक होता है,क्योंकि निदान आर्तध्यान है।

(ठाणांग ६ उ. ३ सूत्र ५२९) (धर्मसंग्रह ६ श्री प)

४४५—प्रत्यनीक के छः प्रकार

विरोधी सैन्य की तरह प्रतिकूल आचरण करने वाला व्यक्ति प्रत्यनीक कहलाता है।

प्रत्यनीक के छः भेद हैं—(१) गुरु प्रत्यनीक,(२) गति प्रत्यनीक, (३) समूह प्रत्यनीक, (४) अनुकम्पा प्रत्यनीक, (५) श्रुत प्रत्यनीक,(६) भाव प्रत्यनीक।

(१) गुरु प्रत्यनीक—आचार्य,उपाध्याय और स्थविर गुरु हैं। गुरु की जाति आदि से अवर्णवाद बोलना,दोष देखना,अहित करना,गुरु के सामने उनके वचनों का अपमान करना, उनके समीप न रहना, उनके उपदेश का उपहास करना,वैयावृत्य न करना आदि प्रतिकूल व्यवहार करने वाला गुरु प्रत्यनीक है। आचार्य,उपाध्याय और स्थविर के भेद से गुरु प्रत्यनीक के तीन भेद हैं। वय, श्रुत और दीक्षा पर्याय में बड़ा साधु स्थविर कहलाता है।

(२) गति प्रत्यनीक—गति की अपेक्षा प्रतिकूल आचरण करने वाला गति प्रत्यनीक है। इसके तीन भेद हैं—इहलोक प्रत्यनीक,परलोक प्रत्यनीक और उभयलोक प्रत्यनीक। पंचाग्नि तप करने वाले की तरह अज्ञानवश इन्द्रियों के प्रतिकूल आचरण करने वाला इहलोक प्रत्यनीक है। ऐसा करने वाला व्यर्थ ही इन्द्रिय और शरीर को दुःख पहुँचाता है और अपना वर्तमान भव बिगाड़ता है। इन्द्रिय विषयों में आसक्त रहने वाला परलोक प्रत्यनीक है। वह आसक्ति भाव से अशुभ कर्म उपार्जित करता है और परलोक में दुःख भोगता है। चोरी

आदि करने वाला उभयलोक प्रत्यनीक है। वह व्यक्ति अपने कुकृत्यों से यहाँ दण्डित होता है और परभव में दुर्गति पाता है।

(३) समूह प्रत्यनीक—समूह अर्थात् साधु समुदाय के विरुद्ध आचरण करने वाला समूह प्रत्यनीक है। कुलप्रत्यनीक, गण प्रत्यनीक और संघ प्रत्यनीक के भेद से समूह प्रत्यनीक तीन प्रकार का है। एक आचार्य की सन्तति कुल है,जैसे चन्द्रादि। आपस में सम्बन्ध रखने वाले तीन कुलों का समूह गण कह लाता है। ज्ञान,दर्शन और चारित्र गुणों से अलंकृत सकल साधुओं का समुदाय संघ है। कुल, गण और संघ के विरुद्ध आचरण करने वाले क्रमशः कुल प्रत्यनीक, गण प्रत्यनीक और संघ प्रत्यनीक कहे जाते हैं।

(४) अनुकम्पा प्रत्यनीक—अनुकम्पा योग्य साधुओं की आहारादि द्वारा सेवा के बदले उनके प्रतिकूल आचरण करने वाला साधु अनुकम्पा प्रत्यनीक है। तपस्वी,ग्लान और शैक्ष (नवदीक्षित) ये तीन अनुकम्पा योग्य हैं। अनुकम्पा के भेद से अनुकम्पा प्रत्यनीक के भी तीन भेद हैं—तपस्वी प्रत्यनीक, ग्लान प्रत्यनीक और शैक्ष प्रत्यनीक।

(५) श्रुत प्रत्यनीक—श्रुत के विरुद्ध आचरण करने वाला श्रुत प्रत्यनीक है। सूत्र, अर्थ और तदुभय के भेद से श्रुत तीन तरह का है। श्रुत के भेद से श्रुत प्रत्यनीक के भी सूत्र प्रत्य नीक, अर्थ प्रत्यनीक और तदुभय प्रत्यनीक ये तीन भेद हैं। शरीर,व्रत,प्रमाद,अप्रमाद आदि बातें लोक में प्रसिद्ध ही हैं,फिर शास्त्रों के अध्ययन से क्या लाभ ? निगोद,देव,नारकी आदि का ज्ञान भी व्यर्थ है। इस प्रकार शास्त्रज्ञान को निष्प्रयोजन या उसमें दोष बताने वाला श्रुत प्रत्यनीक है।

(६) भाव प्रत्यनीक— क्षायिकादि भावों के प्रतिकूल आचरण करने वाला भाव प्रत्यनीक है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद से भाव प्रत्यनीक के तीन भेद हैं ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विरुद्ध प्ररूपणा करना, इनमें दोष आदि दिखाना भाव प्रत्यनीकता है।

(भगवती शतक ८ उद्देशा ८ सूत्र ३३६)

४४६—गोचरी के छः प्रकार

जैसे गाय सभी प्रकार के तृणों को सामान्य रूप से चरती है उसी प्रकार साधु उत्तम, मध्यम तथा नीच कुलों में रागद्वेष रहित होकर विचरते हैं। शरीर को धर्मसाधन का अंग समझ कर उसका पालन करने के लिए आहार आदि लेते हैं। गाय की तरह, उत्तम, मध्यम आदि का भेद न होने से मुनियों की भिक्षावृत्ति भी गोचरी कहलाती है। अभिग्रह विशेष से इसके छः भेद हैं—

(१) पेटा—जिस गोचरी में साधु ग्रामादि को सन्दूक की तरह चार कोणों में बांट कर बीच के घरों को छोड़ता हुआ चारों दिशाओं में समश्रेणी से विचरता है, वह पेटा कहलाती है।

(२) अर्द्ध पेटा—उपरोक्त प्रकार से क्षेत्र को बांट कर केवल दो दिशाओं के घरों से भिक्षा लेना अर्द्ध पेटा गोचरी है।

(३) गोमूत्रिका—जमीन पर पड़े हुए गोमूत्र के आकार सरीखी भिक्षा के क्षेत्र की कल्पना करके भिक्षा लेना गोमूत्रिका गोचरी है। इसमें साधु आमने सामने के घरों में पहले बाईं पंक्ति में फिर दाहिनी पंक्ति में गोचरी करता है। इस क्रम से दोनों पंक्तियों के घरों से भिक्षा लेना गोमूत्रिका गोचरी है।

(४) पतंग वीथिका—पतंगिये की गति के समान अनियमित रूप से गोचरी करना पतंग वीथिका गोचरी है।

(५) शम्बूकावर्त्ता—शङ्ख के आवर्त्त की तरह वृत्त (गोल) गति वाली गोचरी शम्बूकावर्त्ता गोचरी है।

(६) गतप्रत्यागता—जिस गोचरी में साधु एक पंक्ति के घरों में गोचरी करता हुआ अन्त तक जाता है और लौटते समय दूसरी पंक्ति के घरों से गोचरी लेता है, उसे गतप्रत्यागता गोचरी कहते हैं।

(ठाणांग ६ उ. ३ सूत्र ५१४) (उत्तराध्ययन अ. ३०, गा. १९) (प्रवचनसारोद्धार द्वार ९७ गाथा ७४५) (धर्मसंग्रह अधि. ३ श्लो. २२ टीका पृ. १)

४४७—प्रतिलेखना की विधि के छः भेद

शास्त्रोक्त विधि से वस्त्रपात्रादि उपकरणों को उपयोगपूर्वक देखना प्रतिलेखना या पडिलेहणा है। इसकी विधि के छः भेद हैं—

(१) उड्ढं—उत्कटुक आसन से बैठ कर वस्त्र को तिर्छा और जमीन से ऊँचा रखते हुए प्रतिलेखना करनी चाहिये।

(२) थिरं—वस्त्र को मजबूती से स्थिर पकड़ना चाहिये।

(३) अतुरियं—बिना उपयोग के जल्दी २ प्रतिलेखना नहीं करनी चाहिये।

(४) पडिलेहे—वस्त्र के तीन भाग करके उसे दोनों तरफ अच्छी तरह देखना चाहिये।

(५) पप्फोडे—देखने के बाद यतणा से खंखेरना (धीरे २ झड़काना) चाहिये।

(६) पमज्जिज्जा—खंखारने के बाद वस्त्रादि पर लगे हुए जीव को हाथ में लेकर शोधना चाहिये।

(उत्तराध्ययन अध्ययन २६ गाथा २४)

४४८—अप्रमाद प्रतिलेखना छः

प्रमाद का त्याग कर उपयोगपूर्वक विधि से प्रतिलेखन करना अप्रमाद प्रतिलेखना है। इसके छः भेद हैं—

(१) अनर्तित—प्रतिलेखना करते हुए शरीर और वस्त्रादि को नचाना न चाहिये।
(२) अवलित—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र कहीं से मुड़ा न होना चाहिये। प्रतिलेखना करने वाले को भी शरीर बिना मोड़े सीधे बैठना चाहिये। अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र और शरीर को चंचल न रखना चाहिये।
(३) अननुबन्धी—वस्त्र को झड़काना न चाहिये।
(४) अमोसली—धान्यादि कूटते समय ऊपर नीचे और तिर्छा लगने वाले मूसल की तरह प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर,नीचे या तिर्छे दीवाल आदि से न लगाना चाहिये।
(५) षट्पुरिमनवखोटका—(छ पुरिमा नव खोड़ा)—
प्रतिलेखना में छः पुरिम और नव खोड़ करने चाहिये। वस्त्र के दोनों हिस्सों को तीन तीन बार खंखेरना छः पुरिम है। तथा वस्त्र को तीन तीन बार पूज कर तीन बार शोधना नव खोड़ है।
(६) पाणि-प्राण-विशोधन—वस्त्रादि पर चलता हुआ कोई जीव दिखाई दे तो उसका अपने हाथ पर उतार कर रक्षण करना।
(ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ५ ३)(उत्तराध्ययन अध्ययन २६ गा.२५)

४४९—प्रमाद प्रतिलेखना छः

प्रमाद पूर्वक की जाने वाली प्रतिलेखना प्रमाद प्रतिलेखना है। वह छः प्रकार की है —
(१) आरभटा—विपरीत रीति से या उतावल के साथ प्रतिलेखना करना अथवा एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधूरी छोड़ कर दूसरे वस्त्र की करने लग जाना आरभटा प्रतिलेखना है।

(२) सम्मर्दा—जिस प्रतिलेखना में वस्त्र के कोने मुड़े रहें अर्थात् सल न निकाले जायँ वह सम्मर्दा प्रतिलेखना है अथवा प्रतिलेखना के उपकरणों पर बैठ कर प्रतिलेखना करना सम्मर्दा प्रतिलेखना है।

(३) मोसली—जैसे कूटते समय मूसल ऊपर नीचे और तिर्छे लगता है उसी प्रकार प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर नीचे या तिर्छे लगाना मोसली प्रतिलेखना है।

(४) प्रस्फोटना—जिस प्रकार धूल से भरा हुआ वस्त्र जोर से झड़काया जाता है उसी प्रकार प्रतिलेखना के वस्त्र को जोर से झड़काना प्रस्फोटना प्रतिलेखना है।

(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखना किए हुए वस्त्रों को बिना प्रतिलेखना किए हुए वस्त्रों में मिला देना विक्षिप्ता प्रतिलेखना है अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले आदि को ऊपर की ओर फेंकना विक्षिप्ता प्रतिलेखना है।

(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे और पसवाड़े हाथ रखना अथवा दोनों घुटनों या एक घुटने को भुजाओं के बीच रखना वेदिका प्रतिलेखना है।

वेदिका के पांच भेद पांचवें बोल नं० ३२२ में दिये जा चुके हैं।

(ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ५०३) (उत्तराध्ययन अध्ययन २६ गाथा

४५०—गण को धारण करने वाले के छः गुण

छः गुणों वाला साधु गण अर्थात् समुदाय को धारण कर सकता है अर्थात् साधु समुदाय को मर्यादा में रख सकता है। छः गुण ये हैं—

(१) श्रद्धा सम्पन्नता—गण धारण करने वाला दृढ़ श्रद्धा

अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्पन्न होना चाहिये। श्रद्धालु स्वयं मर्यादा में रहता है और दूसरों को मर्यादा में रख सकता है।
(२) सत्य सम्पन्नता—सत्यवादी एवं प्रतिज्ञाशूर मुनि गण पालक होता है। उसके वचन आदेय (ग्रहण करने योग्य) होते हैं।
(३) मेधाविपन—मर्यादा को समझने वाला अथवा श्रुतग्रहण की शक्ति वाला बुद्धिमान् पुरुष मेधावी कहलाता है। मेधावी साधु अन्य साधुओं से मर्यादा का पालन करा सकता है तथा दूसरे से विशेष श्रुत ज्ञान ग्रहण करके शिष्यों को पढ़ा सकता है।
(४) बहुश्रुतता—गणपालक का बहुश्रुत होना भी आवश्यक है। जो साधु बहुश्रुत नहीं है वह गण में ज्ञान की वृद्धि नहीं कर सकता। शास्त्र सम्मत क्रिया का पालन करना एवं अन्य साधुओं से कराना भी उसके लिये सम्भव नहीं है।
(५) शक्तिमत्ता—शरीरादि की सामर्थ्य सम्पन्न होना जिससे आपत्तिकाल में अपनी एवं गच्छ की रक्षा की जा सके।
(६) अल्पाधिकरणता—अधिकरण शब्द का अर्थ है विग्रह। अल्पाधिकरण अर्थात् स्वपक्ष सम्बन्धी या परपक्षसम्बन्धी विग्रह (लड़ाई झगड़ा) रहित साधु शिष्यों की अनुपालना भली प्रकार कर सकता है।

(ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ४७५)

४५१—आचार्य के छः कर्तव्य

संघ की व्यवस्था के लिए आचार्य को नीचे लिखी छः बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(१) सूत्रार्थस्थिरीकरण—सूत्र के विवादग्रस्त अर्थ का निश्चय करना अथवा सूत्र और अर्थ में चतुर्विध संघ को स्थिर करना।

(२) विनय—सब के साथ नम्रता से व्यवहार करना।
(३) गुरुपूजा—अपने से बड़े अर्थात् स्थविर साधुओं की भक्ति करना।
(४) शैक्षबहुमान—शिक्षा ग्रहण करने वाले और नवदीक्षित साधुओं का सत्कार करना।
(५) दानपतिश्रद्धावृद्धि—दान देने में दाता की श्रद्धा बढ़ाना।
(६) बुद्धिबलवर्द्धन—अपने शिष्यों की बुद्धि तथा आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाना।

(ठाणांग ६ उ. ३ सूत्र ५०० टीका)

४५२—श्रावक के छः गुण

देशविरति चारित्र का पालन करने वाला श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति श्रावक कहलाता है। इस के छः गुण हैं—

(१) श्रावक व्रतों का भली प्रकार अनुष्ठान करता है। व्रतों का अनुष्ठान चार प्रकार से होता है—
(क) विनय और बहुमानपूर्वक व्रतों को सुनना।
(ख) व्रतों के भांग, भेद और अतिचारों को सांगोपांग यथार्थ रूप से जानना।
(ग) गुरु के समीप कुछ काल अथवा सदा के लिए व्रतों का अंगीकार करना।
(घ) ग्रहण किए हुए व्रतों को सम्यक् प्रकार पालना।

(२) श्रावक शीलवान् होता है। शील (आचार) छः प्रकार का है।
(क) जहाँ बहुत से शीलवान् बहुश्रुत साधर्मिक लोग एकत्र हों उस स्थान को आयतन कहते हैं, वहाँ आना जाना रखना।
(ख) बिना कार्य दूसरे के घर में न जाना।
(ग) चमकीला भड़कीला वेष न रखते हुए सादे वस्त्र पहनना।

(घ) विकार उत्पन्न करने वाले वचन न कहना।

(ङ) बालक्रीड़ा अर्थात् जुआ आदि कुव्यसनों का त्याग करना।

(च) मधुर नीति से अर्थात् शान्तिमय मीठे वचनों से कार्य निकालना, कठोर वचन न बोलना।

(३) श्रावक गुणवान होता है। यों तो गुण अनेक हैं पर यहाँ पाँच विशेष गुणों से प्रयोजन है।

(क) वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा रूप पाँच प्रकार की स्वाध्याय करना।

(ख) तप, नियम, वन्दनादि अनुष्ठानों में तत्पर रहना।

(ग) विनयवान् होना।

(घ) दुराग्रह अर्थात् हठ न करना।

(ङ) जिन वचनों में रुचि रखना।

(४) श्रावक ऋजुव्यवहारी होता है अर्थात् निष्कपट होकर सरल भाव से व्यवहार करता है।

(५) श्रावक गुरु की शुश्रूषा (सेवाभक्ति) करने वाला होता है।

(६) श्रावक प्रवचन अर्थात् शास्त्रों के ज्ञान में प्रवीण होता है।

(धर्मरत्न प्रकरण गाथा ३३)

४५३—समकित के छः स्थान

नव तत्त्व और छः द्रव्यों में दृढ़ श्रद्धा होना समकित (सम्यक्त्व) है। समकित धारण करने वाले व्यक्ति को नीचे लिखी छः बातों में दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए।

(१) चेतना लक्षण जीव का अस्तित्व है।

(२) जीव शाश्वत अर्थात् उत्पत्ति और विनाश रहित है।

(३) जीव कर्मों का कर्त्ता है।

(४) अपने किए हुए कर्मों का जीव स्वयं भोक्ता है।

(५) राग,द्वेष,मद,मोह,जन्म,जरा, रोगादि का अत्यन्त क्षय हो जाना मोक्ष है।
(६) सम्यग्ज्ञान,दर्शन और चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का उपाय हैं।
(धर्मसंग्रह अधिकार २ श्लोक २२ टी पृ ४६)(प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गाथा ६४१)

४५४—समकित की छः भावना

विविध विचारों से समकित में दृढ़ होना समकित की भावना है। वे छः हैं—
(१) सम्यक्त्व धर्म रूपी वृक्ष का मूल है।
(२) सम्यक्त्व धर्म रूपी नगर का द्वार है।
(३) सम्यक्त्व धर्म रूपी महल की नींव है।
(४) सम्यक्त्व धर्म रूपी जगत का आधार है।
(५) सम्यक्त्व धर्म रूपी वस्तु को धारण करने का पात्र है।
(६) सम्यक्त्व चारित्र धर्म रूपी रत्न की निधि(कोष) है।
(प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गाथा ६४)(धर्मसंग्रह अधिकार २ श्लोक २२टीका पृ ४२)

४५५—समकित के छः आगार

व्रत अङ्गीकार करते समय पहले से रखी हुई छूट को आगार कहते हैं। सम्यक्त्वधारी श्रावक के लिये अन्यतीर्थिक तथा उसके माने हुए देवादि को वन्दना नमस्कार करना, उनसे आलाप संलाप करना और गुरुबुद्धि से उन्हें आहारादि देना नहीं कल्पता। इसमें छः आगार हैं—
(१) राजाभियोग —राजा की पराधीनता (दबाव) से यदि समकितधारी श्रावक को अनिच्छापूर्वक अन्यतीर्थिक तथा उनके माने हुए देवादि को वन्दना नमस्कार आदि करना पड़े तो श्रावक सम्यक्त्व व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।

(५) राग,द्वेष,मद,मोह,जन्म,मरा, रोगादि का अत्यन्त क्षय हो जाना मोक्ष है।

(६) सम्यग्ज्ञान,दर्शन और चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का उपाय हैं।

(धर्मसंग्रह अधिकार २ श्लोक २२ टी पृ ४६)(प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गाथा ६४१)

४५४—समकित की छः भावना

विविध विचारों से समकित में दृढ़ होना समकित की भावना है। वे ये हैं—

(१) सम्यक्त्व धर्म रूपी वृक्ष का मूल है।
(२) सम्यक्त्व धर्म रूपी नगर का द्वार है।
(३) सम्यक्त्व धर्म रूपी महल की नींव है।
(४) सम्यक्त्व धर्म रूपी जगत का आधार है।
(५) सम्यक्त्व धर्म रूपी वस्तु को धारण करने का पात्र है।
(६) सम्यक्त्व चारित्र धर्म रूपी रत्न की निधि(कोष) है।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गाथा ६४)(धर्मसंग्रह अधिकार २ श्लोक २२टीका पृ ४१)

४५५—समकित के छः आगार

व्रत अङ्गीकार करते समय पहले से रखी हुई छूट को आगार कहते हैं। सम्यक्त्वधारी श्रावक के लिये अन्यतीर्थिक तथा उसके माने हुए देवादि को वन्दना नमस्कार करना, उनसे आलाप संलाप करना और गुरुबुद्धि से उन्हें आहारादि देना नहीं कल्पता। इसमें छः आगार हैं—

(१) राजाभियोग —राजा की पराधीनता (दबाव) से यदि समकितधारी श्रावक को अनिच्छापूर्वक अन्यतीर्थिक तथा उनके माने हुए देवादि को वन्दना नमस्कार आदि करना पड़े तो श्रावक सम्यक्त्व व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।

(५) राग द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, रोगादि का अत्यन्त क्षय हो जाना मोक्ष है।

(६) सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का उपाय हैं।

(धर्मसंग्रह अधिकार २ श्लोक २२ टी पृ ४९)(प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गाथा ९४

४५४—समकित की छ भावना

विविध विचारों से समकित में दृढ़ होना समकित की भावना है। वे छः हैं—

(१) सम्यक्त्व धर्म रूपी वृक्ष का मूल है।

(२) सम्यक्त्व धर्म रूपी नगर का द्वार है।

(३) सम्यक्त्व धर्म रूपी महल की नींव है।

(४) सम्यक्त्व धर्म रूपी जगत का आधार है।

(५) सम्यक्त्व धर्म रूपी वस्तु को धारण करने का पात्र है।

(६) सम्यक्त्व चारित्र धर्म रूपी रत्न की निधि (कोष) है।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गाथा ९४)(धर्मसंग्रह अधिकार २ श्लोक २२टीका पृ४९)

४५५—समकित के छ आगार

व्रत अङ्गीकार करते समय पहले से रखी हुई छूट को आगार कहते हैं। सम्यक्त्वधारी श्रावक के लिये अन्यतीर्थिक तथा उसके माने हुए देवादि को वन्दना नमस्कार करना, उनसे आलाप संलाप करना और गुरुबुद्धि से उन्हें आहारादि देना नहीं कल्पता। इसमें छः आगार हैं—

(१) राजाभियोग —राजा की पराधीनता (दबाव) से यदि समकितधारी श्रावक को अनिच्छापूर्वक अन्यतीर्थिक तथा उनके माने हुए देवादि को वन्दना नमस्कार आदि करना पड़े तो श्रावक सम्यक्त्व व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।

(२) गणाभियोग—गण का अर्थ है समुदाय या संघ। संघ के आग्रह से अनिच्छापूर्वक अन्यतीर्थिक और उनके माने हुए देवादि को वन्दना नमस्कार करना पड़े तो श्रावक समकित व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।

(३) बलाभियोग—बलवान् पुरुष द्वारा विवश किया जाने पर अन्यतीर्थिक को वन्दना नमस्कार आदि करना पड़े तो श्रावक समकित व्रत का उल्लंघन नहीं करता।

(४) देवाभियोग—देवता द्वारा बाध्य होने पर अन्यतीर्थिक को वन्दना नमस्कार आदि करना पड़े तो श्रावक समकित व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।

(५) गुरुनिग्रह— माता पिता आदि गुरुजन के आग्रह वश अनिच्छा से अन्यतीर्थिक को वन्दना नमस्कार करने पर श्रावक समकित से नहीं गिरता।

(६) वृत्तिकान्तार—वृत्ति का अर्थ है आजीविका और कान्तार शब्द का अर्थ है अटवी (जंगल)। जैसे अटवी में आजीविका प्राप्त करना कठिन है, उसी प्रकार क्षेत्र और काल आजीविका के प्रतिकूल हो जायँ और निर्वाह होना कठिन हो जाय, ऐसी दशा में न चाहते हुए भी अन्यतीर्थिक को वन्दना नमस्कार आदि करना पड़े तो श्रावक समकित व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।

आवश्यक सूत्र में इन छः आगारों के छः दृष्टान्त दिये गये हैं।

(उपासकदशांग अध्ययन १ सू ८) (आवश्यक अध्ययन ६ पृष्ठ ८१)
(धर्मसंग्रह अधिकार २ श्लोक २२ टीका पृष्ठ ४१)

४५६—प्रमाद छः

विषय भोगों में आसक्त रहना, शुभ क्रिया में उद्यम तथा शुभ उपयोग का न होना प्रमाद है। इसके छः भेद हैं—

(४) पाँचवें बोल संग्रह के बोल नं० ३६१ में प्रमाद के पाँच भेदों में (१) मद्य, (२) निद्रा, (३) विषय और, (४) कषाय रूप चार प्रमादों का स्वरूप दिया जा चुका है।

(५) द्यूत प्रमाद—जुआ खेलना द्यूत प्रमाद है। जुए के बुरे परिणाम संसार में प्रसिद्ध हैं। जुआरी का कोई विश्वास नहीं करता। यह अपना धन, धर्म, इहलोक, परलोक सब कुछ बिगाड़ लेता है।

(६) प्रत्युपेक्षणा प्रमाद—बाह्य और आभ्यन्तर वस्तु को देखने में आलस्य करना प्रत्युपेक्षणा प्रमाद है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से प्रत्युपेक्षणा चार प्रकार की है।

(क) द्रव्य प्रत्युपेक्षणा—वस्त्र पात्र आदि उपकरण और अशनादि आहार का देखना द्रव्य प्रत्युपेक्षणा है।

(ख) क्षेत्र प्रत्युपेक्षणा—कायोत्सर्ग, सोने, बैठने, स्थण्डिल, मार्ग तथा विहार आदि के स्थान को देखना क्षेत्र प्रत्युपेक्षणा है।

(ग) काल प्रत्युपेक्षणा—उचित अनुष्ठान के लिए काल विशेष का विचार करना काल प्रत्युपेक्षणा है।

(घ) भाव प्रत्युपेक्षणा—मैंने क्या क्या अनुष्ठान किए हैं, मुझे क्या करना बाकी रहा है एवं मैं करने योग्य किस तप का आचरण नहीं कर रहा हूँ, इस प्रकार मध्य रात्रि के समय धर्म जागरणा करना भाव प्रत्युपेक्षणा है।

उक्त भेदों वाली प्रत्युपेक्षणा में शिथिलता करना अथवा तत् सम्बन्धी भगवदाज्ञा का अतिक्रमण करना प्रत्युपेक्षणा प्रमाद है।

(ठाणांग ६ उ० ३ सूत्र ५०२)

४५७—उन्माद के छः बोल

महामिथ्यात्व अथवा हित और अहित के विवेक को भूल

माना उन्माद है। छः कारणों से जीव को उन्माद की प्राप्ति होती है। वे इस प्रकार हैं—

(१) अरिहन्त भगवान् (२) अरिहन्त प्रणीत श्रुत चारित्र रूप धर्म (३) आचार्य उपाध्याय महाराज (४) चतुर्विध संघ का अवर्णवाद कहता हुआ या उनकी अवज्ञा करता हुआ जीव मिथ्यात्व पाता है। (५) निमित्त विशेष से कुपित देव से आक्रान्त हुआ जीव मिथ्यात्व पाता है। (६) मोहनीय कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व पाता है।

(ठाणांग ६ उ. ३ सूत्र ५०१)

४५८—अनात्मवान् (सकषाय) के लिए अहितकर स्थान छः

जो आत्मा कषाय रहित होकर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित नहीं है अर्थात् कषायों के वश होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है, ऐसे सकषाय आत्मा को अनात्मवान् कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति को नीचे लिखे छः बोल प्राप्त होने पर वह अभिमान करने लगता है। इस लिए ये बातें उसके लिए अहितकर, अशुभ, पाप तथा दुःख का कारण, अशान्ति करने वाली, अकल्याण कर तथा अशुभ बन्ध का कारण होती हैं। मान का कारण होने से इहलोक और परलोक को बिगाड़ती हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) पर्याय—दीक्षापर्याय अथवा उमर का अधिक होना।
(२) परिवार—शिष्य, प्रशिष्य आदि की अधिकता।
(३) श्रुत—शास्त्रीय ज्ञान का अधिक होना।
(४) तप—तपस्या में अधिक होना।
(५) लाभ—अशन, पान, वस्त्र, पात्र आदि की अधिक प्राप्ति।

(६) पूजासत्कार—जनता द्वारा अधिक आदर, सन्मान मिलना।

यही छः बातें आत्मार्थी अर्थात् कषाय रहित साधु के लिए शुभ होती हैं। वह इन्हें धर्म का प्रभाव समझ कर तपस्या आदि में अधिकाधिक प्रवृत्त होता है।

(ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ४८९)

४५९—अप्रशस्त वचन छः

बुरे वचनों को अप्रशस्त वचन कहते हैं। ये साधु साध्वियों को नहीं कल्पते। इनके छः भेद हैं—

(१) अलीकवचन—असत्य वचन कहना।

(२) हीलितवचन—ईर्ष्यापूर्वक दूसरे को नीचा दिखाने वाले अवहेलना के वचन कहना।

(३) खिंसितवचन—दीक्षा से पहले की जाति या कर्म आदि को बार बार कह कर चिढ़ाना।

(४) परुषवचन—कठोर वचन कहना।

(५) गृहस्थवचन—गृहस्थों की तरह किसी को पिता, चाचा, मामा आदि कहना।

(६) व्यवशमित—शान्त कलह को उभारने वाले वचन कहना।

(ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ५२७)(प्रवचनसारोद्धार द्वार २३५ गाथा १३११)(बृहत्कल्प उ.६ की न)

४६०—झूठा कलङ्क लगाने वाले को प्रायश्चित्त

नीचे लिखी छः बातों में झूठा कलङ्क लगाने वाले को उतना ही प्रायश्चित्त आता है जितना उस दोष के वास्तविक सेवन करने पर आता है—

(१) हिंसा न करने पर भी किसी व्यक्ति पर हिंसा का दोष लगाना।

(२) झूठ न बोलने पर भी दूसरे व्यक्ति पर झूठ बोलने का कलङ्क लगाना।
(३) चोरी न करने पर भी चोरी का दोष मढ़ना।
(४) ब्रह्मचर्य का भंग न करने पर भी उस के भंग का दोष लगाना।
(५) किसी साधु के लिए झूठमूठ कह देना कि यह क्लीब (हींजड़ा) है या पुरुष नहीं है।
(६) किसी साधु के लिए यह कहना कि यह पहिले दास था और इस अमुक व्यक्ति ने मोल लिया था।

(बृहत्कल्प उद्देशा ६ सूत्र २)

४६१—हिंसा के छः कारण

छः कारणों से जीव कर्म बन्ध का हेतु रूप छः काय का आरम्भ करता है।

(१) जीवन निर्वाह के लिये (२) लोगों से प्रशंसा पाने के लिये (३) लोगों से सन्मान पाने के लिये (४) अन्न-पान वस्त्र आदि से सत्कार पाने के लिये (५) जन्म मरण से छूट कर मुक्ति के लिये (६) दुःखों का नाश कर सुख पाने के लिये।

(आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध अध्ययन १ उद्देशा १ सूत्र ११)

४६२—जीव निकाय छः

निकाय शब्द का अर्थ है राशि। जीवों की राशि को जीव निकाय कहते हैं। यही छः काय शब्द से भी प्रसिद्ध है। शरीर नाम कर्म के उदय से होने वाली औदारिक और वैक्रिय पुद्गलों की रचना और वृद्धि को काय कहते हैं। काय के भेद से जीव भी छः प्रकार के हैं। जीव निकाय के छः भेद इस प्रकार हैं–

(१) पृथ्वीकाय—जिन जीवों का शरीर पृथ्वी रूप है वे पृथ्वीकाय कहलाते हैं।
(२) अप्काय—जिन जीवों का शरीर जल रूप है वे अप्काय कहलाते हैं।
(३) तेजस्काय—जिन जीवों का शरीर अग्नि रूप है वे तेजस्काय कहलाते हैं।
(४) वायुकाय—जिन जीवों का शरीर वायु रूप है वे वायुकाय कहलाते हैं।
(५) वनस्पतिकाय—वनस्पति रूप शरीर को धारण करने वाले जीव वनस्पतिकाय कहलाते हैं।

ये पाँचों ही स्थावर काय कहलाते हैं। इनके केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है। ये शरीर जीवों को स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त होते हैं।

(६) त्रसकाय— त्रस नाम कर्म के उदय से चलने फिरने योग्य शरीर को धारण करने वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रसकाय कहलाते हैं।

(ठाणांग ६ उ ३ सू ४)(दशवैकालिक चौथा अध्ययन) (कर्म ग्रन्थ ४ गाथा १)

४६३—जीवनिकाय की कुलकोटियाँ छः

कुल अर्थात् जातिविशेष को कुलकोटि कहते हैं। पृथ्वीकाय आदि छः कायों की कुलकोटियाँ इस प्रकार हैं—

(१) पृथ्वीकाय की बारह लाख कुलकोटियाँ हैं।
(२) अप्काय की सात लाख।
(३) तेउकाय की तीन लाख।
(४) वायुकाय की सात लाख।
(५) वनस्पतिकाय की अट्ठाईस लाख।

(६) त्रस काय में बेइन्द्रियों की सात लाख । तेइन्द्रिय की आठ लाख । चौरिन्द्रिय की नौ लाख । पञ्चेन्द्रिय जलचरों की साढे बारह लाख । खेचर अर्थात् पक्षियों की बारह लाख । हाथी घोड़े वगैरह चौपायों की दस लाख । उर अर्थात् छाती से चलने वाले साँप वगैरह की दस लाख । भुजा से चलने वाले नेवला चूहे आदि की नौ लाख। देवों की छब्बीस लाख नारकी के जीवों की पच्चीस लाख । मनुष्यों की बारह लाख । कुल मिलाकर एक करोड़ सत्तानवे लाख पचास हजार कुल कोटियाँ हैं ।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार १५ गाथा ६६१से ६६७)

४६४—छः काय का अल्पबहुत्व

एक दूसरे की अपेक्षा क्या अधिक है और क्या कम है, इस बात के वर्णन को अल्पबहुत्व कहते हैं । छः काय के जीवों का अल्पबहुत्व नीचे लिखे अनुसार है—

(१) सब से थोड़े त्रस काय के जीव हैं ।
(२) इन से तेजस्काय के जीव असंख्यात गुणे अधिक हैं ।
(३) पृथ्वी काय के तेजस्काय से विशेषाधिक हैं ।
(४) अप्काय के पृथ्वीकाय से विशेषाधिक हैं ।
(५) वायुकाय के अप्काय से विशेषाधिक हैं ।
(६) वनस्पति काय के सब से अनन्त गुणे हैं ।

(जीवाभिगम प्रतिपत्ति ९ सूत्र ६२)(पन्नवणा पद ३ द्वार ४)

४६५—पृथ्वी के भेद छः

काठिन्यादि गुणों वाले पदार्थ को पृथ्वी कहते हैं । इसके छः भेद हैं ।

(१) श्लक्ष्णपृथ्वी—पत्थर के चूरे सरीखी धरती ।

(२) शुद्धपृथ्वी—पर्वतादि के मध्य में होने वाली शुद्ध मिट्टी।
(३) मन शिलापृथ्वी—लाल वर्ण की एक उपधातु जो दवा इयों में काम आती है। इसे मेनसिल भी कहा जाता है।
(४) वालुकापृथ्वी—रजकण या बालू रेत।
(५) शर्करापृथ्वी—कंकरीली जमीन।
(६) खरपृथ्वी—पथरीली जमीन।

(जीवाभिगम प्रतिपत्ति १ सूत्र १ १)

४६६—बादर वनस्पतिकाय छः

स्थूल शरीर वाले वनस्पति काय के जीवों को बादर वनस्पति काय कहते हैं। इन के छः भेद हैं—

(१) अग्रबीज—जिस वनस्पति काय का अग्रभाग बीज रूप होता है जैसे कोरण्टक आदि। अथवा जिस वनस्पति का बीज अग्रभाग पर होता है जैसे धान वगैरह।
(२) मूलबीज—जिस वनस्पति का मूलभाग बीज का काम देता है, जैसे कमल आदि।
(३) पर्वबीज—जिस वनस्पति का पर्वभाग (गांठ) बीज का काम देता है, जैसे इक्षु (गन्ना) आदि।
(४) स्कन्धबीज—जिस वनस्पति का स्कन्धभाग बीज का काम देता है, जैसे शल्लकी वगैरह।
(५) बीजरुह—बीज से उगने वाली वनस्पति बीजरुह कह लाती है, जैसे शालि वगैरह।
(६) सम्मूर्छिम—जिस वनस्पति का प्रसिद्ध कोई बीज नहीं है और जो वर्षा आदि के समय यों ही उग जाती है, जैसे तृण वगैरह।

(दशवैकालिक अध्ययन ४ सू. १)

४६७—क्षुद्र प्राणी छः

त्रस होने पर भी जो प्राणी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, या जिनमें देव उत्पन्न नहीं होते उन्हें क्षुद्र प्राणी कहते हैं। इनके छः भेद हैं—

(१) बेइन्द्रिय—स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियों वाले जीव।
(२) तेइन्द्रिय—स्पर्शन, रसना और घ्राण तीन इन्द्रियों वाले जीव।
(३) चौरिन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु चार इन्द्रियों वाले जीव।
(४) सम्मूर्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च— पाँचों इन्द्रियों वाले बिना मन के असंज्ञी तिर्यञ्च।
(५) तेउकाय—अग्निकाय जीव।
(६) वायुकाय—हवा के जीव।

नोट—बिना दूसरे की सहायता के स्वयं-चलन क्रिया वाला होने से अग्नि और वायु के जीव भी त्रस कहे जाते हैं।

(ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ५१३)

४६८—जीव के संस्थान (संठाण) छः

शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। इसके छः भेद हैं—

(१) समचतुरस्र संस्थान—सम का अर्थ है समान, चतुः का अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण। पालथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, वाम स्कन्ध और दक्षिण जानु का अन्तर तथा दक्षिण स्कन्ध और वाम जानु का अन्तर समान हो उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण

अवयव ठीक प्रमाण वाले हों उस समचतुरस्र संस्थान कहते हैं।
(२) न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान— वट वृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं। जैसे वट वृक्ष ऊपर के भाग में फैला हुआ होता है और नीचे के भाग में संकुचित, उसी प्रकार जिस संस्थान में नाभि के ऊपर का भाग विस्तार वाला अर्थात् शरीर शास्त्र में बताए हुए प्रमाण वाला हो और नीचे का भाग हीन अवयव वाला हो उस न्यग्रोध परिमंडल संस्थान कहते हैं।
(३) सादि संस्थान— यहाँ सादि शब्द का अर्थ नाभि से नीचे का भाग है। जिस संस्थान में नाभि के नीचे का भाग पूर्ण और ऊपर का भाग हीन हो उसे सादि संस्थान कहते हैं।
कहीं कहीं सादि संस्थान के बदले साची संस्थान भी मिलता है। साची सेमल (शाल्मली) वृक्ष को कहते हैं। शाल्मली वृक्ष का धड़ जैसा पुष्ट होता है वैसा ऊपर का भाग नहीं होता। इसी प्रकार जिस शरीर में नाभि के नीचे का भाग परिपूर्ण होता है पर ऊपर का भाग हीन होता है वह साची संस्थान है।
(४) कुब्ज संस्थान— * जिस शरीर में हाथ पैर सिर गर्दन आदि अवयव ठीक हों पर छाती पेट पीठ आदि टेढ़े हों उस कुब्ज संस्थान कहते हैं।
(५) वामन संस्थान— * जिस शरीर में छाती पीठ पेट आदि अवयव पूर्ण हों पर हाथ पैर आदि अवयव छोटे हों उस वामन संस्थान कहते हैं।
(६) हुंडक संस्थान— जिस शरीर के समस्त अवयव बेढ़ब हों

नोट— *आचारांग सूत्र, प्रवचनसारोद्धार और द्रव्यलोक प्रकाश में कुब्ज तथा वामन संस्थान के उपरोक्त लक्षण को व्यत्यय (उलट) करके दिये हैं।

अर्थात् एक भी अवयव शास्त्रोक्त प्रमाण के अनुसार न हो वह हुंडक संस्थान है।

(ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ४९५) (कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा ४)

४६९—अजीव के छः संस्थान

(१) परिमंडल-चूड़ी जैसा गोल आकार परिमंडल संस्थान है।

(२) वृत्त--कुम्हार के चक्र जैसा आकार वृत्त संस्थान है।

(३) त्र्यस्र—सिंघाड़े जैसा त्रिकोण आकार त्र्यस्र संस्थान है।

(४) चतुरस्र-- बाजोठ जैसा चतुष्कोण आकार चतुरस्र संस्थान है।

(५) आयत-- दंड जैसा दीर्घ (लम्बा) आकार आयत संस्थान है।

(६) अनित्थंस्थ— विचित्र अथवा अनियत आकार जो परिमंडलादि से बिल्कुल विलक्षण हो उसे अनित्थंस्थ संस्थान कहते हैं। वनस्पतिकाय एवं पुद्गलों में अनियत आकार होने से वे अनित्थंस्थ संस्थान वाले हैं। किसी प्रकार का आकार न होने से सिद्ध जीव भी अनित्थंस्थ संस्थान वाले होते हैं।

(भगवती शतक २५ उ १ सू ७२४)(पन्नवणा पद १ सूत्र ४)(जीवाभिगम प्रतिपत्ति १)

४७०—संहनन (संघयण) छः

हड्डियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं। इस के छः भेद हैं।

(१) वज्रऋषभ नाराच संहनन—वज्र का अर्थ कीला है, ऋषभ का अर्थ वेष्टन पट्ट (पट्टि) है और नाराच का अर्थ दोनों ओर से मर्कट बन्ध है। जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कट बन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृति

वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और जिसमें इन तीनों हड्डियों को भेदन वाली वज्र नामक हड्डी की कील हो उसे वज्र ऋषभ नाराच संहनन कहते हैं।

(२) ऋषभ नाराच संहनन—जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कट बन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो पर तीनों हड्डियों को भेदन वाली वज्र नामक हड्डी की कील न हो उसे ऋषभ नाराच संहनन कहते हैं।

(३) नाराच संहनन— जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कट बन्ध द्वारा जुड़ी हुई हड्डियाँ हों पर इनके चारों तरफ वेष्टन पट्ट और वज्र नामक कील न हो उसे नाराच संहनन कहते हैं।

(४) अर्धनाराच संहनन— जिस संहनन में एक ओर तो मर्कट बन्ध हो और दूसरी ओर कील हो उसे अर्ध नाराच संहनन कहते हैं।

(५) कीलिका संहनन— जिस संहनन में हड्डियाँ केवल कील से जुड़ी हुई हों उसे कीलिका संहनन कहते हैं।

(६) सेवार्तक संहनन— जिस संहनन में हड्डियाँ पर्यन्त भाग में एक दूसरे को स्पर्श करती हुई रहती हैं तथा सदा चिकने पदार्थों के प्रयोग एवं तैलादि की मालिश की अपेक्षा रखती हैं उसे सेवार्तक संहनन कहते हैं।

(पन्नवणा पद २३ सूत्र २९३) (प्रवचन० १ व ३ सूत्र ४९४)
(कर्मग्रन्थ भाग १ गाथा ३८ ३९)

४७१— लेश्या छः

जिससे कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो उसे लेश्या कहते हैं। द्रव्य और भाव के भेद से लेश्या दो प्रकार की है।

द्रव्य लेश्या पुद्गल रूप है। इसके विषय में तीन मत हैं—

(क) कर्म वर्गणा निष्पन्न।

(ख) कर्म निष्यन्द।

(ग) योग परिणाम।

पहले मत का आशय है कि द्रव्य लेश्या कर्मवर्गणा से बनी हुई है और कर्म रूप होते हुए भी कार्माण शरीर के समान आठ कर्मों से भिन्न है।

दूसरे मत का आशय है कि द्रव्य लेश्या कर्म निष्यन्द अर्थात् कर्म प्रवाह रूप है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म होने पर भी उन का प्रवाह (नवीन कर्मों का आना) न होने से वहाँ लेश्या के अभाव की संगति हो जाती है।

तीसरे मत का आशय है कि जब तक योग रहता है तब तक लेश्या रहती है। योग के अभाव में लेश्या भी नहीं होती, जैसे चौदहवें गुणस्थान में। इसलिए लेश्या योग परिणाम रूप है। इस मत के अनुसार लेश्या योगान्तर्गत द्रव्य रूप है अर्थात् मन वचन और काया के अन्तर्गत शुभाशुभ परिणाम के कारण भूत कृष्णादि वर्ण वाले पुद्गल ही द्रव्य लेश्या हैं। आत्मा में रही हुई कषायों को लेश्या बढ़ाती है। योगान्तर्गत पुद्गलों में कषाय बढ़ाने की शक्ति रहती है, जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है। (पन्नवणा पद १७) (कर्मग्रन्थ ४) (उत्त० अध्य० ३४)

योगान्तर्गत पुद्गलों के वर्णों की अपेक्षा द्रव्य लेश्या छः प्रकार की है— (१) कृष्ण लेश्या, (२) नील लेश्या, (३) कापोत लेश्या, (४) तेजो लेश्या, (५) पद्म लेश्या, (६) शुक्ल लेश्या। इन छहों लेश्याओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि, का सविस्तार वर्णन उत्तराध्ययन के ३४ वें अध्ययन और पन्नवणा

के १७ वें पद में है। पन्नवणा सूत्र में यह भी बताया गया है कि कृष्ण लेश्यादि के द्रव्य जब नील लेश्यादि के साथ मिलते हैं तब वे नील लेश्यादि के स्वभाव तथा वर्णादि में परिणत हो जाते हैं, जैसे दूध में छाछ डालने से वह छाछ रूप में परिणत हो जाता है, एवं वस्त्र को मजीठ में भिगोने से वह मजीठ के वर्ण का हो जाता है। किन्तु लेश्या का यह परिणाम केवल मनुष्य और तिर्यञ्च की लेश्या के सम्बन्ध में ही है। देवता और नारकी में द्रव्य लेश्या अवस्थित होती है इसलिए वहाँ अन्य लेश्या द्रव्यों का सम्बन्ध होने पर भी अवस्थित लेश्या सम्बध्यमान लेश्या के रूप में परिणत नहीं होती। वे अपने स्वरूप को रखती हुई सम्बध्यमान लेश्या द्रव्यों की छाया मात्र धारण करती हैं, जैसे वैडूर्य मणि में लाल धागा पिरोने पर वह अपने नील वर्ण को रखते हुए धागे की लाल छाया को धारण करती है।

(पन्नवणा पद १७ उ ४ सू २२६ टीका तथा उद्देशा ५ सू २३१)

भावलेश्या— योगान्तर्गत कृष्णादि द्रव्य यानि द्रव्यलेश्या के संयोग से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष भावलेश्या है। इसके दो भेद हैं— विशुद्ध भावलेश्या और अविशुद्ध भाव लेश्या।

विशुद्ध भावलेश्या—अकलुष द्रव्यलेश्या के सम्बन्ध होने पर कषाय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होनेवाला आत्मा का शुभ परिणाम विशुद्ध भावलेश्या है।

अविशुद्ध भावलेश्या— कलुषित द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर राग द्वेष विषयक आत्मा के अशुभ परिणाम अविशुद्ध भाव लेश्या हैं। (उत्त. अध्य ३४)

यही विशुद्ध एवं अविशुद्ध भावलेश्या कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल के भेद से छः प्रकार की है। आदिम तीन

अविशुद्ध भाव लेश्या है और अंतिम तीन अर्थात् चौथी, पाँचवीं और छठी विशुद्ध भाव लेश्या हैं छहों का स्वरूप क्रमशः नीचे दिया जाता है।

(१) कृष्ण लेश्या— काजल के समान काले वर्ण के कृष्ण लेश्या द्रव्य के सम्बन्ध से आत्मा में ऐसा परिणाम होता है कि जिससे आत्मा पाँच आश्रवों में प्रवृत्ति करने वाला, तीन गुप्ति से अगुप्त, छः काया की विरति से रहित, तीव्र आरम्भ की प्रवृत्ति सहित, क्षुद्र स्वभाव वाला, गुण दोष का विचार किये बिना ही कार्य करने वाला, ऐहिक और पारलौकिक बुरे परिणामों से न डरने वाला अतएव कठोर और क्रूर परिणामधारी तथा अजितेन्द्रिय हो जाता है। यही परिणाम कृष्ण लेश्या है।

(२) नील लेश्या— अशोक वृक्ष के समान नीले रंग के नील लेश्या के पुद्गलों का संयोग होने पर आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे आत्मा ईर्षा और अमर्ष वाला, तप और सम्यग्ज्ञान से शून्य, माया, निर्लज्जता, गृद्धि, प्रद्वेष, शठता, रसलोलुपता आदि दोषों का आश्रय, साता का गवेषक, आरंभ से अनिवृत्त, तुच्छ और साहसिक हो जाता है। यही परिणाम नील लेश्या है।

(३) कापोत लेश्या —कबूतर के समान रक्त कृष्ण वर्ण वाले द्रव्य कापोत लेश्या के पुद्गलों के संयोग से आत्मा में इस प्रकार का परिणाम उत्पन्न होता है कि वह विचारने, बोलने और कार्य करने में वक्र बन जाता है, अपने दोषों को ढकता है और सर्वत्र दोषों का आश्रय लेता है। वह नास्तिक बन जाता है और अनार्य की तरह प्रवृत्ति करता है। द्वेषपूर्ण तथा अत्यन्त कठोर वचन बोलता है। चोरी करने लगता है। दूसरे की उन्नति का

नहीं सह सकता। यही परिणाम कापोत लेश्या है।

(४) तेजो लेश्या— तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के द्रव्य तेजो लेश्या के पुद्गलों का सम्बन्ध होने पर आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि वह अभिमान का त्याग कर मन वचन और शरीर से नम्रवृत्ति वाला हो जाता है। चपलता, शठता और कौतूहल का त्याग करता है। गुरुजनों का उचित विनय करता है। पाँचों इन्द्रियों पर विजय पाता है एवं योग (स्वाध्यायादि व्यापार) तथा उपधान तप में निरत रहता है। धर्म कार्यों में रुचि रखता है एवं लिये हुए व्रत प्रत्याख्यान को दृढ़ता के साथ निभाता है। पाप से भय खाता है और मुक्ति की अभिलाषा करता है। इस प्रकार का परिणाम तेजो लेश्या है।

(५) पद्म लेश्या—हल्दी के समान पीले रंग के द्रव्य पद्म लेश्या के पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में ऐसा परिणाम होता है कि वह क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय को मन्द कर देता है। उसका चित्त शान्त रहता है एवं अपने को अशुभ प्रवृत्ति से रोक लेता है। योग एवं उपधान तप में लीन रहता है। वह मितभाषी सौम्य एवं जितेन्द्रिय बन जाता है। यही परिणाम पद्म लेश्या है।

(६) शुक्ल लेश्या—शंख के समान श्वेत वर्ण के द्रव्य शुक्ल लेश्या के पुद्गलों का संयोग होने पर आत्मा में ऐसा परिणाम होता है कि वह आर्त्त रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म एवं शुक्ल ध्यान का अभ्यास करता है। वह प्रशान्त चित्त और आत्मा का दमन करने वाला होता है एवं पाँच समिति तीन गुप्ति का आराधक होता है। अल्प राग वाला अथवा वीतराग हो जाता है। उसकी आकृति सौम्य एवं इन्द्रियाँ संयत होती हैं। यह

परिणाम शुक्ल लेश्या है। (कर्मग्रन्थ भा० १) (उत्त० अ० ३४ गा० २१ ३२)

छः लेश्याओं का स्वरूप समझाने के लिए शास्त्रकारों ने दो दृष्टान्त दिये हैं। वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

छः पुरुषों ने एक जामुन का वृक्ष देखा। वह पके हुए फलों से लदा था। शाखाएं नीचे की ओर झुक रही थीं। उसे देख कर उन्हें फल खाने की इच्छा हुई। सोचने लगे, किस प्रकार इसके फल खाये जायँ? एक ने कहा "वृक्ष पर चढ़ने में तो गिरने का खतरा है इसलिए इसे जड़ से काट कर गिरा दें और सुख से बैठ कर फल खावें" यह सुन कर दूसरे ने कहा "वृक्ष को जड़ से काट कर गिराने से क्या लाभ? केवल बड़ी बड़ी डालियाँ ही क्यों न काटली जायँ" इस पर तीसरा बोला, "बड़ी बड़ी डालियाँ न काट कर छोटी छोटी डालियाँ ही क्यों न काट ली जायँ? क्योंकि फल तो छोटी डालियों में ही लगे हुए हैं।" चौथे को यह बात पसन्द न आई, उसने कहा—"नहीं, केवल फलों के गुच्छे ही तोड़े जायँ। हमें तो फलों से ही प्रयोजन है।" पाँचवें ने कहा—"गुच्छे भी तोड़ने की जरूरत नहीं है, केवल पके हुए फल ही नीचे गिरा दिए जायँ।" यह सुन कर छठे ने कहा "जमीन पर काफी फल गिरे हुए हैं उन्हें ही खावें। अपना मतलब तो इन्हीं से सिद्ध हो जायगा।"

दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार है। छः क्रूर कर्मी डाकू किसी ग्राम में डाका डालने के लिए रवाना हुए। रास्ते में वे विचार करने लगे। उनमें से एक ने कहा "जो मनुष्य या पशु दिखाई दें सभी मार दिए जायँ।" यह सुन कर दूसरे ने कहा "पशुओं ने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा है। हमारा तो मनुष्यों के साथ विरोध है, इसलिये उन्हीं का वध करना चाहिये।" तीसरे ने

कहा—नहीं स्त्री हत्या महा पाप है। इसलिए क्रूर परिणाम वाले पुरुषों को ही मारना चाहिए।" यह सुन कर चौथा बोला— "यह ठीक नहीं। शस्त्र रहित पुरुषों पर वार करना बेकार है। इसलिए हम लोग तो सशस्त्र पुरुषों को ही मारेंगे।" पाँचवें चोर ने कहा— "सशस्त्र पुरुष भी यदि डर के मारे भागते हों तो उन्हें नहीं मारना चाहिए। जो शस्त्र लेकर लड़ने आवें उन्हें ही मारा जाय।" अन्त में छठे ने कहा—"हम लोग चोर हैं। हमें तो धन की जरूरत है। इसलिए जैसे धन मिले वही उपाय करना चाहिए। एक तो हम लोगों का धन चोरें और दूसरे उन्हें मारें भी, यह ठीक नहीं है। यों ही चोरी पाप है। इस पर हत्या का महापाप क्यों किया जाय।

दोनों दृष्टान्तों के पुरुषों में पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे इस प्रकार आगे आगे के पुरुषों के परिणाम क्रमशः अधिकाधिक शुभ हैं। इन परिणामों में उत्तरोत्तर संक्लेश की कमी एवं मृदुता की अधिकता है। यहाँ पहले पुरुष के परिणाम को कृष्ण लेश्या यावत् छठे के परिणाम को शुक्ल लेश्या समझना चाहिये।

(कर्मग्रन्थ भाग ४ पृष्ठ ११) (भाव ६ ग्रन्थ ४ पृष्ठ १४४)

यहाँ लेश्याओं में कृष्ण, नील और कापोत पाप का कारण होने से अधर्म लेश्या है। इनसे जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है। अन्तिम तीन तेजो पद्म और शुक्ल लेश्या धर्म लेश्या हैं। इन से जीव सुगति में उत्पन्न होता है। (उत्त० अ० ३४ गा० ५६ ५७)

जिस लेश्या को लिए हुए जीव मरता है उसी लेश्या को लेकर परभव में उत्पन्न होता है। लेश्या के प्रथम एवं चरम समय में जीव परभव में नहीं जाता किन्तु अन्तर्मुहूर्त बीतने पर और अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर ही परभव के लिये जाता है। मरते समय लेश्या का अन्तर्मुहूर्त बाकी रहता है। इसलिए परभव में भी जीव

उसी लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है।

(उत्तराध्ययन अ १४गा ५८-६) पन्न प १७ उ ४ सू २२५ टीका)
(भगवती शतक १ उद्देशा २) (उत्तराध्ययन अध्ययन ३४) (प्रज्ञापना पद १७)
(द्रव्यलोक प्रकाश सर्ग ३ श्लोक २८४-३८२) (कर्मग्रन्थ ४ गा १३ पृ ११)
(हरिभद्रीयावश्यक अ ४ पृ० ६४०)

४७२—पर्याप्ति छ —

आहारादि के लिए पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन्हें आहार, शरीर आदि रूप परिणमाने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। यह शक्ति पुद्गलों के उपचय से होती है। इस के छः भेद हैं-

(१) आहार पर्याप्ति*—जिस शक्ति से जीव आहार योग्य बाह्य पुद्गलों को ग्रहण कर उसे खल और रस रूप में बदलता है उसे आहार पर्याप्ति कहते हैं।

(२) शरीर पर्याप्ति—जिस शक्ति द्वारा जीव रस रूप में परिणत आहार को रस खून मांस चर्बी हड्डी मज्जा और वीर्य्य रूप सात धातुओं में बदलता है, उस शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

(३) इन्द्रिय पर्याप्ति— जिस शक्ति द्वारा जीव सात धातुओं में परिणत आहार को इन्द्रियों के रूप में परिवर्तित करता है उसे इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। अथवा पाँच इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके अनाभोग निवर्तित वीर्य्य द्वारा उन्हें इन्द्रिय रूप में लाने की जीव की शक्ति इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है।

(४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति— जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण

नोट—* आहार पर्याप्ति द्वारा बने हुए रस से शरीर पर्याप्ति द्वारा बना हुआ रस भिन्न प्रकार का है। शरीर पर्याप्ति द्वारा बने हुआ रस ही शरीर के बनने में उपयोगी होता है।

कहा—नहीं,स्त्री हत्या महा पाप है। इसलिए क्रूर परिणाम वाले पुरुषों को ही मारना चाहिए।" यह सुन कर चौथा बोला— "यह ठीक नहीं। शस्त्र रहित पुरुषों पर वार करना बेकार है। इसलिए हम लोग तो सशस्त्र पुरुषों को ही मारेंगे।" पाँचवें चोर ने कहा— "सशस्त्र पुरुष भी यदि डर के मारे भागते हों तो उन्हें नहीं मारना चाहिए। जो शस्त्र लेकर लड़ने आवें उन्हें ही मारा जाय।" अन्त में छठे ने कहा— "हम लोग चोर हैं। हमें तो धन की जरूरत है। इसलिए जैसे धन मिले वही उपाय करना चाहिए। एक तो हम लोगों का धन चोरें और दूसरे उन्हें मारें भी, यह ठीक नहीं है। यों ही चोरी पाप है। इस पर हत्या का महापाप क्यों किया जाय।

दोनों दृष्टान्तों के पुरुषों में पहले से दूसरे,दूसरे से तीसरे इस प्रकार आगे आगे के पुरुषों के परिणाम क्रमशः अधिकाधिक शुभ हैं। इन परिणामों में उत्तरोत्तर संक्लेश की कमी एवं मृदुता की अधिकता है। यहाँ में पहले पुरुष के परिणाम को कृष्ण लेश्या यावत् छठे के परिणाम को शुक्ल लेश्या समझना चाहिये।

(कर्मग्रन्थ भाग ४ पृष्ठ ११) (भाग ६ भाग ४ पृष्ठ १४४)

यहाँ लेश्याओं में कृष्ण,नील और कापोत पाप का कारण होने से अधर्म लेश्या है। इनसे जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है। अन्तिम तीन तेजो पद्म,और शुक्ल लेश्या धर्म लेश्या हैं। इन से जीव सुगति में उत्पन्न होता है। (उत्त म ३४ गा ५६ ५७)

जिस लेश्या को लिए हुए जीव चवता है उसी लेश्या को लेकर परभव में उत्पन्न होता है। लेश्या के प्रथम एवं चरम समय में जीव परभव में नहीं जाता किन्तु अन्तर्मुहूर्त बीतने पर और अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर ही परभव के लिए जाता है। मरते समय लेश्या का अन्तर्मुहूर्त बाकी रहता है। इसलिए परभव में भी जीव

उसी लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होता है।

(उत्तराध्ययन अ. ३४ गा. ५८-६) (पन्न. प. १७ उ. ४ सू. २२५ टीका)
(भगवती शतक १ उद्देशा २) (उत्तराध्ययन अध्ययन ३४) (प्रज्ञापना पद १७)
(प्रवचनसारोद्धार द्वार १ श्लोक १८४-१८२) (कर्मग्रन्थ ४ गा. १३ टीका)
(हरिभद्रीयावश्यक अ. ४ पृष्ठ ६४०)

४७२—पर्याप्ति छः—

आहारादि के लिए पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन्हें आहार, शरीर आदि रूप परिणमाने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। यह शक्ति पुद्गलों के उपचय से होती है। इस के छः भेद हैं-

(१) आहार पर्याप्ति*—जिस शक्ति से जीव आहार योग्य बाह्य पुद्गलों को ग्रहण कर उसे खल और रस रूप में बदलता है उसे आहार पर्याप्ति कहते हैं।

(२) शरीर पर्याप्ति—जिस शक्ति द्वारा जीव रस रूप में परिणत आहार को रस खून मांस चर्बी हड्डी मज्जा और वीर्य रूप सात धातुओं में बदलता है, उसे शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

(३) इन्द्रिय पर्याप्ति— जिस शक्ति द्वारा जीव सात धातुओं में परिणत आहार को इन्द्रियों के रूप में परिवर्तित करता है उसे इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। अथवा पाँच इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके अनाभोग निर्वर्तित वीर्य द्वारा उन्हें इन्द्रिय रूप में स्थापन करने की जीव की शक्ति इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है।

(४) श्वासोच्छ्‌वास पर्याप्ति— जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वासोच्छ्‌वास योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्‌वास के रूप में ग्रहण

नोट—* आहार पर्याप्ति द्वारा बना हुआ रस और शरीर पर्याप्ति द्वारा बना हुआ रस भिन्न प्रकार का है। शरीर पर्याप्ति द्वारा बना हुआ रस ही शरीर के बनने में उपयोगी होता है

करता है और छोड़ता है उस श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। इसी का आणापान पर्याप्ति एवं उच्छ्वास पर्याप्ति भी कहते हैं।
(५) भाषा पर्याप्ति— जिस शक्ति के द्वारा जीव भाषा योग्य भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें भाषा के रूप में परिणत करता तथा छोड़ता है उसे भाषा पर्याप्ति कहते हैं।
(६) मनःपर्याप्ति— जिस शक्ति के द्वारा जीव मन योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें मन के रूप में परिणत करता है तथा उनका अवलम्बन लेकर छोड़ता है उसे मनःपर्याप्ति कहते हैं।

श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति में अवलम्बन ले कर छोड़ना लिखा है। इसका आशय यह है कि इन्हें छोड़ने में शक्ति की आवश्यकता होती है और वह इन्हीं पुद्गलों का अवलम्बन लेने से उत्पन्न होती है। जैसे गेंद फेंकते समय हम उसे जोर से पकड़ते हैं और इससे हमें गेंद फेंकने में शक्ति प्राप्त होती है। अथवा बिल्ली ऊपर से कूदते समय अपने शरीर को संकुचित कर उससे सहारा लेती हुई कूदती है।

मृत्यु के बाद जीव उत्पत्ति स्थान में पहुँच कर कार्मण शरीर द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करता है और उनके द्वारा यथायोग्य सभी पर्याप्तियों को बनाना शुरू कर देता है। औदारिक शरीर धारी जीव के आहार पर्याप्ति एक समय में और शेष अन्त

प्राप्त करने के बाद १७६ आवलियों से आहार पर्याप्ति पूर्ण होती है। शरीर पर्याप्ति २०८ आवलियों के बाद। इसी प्रकार आगे ३२ ३२ आवलियाँ बढ़ाते जाना चाहिए।

इन छः पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीव के भाषा और मन पर्याप्ति के सिवाय चार पर्याप्तियाँ होती हैं। विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मनःपर्याप्ति के सिवाय पांच पर्याप्तियाँ होती हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

(पन्नवणा पद १ सूत्र १२ टीका) (भगवती शतक ३ उद्देशा १ सू. ११)
(प्रवचनसारोद्धार द्वार २३ गाथा १३१७–१३१८) (कर्मग्रन्थ १ गाथा ४६)

४७३—आयुबन्ध छः प्रकार का

आगामी भव में उत्पन्न होने के लिए जाति, गति, आयु वगैरह का बाँधना आयुबन्ध कहा जाता है। इसके छः भेद हैं—

(१) जाति नामनिधत्तायु— एकेन्द्रियादि जाति नाम कर्म के साथ निषेक को प्राप्त आयु जातिनामनिधत्तायु है।

निषेक—फलभोग के लिए होने वाली कर्म पुद्गलों की रचना विशेष को निषेक कहते हैं।

(२) गतिनामनिधत्तायु— नरकादि गति नामकर्म के साथ निषेक को प्राप्त आयु गतिनामनिधत्तायु है।

(३) स्थिति नामनिधत्तायु— आयु कर्म द्वारा जीव का विशिष्ट भव में रहना स्थिति है। स्थिति रूप परिणाम के साथ निषेक को प्राप्त आयु स्थितिनामनिधत्तायु है। अथवा स्थिति नामकर्म के साथ निषेक को प्राप्त आयु स्थितिनामनिधत्तायु है।

यहाँ स्थिति, प्रदेश और अनुभाग जाति, गति और अवगाहना के ही कहे गए हैं। जाति, गति आदि नाम कर्म के साथ सम्बद्ध होने से स्थिति प्रदेश आदि भी नाम कर्म रूप ही हैं।

(४) अवगाहना नामनिधत्तायु—यहाँ अवगाहना का आशय औदारिक शरीर है जिसे अवगाह करके जीव रहता है। औदारिक शरीरादि नाम कर्म रूप अवगाहना के साथ निषेक को प्राप्त आयु अवगाहना नामनिधत्तायु है।

(५) प्रदेश नामनिधत्तायु—प्रदेश नाम के साथ निषेक प्राप्त आयु प्रदेश नामनिधत्तायु है। प्रदेश नाम की व्याख्या इस प्रकार है—

जिस भव में कर्मों का प्रदेशोदय होता है वह प्रदेश नाम है। अथवा परिमित परिमाण वाले आयु कर्म दलिकों का आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होना प्रदेश नाम है। अथवा आयु कर्म द्रव्य का प्रदेश रूप परिणाम प्रदेश नाम है। अथवा प्रदेश रूप गति, जाति और अवगाहना नाम कर्म प्रदेश नाम है।

(६) अनुभाग नामनिधत्तायु— आयु द्रव्य का विपाक रूप परिणाम अथवा अनुभाग रूप नाम कर्म अनुभागनाम है। अनुभाग नाम के साथ निषेक को प्राप्त आयु अनुभाग नाम निधत्तायु है।

जाति आदि नाम कर्म के विशेष से आयु के भेद बताने का यही आशय है कि आयु कर्म प्रधान है। यही कारण है कि नरकादि आयु का उदय होने पर ही जाति आदि नामकर्म का उदय होता है।

यहाँ भेद तो आयु के दिये हैं पर शास्त्रकार ने आयुबन्ध के छः भेद लिखे हैं। इससे शास्त्रकार यह बताना चाहते हैं कि आयु बन्ध से अभिन्न है। अथवा बन्ध प्राप्त आयु ही आयु शब्द का वाच्य है।

(भगवती शतक ६ उद्देशा ८ सूत्र २४) (ठाणांग ६ उ. ३ सूत्र ५३६)

४७४—भाव छः

कर्मों के उदय, क्षय, क्षयोपशम या उपशम से होने वाले आत्मा के परिणामों को भाव कहते हैं। इसके छः भेद हैं—

(१) औदयिक भाव, (२) औपशमिक भाव, (३) क्षायिक भाव, (४) क्षायोपशमिक भाव, (५) पारिणामिक भाव, (६) सान्निपातिक भाव।

(१-५) औदयिक से पारिणामिक भाव तक पाँच भावों का स्वरूप पाँचवें बोल संग्रह बोल नं० ३८७ में दिया जा चुका है।

(६) सान्निपातिक भाव— सान्निपातिक का अर्थ है संयोग। औदयिक आदि पाँच भावों में से दो, तीन, चार या पाँच के संयोग से होने वाला भाव सान्निपातिक भाव कहा जाता है। दो, तीन, चार, या पाँच भावों के संयोग क्रमशः द्विक संयोग, त्रिक संयोग, चतुस्संयोग और पंच संयोग कहलाते हैं। द्विक संयोग सान्निपातिक भाव के दस भङ्ग हैं। इसी प्रकार त्रिक संयोग, चतुस्संयोग और पंच संयोग के क्रमशः दस, पाँच और एक भङ्ग हैं। सान्निपातिक भाव के कुल मिलाकर छब्बीस भङ्ग होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

द्विक संयोग के १० भङ्ग

(१) औदयिक, औपशमिक।
(२) औदयिक, क्षायिक।
(३) औदयिक, क्षायोपशमिक।
(४) औदयिक, पारिणामिक।
(५) औपशमिक, क्षायिक।
(६) औपशमिक, क्षायोपशमिक।

(७) औपशमिक, पारिणामिक ।
(८) क्षायिक, क्षायोपशमिक ।
(९) क्षायिक, पारिणामिक ।
(१०) क्षायोपशमिक, पारिणामिक ।

त्रिक संयोग के १० भङ्ग

(१) औदयिक, औपशमिक, क्षायिक ।
(२) औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक ।
(३) औदयिक, औपशमिक, पारिणामिक ।
(४) औदयिक, क्षायिक क्षायोपशमिक ।
(५) औदयिक, क्षायिक, पारिणामिक ।
(६) औदयिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक ।
(७) औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक ।
(८) औपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक ।
(९) औपशमिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक ।
(१०) क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक ।

चतुस्संयोग के पाँच भङ्ग

(१) औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक ।
(२) औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक ।
(३) औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक, पारिणामिक ।
(४) औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक ।
(५) औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक ।

पंच संयोग का एक भङ्ग

(१) औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक ।

इन छब्बीस भङ्गों में से छः भंग जीवों में पाये जाते हैं। शेष बीस भङ्ग शून्य हैं अर्थात् कहीं नहीं पाए जाते।

(१) द्विक संयोगी भङ्गों में नवमा भङ्ग— क्षायिक-पारिणामिक भाव सिद्धों में होता है। सिद्धों में ज्ञान दर्शन आदि क्षायिक तथा जीवत्व आदि पारिणामिक भाव हैं।

(२) त्रिक संयोगी भङ्गों में पाँचवां भङ्ग— औदयिक क्षायिक पारिणामिक केवली में पाया जाता है। केवली में मनुष्य गति आदि औदयिक, ज्ञान दर्शन चारित्र आदि क्षायिक तथा जीवत्व आदि पारिणामिक भाव हैं।

(३) त्रिक संयोगी भङ्गों में छठा भङ्ग— औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक चारों गतियों में होता है। चारों गतियों में गति आदि रूप औदयिक, इन्द्रियादि रूप क्षायोपशमिक और जीवत्व आदि रूप पारिणामिक भाव हैं।

(४) चतुस्संयोगी भङ्गों में तीसरा भङ्ग—औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक चारों गतियों में पाया जाता है। * चारों गतियों में गति आदि औदयिक, सम्यक्त्व आदि औपशमिक, इन्द्रियादि क्षायोपशमिक और जीवत्व आदि पारिणामिक भाव हैं।

(५) चतुस्संयोगी भङ्गों में चौथा भङ्ग— औदयिक क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक चारों गतियों में पाया जाता है। चारों गतियों में गति आदि औदयिक, सम्यक्त्व आदि क्षायिक, इन्द्रियादि क्षायोपशमिक और जीवत्व आदि पारिणामिक भाव हैं।

(६) पंच संयोग का भङ्ग उपशम श्रेणी स्वीकार करने वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव में ही पाया जाता है, क्योंकि उसी में

नोट— * नरक, तिर्यञ्च और देव गति में प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय ही उपशम भाव होता है और मनुष्य गति में सम्यक्त्व प्राप्ति के समय तथा उपशम श्रेणी में औपशमिक भाव होता है

पाँचों भाव एक साथ हो सकते हैं अन्य में नहीं। उक्त जीव में गति आदि औदयिक, चारित्र रूप औपशमिक, क्षायिक सम्यक्त्व रूप क्षायिक, इन्द्रियादि क्षायोपशमिक भाव और जीवत्व आदि पारिणामिक भाव हैं।

कहीं कहीं सान्निपातिक भाव के १५ भेद दिये हैं। वे इस प्रकार हैं— इन छः भंगों में एक त्रिक संयोगी और दो चतुस्संयोगी ये तीन भङ्ग चारों गतियों में पाये जाते हैं। इसलिए गति भेद से प्रत्येक के चार चार भेद और तीनों के मिला कर बारह भेद हुए। शेष द्विक, त्रिक और पंच संयोगी के तीन भङ्ग क्रमशः सिद्ध, केवली और उपशमश्रेणी वाले जीव रूप एक एक स्थान में पाये जाते हैं। बारह में ये तीन भेद मिलाने से छः भङ्गों के कुल १५ भेद हो गये।

(अनुयोगद्वार सूत्र १२६)(प्रवचन० द्वा० ३ सूत्र २७)(कर्मग्रन्थ ४ गा० ६४ ६६)

४७५—वन्दना के छः लाभ

अपने से बड़े को हाथ वगैरह जोड़ कर भक्ति प्रकट करना वन्दना है। इस से छः लाभ हैं—

विणओवयार माणस्स भंजणा पूअणा गुरुजणस्स ।
तित्थयराण य आणा सुयधम्माराहणाऽकिरिया ॥

(१) वन्दना करने से विनय रूप उपचार होता है। उपचार से गुरु की आराधना होती है।

(२) मान अर्थात् अहंकार दूर होता है। जो लोग जाति वगैरह के मद से अपने बड़ों को वन्दना नहीं करते। किसी दूसरे की प्रशंसा नहीं करते। इस तरह के अनर्थों का मूल कारण अभिमान वन्दना से दूर हो जाता है।

(३) वन्दना से गुरु की भक्ति होती है।
(४) सब तरह के कल्याण का मूल कारण तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा का पालन होता है, क्योंकि तीर्थंकरों ने धर्म का मूल विनय बताया है।
(५) श्रुतधर्म की आराधना होती है क्योंकि शास्त्रों में वन्दना पूर्वक श्रुत ग्रहण करने की आज्ञा है।
(६) अन्त में जाकर वन्दना से अक्रिया होती है। अक्रिय सिद्ध ही होते हैं और सिद्धि (मोक्ष) वन्दना रूप विनय से क्रमशः प्राप्त होती है।

(प्रवचनसारोद्धार वन्दना द्वार १ गा १)

४७६—बाह्य तप छः

शरीर और कर्मों का तपाना तप है। जैसे अग्नि में तपा हुआ सोना निर्मल होकर शुद्ध होता है उसी प्रकार तप रूप अग्नि से तपा हुआ आत्मा कर्म मल से रहित होकर शुद्ध स्वरूप हो जाता है। तप दो प्रकार का है बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य शरीर से सम्बन्ध रखने वाले तप को बाह्य तप कहते हैं। इसके छः भेद हैं—

(१) अनशन—आहार का त्याग करना अनशन तप है। इस के दो भेद हैं—इत्वर और यावत्कथिक। उपवास से लेकर छः मास तक का तप इत्वर* अनशन है। भक्त परिज्ञा, इङ्गित मरण और पादपोपगमन मरण रूप अनशन यावत्कथिक अनशन है।

---

* प्रवचनसारोद्धार में उत्कृष्ट इत्वर अनशन तप इस प्रकार बताया गया है—भगवान् ऋषभदेव के शासन में एक वर्ष, मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शासन में आठ मास और भगवान् महावीर के शासन में छः मास।

(२) ऊनोदरी — जिसका जितना आहार है उससे कम आहार करना ऊनोदरी तप है। आहार की तरह आवश्यक उपकरणों से कम उपकरण रखना भी ऊनोदरी तप है। आहार एवं उपकरणों में कमी करना द्रव्य ऊनोदरी है। क्रोधादि का त्याग भाव ऊनोदरी है।

(३) भिक्षाचर्या— विविध अभिग्रह लेकर भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना भिक्षाचर्या तप है। अभिग्रह पूर्वक भिक्षा करने से वृत्ति का संकोच होता है। इसलिए इसे 'वृत्ति संक्षेप' भी कहते हैं। उववाई सूत्र १६ में इस तप का वर्णन करते हुए भिक्षा के अनेक अभिग्रहों का वर्णन है।

(४) रस परित्याग — विकार जनक दूध, दही, घी आदि विगयों का तथा प्रणीत (स्निग्ध और गरिष्ठ) खान पान की वस्तुओं का त्याग करना रस परित्याग है।

(५) कायाक्लेश —शास्त्र सम्मत रीति से शरीर को क्लेश पहुँचाना कायाक्लेश है। उग्र वीरासनादि आसनों का सेवन करना, लोच करना, शरीर की शोभा शुश्रूषा का त्याग करना आदि कायाक्लेश के अनेक प्रकार हैं।

(६) प्रतिसंलीनता—प्रतिसंलीनता का अर्थ है गोपन करना। इसके चार भेद हैं–इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योग प्रतिसंलीनता, विविक्त शय्यासनता।

शुभाशुभ विषयों में राग द्वेष त्याग कर इन्द्रियों को वश में करना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है।

कषायों का उदय न होने देना और उदय में आए हुए कषायों को विफल करना कषाय प्रतिसंलीनता है।

अकुशल मन वचन काया के व्यापारों को रोकना तथा कुशल व्यापारों में उदीरणा (प्रेरणा) करना योगप्रतिसंलीनता है।

स्त्री पशु नपुंसक के संसर्ग से रहित एकान्त स्थान में रहना विविक्त शय्यासनता है।

ये छः प्रकार के तप मुक्ति प्राप्ति के बाह्य अंग हैं। ये बाह्य द्रव्यादि की अपेक्षा रखते हैं, प्रायः बाह्य शरीर को ही तपाते हैं अर्थात् इनका शरीर पर अधिक असर पड़ता है। इन तपों का करने वाला भी लोक में तपस्वी रूप से प्रसिद्ध हो जाता है। अन्यतीर्थिक भी स्वाभिप्रायानुसार इनका सेवन करते हैं। इत्यादि कारणों से ये तप बाह्य तप कहे जाते हैं।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ३ ० गा ८) (ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ५११)
(उववाई सूत्र १६) (प्रवचनसारोद्धार द्वार ६ गाथा २७)

४७७—इत्वरिक अनशन के छः भेद

अनशन के दो भेद हैं—इत्वरिक अनशन और मरण काल अनशन। इत्वरिक अनशन में भोजन की आकांक्षा रहती है इसलिए इसे सावकांक्ष अनशन भी कहते हैं। मरण काल अनशन यावज्जीव के लिए होता है। इसमें भोजन की बिलकुल आकांक्षा नहीं होती इसलिए इसे निराकांक्ष अनशन भी कहते हैं। इत्वरिक अनशन के छः भेद हैं—

(१) श्रेणी तप— श्रेणी का अर्थ है क्रम या पंक्ति। उपवास बेला, तेला आदि क्रम से किया जाने वाला तप श्रेणी तप है। यह तप उपवास से लेकर छः मास तक का होता है।

(२) प्रतर तप— श्रेणी को श्रेणी से गुणा करना प्रतर है। प्रतर युक्त तप प्रतर तप है। जैसे उपवास, बेला, तेला और चोला इन चार पदों की श्रेणी है। श्रेणी को श्रेणी से गुणा करने

पर सोलह पद होते हैं। प्रतर आयाम विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) में बराबर होता है। प्रतर की स्थापना का तरीका यह है— प्रथम पंक्ति में एक,दो, तीन, चार रखना। दूसरी पंक्ति दो से आरम्भ करना और तीसरी और चौथी क्रमशः तीन और चार से आरम्भ करना। इस प्रकार रखने में पहली पंक्ति पूरी होगी और शेष अधूरी रहेंगी। अधूरी पंक्तियों का यथा योग्य आगे की संख्या और फिर क्रमशः बची हुई संख्या रखकर पूरी करना चाहिए। स्थापना यह है—

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

(३) घन तप—प्रतर को श्रेणी से गुणा करना घन है। यहाँ सोलह को चार से गुणा करने पर आई हुई चौसठ की संख्या घन है। घन से युक्त तप घन तप है।

(४) वर्ग तप— घन को घन से गुणा करना वर्ग है। यहाँ चौसठ को चौसठ से गुणा करने पर आई हुई ४०९६ की संख्या वर्ग है। वर्ग से युक्त तप वर्ग तप है।

(५) वर्ग वर्ग तप— वर्ग को वर्ग से गुणा करना वर्ग वर्ग है। यहाँ ४०९६ को ४०९६ से गुणा करने पर आई हुई १६७७७२१६ की संख्या वर्ग वर्ग है। वर्ग वर्ग से युक्त तप वर्ग वर्ग तप है।

(६) प्रकीर्ण तप—श्रेणी आदि की रचना न कर यथाशक्ति फुटकर तप करना प्रकीर्ण तप है। नवकारसी से लेकर यवमध्य

यवमध्य, चन्द्र प्रतिमादि सभी प्रकीर्ण तप हैं।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ३० गाथा ८ से ११)

४७८—आभ्यन्तर तप छः

जिस तप का सम्बन्ध आत्मा के भावों से हो उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। इसके छः भेद हैं—

(१) प्रायश्चित— जिससे मूल गुण और उत्तरगुण विषयक अतिचारों से मलिन आत्मा शुद्ध हो उस प्रायश्चित कहते हैं। अथवा प्रायः का अर्थ पाप और चित्त का अर्थ है शुद्धि। जिस अनुष्ठान से पाप की शुद्धि हो उसे प्रायश्चित कहते हैं।

(२) विनय— आठ प्रकार के कर्मों को अलग करने में हेतु रूप क्रिया विशेष को विनय कहते हैं। अथवा सम्माननीय गुरुजनों के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना उनकी सेवा शुश्रूषा करना आदि विनय कहलाता है।

(३) वैयावृत्य — धर्म साधन के लिए गुरु, तपस्वी, रोगी नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहारादि लाकर देना और उन्हें संयम में यथाशक्ति सहायता देना वैयावृत्य कहलाता है।

(४) स्वाध्याय—अस्वाध्याय टाल कर मर्यादापूर्वक शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन आदि करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

(५) ध्यान— आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान करना ध्यान तप कहलाता है।

ध्यान का विशेष विस्तार प्रथम भाग के चौथे बोल संग्रह के बोल नं० २१५ में दे दिया गया है।

(६) व्युत्सर्ग—ममता का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। यह

द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। गण, शरीर, उपधि और आहार का त्याग करना द्रव्य व्युत्सर्ग है। कषाय, संसार और कर्म का त्याग करना भाव व्युत्सर्ग है।

आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति में अन्तरङ्ग कारण है। अन्तर्दृष्टि आत्मा ही इसका सेवन करता है और वही इन्हें तप रूप से जानता है। इनका असर बाह्य शरीर पर नहीं पड़ता किन्तु आभ्यन्तर राग द्वेष कषाय आदि पर पड़ता है। लोग इन्हें देख नहीं सकते। इन्हीं कारणों से उपरोक्त छः प्रकार की क्रियाएं आभ्यन्तर तप कही जाती हैं।

(उववाई सूत्र २०) (उत्तराध्ययन अध्ययन ३० गाथा ३०)
(प्रवचनसारोद्धार द्वार ६ गाथा २७०)(ठाणांग ६ उ० ३ सूत्र ५११)

४७९—आवश्यक के छः भेद

सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए आत्मा द्वारा अवश्य करने योग्य क्रिया को आवश्यक कहते हैं। आवश्यक के छः भेद हैं।

(१) सामायिक—राग द्वेष के वश न होकर सम भाव (मध्यस्थ भाव) में रहना अर्थात् किसी प्राणी को दुःख न पहुँचाते हुए सब के साथ आत्मतुल्य व्यवहार करना एवं आत्मा में ज्ञान दर्शन चारित्र आदि गुणों की वृद्धि करना सामायिक है।

सामायिक के उपकरण सादे और निर्विकार होने चाहियें। सामायिक करने का स्थान शान्तिपूर्ण अर्थात् चित्त को चञ्चल बनाने वाले कारणों से रहित होना चाहिये।

सामायिक से सावद्य व्यापारों का निरोध होता है। आत्मा शुद्ध संवर मार्ग में अग्रसर होता है। कर्मों की निर्जरा होती है।

आत्मा विकास की ओर बढ़ता है।

(२) चतुर्विंशतिस्तव—चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का भक्ति पूर्वक कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है।

इसका उद्देश्य गुणानुराग की वृद्धि है जो कि निर्जरा और आत्मा के विकास का साधन है।

(३) वन्दना—मन वचन और शरीर का वह प्रशस्त व्यापार, जिस के द्वारा पूज्यों के प्रति भक्ति और बहुमान प्रगट किया जाता है वन्दना कहलाती है।

वन्दना करने वाले को वन्द्य (वन्दना करने योग्य) और अवन्द्य का विवेक होना चाहिये। वन्दना की विधि और उसके दोषों का भली प्रकार ज्ञान होना चाहिये।

मिथ्यादृष्टि और उपयोगशून्य सम्यग्दृष्टि की वन्दना द्रव्य वन्दना है। सम्यग्दृष्टि की उपयोगपूर्वक वन्दना भाव वन्दना है। द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के चारित्र से सम्पन्न मुनि ही वन्दना के योग्य होते हैं। वन्दना का फल बोल नं० ४७५ में बताया जा चुका है।

(४) प्रतिक्रमण—प्रमादवश शुभ योग से गिर कर अशुभ योग प्राप्त करने के बाद फिर शुभ योग प्राप्त करना प्रतिक्रमण है। इसी प्रकार अशुभ योग से निवृत्त होकर उत्तरोत्तर शुभ योग में प्रवृत्त होना भी प्रतिक्रमण है। काल के भेद से प्रतिक्रमण तीन प्रकार का है—

भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना और प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को रोकना।

दैवसिक रायसिक, पाक्षिक चातुर्मासिक और सांवत्सरिक के भेद से इसके पाँच भेद भी हैं।

मिथ्यात्व अविरति, कषाय और अप्रशस्त योग रूप चार दोष प्रतिक्रमण के विषय हैं। इनका प्रतिक्रमण करना चाहिये। इन्हें छोड़कर सम्यक्त्व, विरति, क्षमा आदि गुण एवं प्रशस्त योग रूप गुणों को प्राप्त करना चाहिये।

सामान्य रूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का है— द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। मुमुक्षुओं के लिए भाव प्रतिक्रमण ही उपादेय है। उपयोग रहित सम्यग्दृष्टि का प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण है। इसी प्रकार लब्धि आदि के निमित्त से किया जाने वाला सम्यग्दृष्टि का प्रतिक्रमण भी द्रव्य प्रतिक्रमण ही है। दोषों का एक बार प्रतिक्रमण करके बारबार उनका सेवन करते रहना और उनकी शुद्धि के लिये बारबार प्रतिक्रमण करते जाना भी यथार्थ प्रतिक्रमण नहीं है। कर्मों की निर्जरा रूप वास्तविक फल भाव प्रतिक्रमण से ही होता है। द्रव्य प्रतिक्रमण द्वारा भाव प्रतिक्रमण की ओर अग्रसर होना चाहिये। किसी दोष का प्रतिक्रमण करके उसे बार बार सेवन करने वाला कुम्हार के बरतनों को कंकर द्वारा बार बार फोड़ कर माफी मांगने वाले क्षुल्लक साधु सरीखा है। लगे हुए दोषों को दूर करना और भविष्य में उन दोषों का फिर सेवन न करने के लिए सावधान रहना ही प्रतिक्रमण का असली उद्देश्य है। ऐसा करने से आत्मा धीरे धीरे सकल दोषों से मुक्त होकर शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है।

(५) कायोत्सर्ग— धर्मध्यान और शुक्लध्यान के लिए एकाग्र होकर शरीर की ममता का त्याग करना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग से श्लेष्मादि का क्षय होता है और देह की जड़ता दूर होती

है। कायोत्सर्ग स्थित आत्मा उपयोग में लीन हो जाता है जिस से बुद्धि की जड़ता भी हटती है। कायोत्सर्ग से अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव से रहने की शक्ति प्रगट होती है। भावना एवं ध्यान का अभ्यास भी कायोत्सर्ग से पुष्ट होता है। कायोत्सर्ग में चित्त एकाग्र रहता है इससे अतिचार अर्थात् दोषों का चिन्तन भली प्रकार होता है और चारित्र की शुद्धि होती है। इस प्रकार कायोत्सर्ग विविध हितों को साधने वाली महत्त्व पूर्ण क्रिया है।

(६) प्रत्याख्यान -द्रव्य और भाव से आत्मा के लिए अनिष्टकारी अतएव त्यागने योग्य अन्न वस्त्रादि तथा अज्ञान कषायादि का मन वचन और काया से यथा शक्ति त्याग करना प्रत्याख्यान है।

अन्नादि वस्तुओं का त्याग भी तभी वास्तविक प्रत्याख्यान है जब वह राग द्वेष और कषायों को मन्द करने तथा ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति के लिए किया जाय। इसलिए 'गुणधारण' शब्द प्रत्याख्यान का पर्यायवाची है।

प्रत्याख्यान करने से संयम होता है और संयम से आश्रव का निरोध अर्थात् संवर होता है। संवर से तृष्णा का नाश और तृष्णा के नाश से अनुपम उपशम भाव (मध्यस्थ परिणाम) होता है। उपशम भाव से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है। इसके बाद चारित्र धर्म प्रगट होता है। चारित्र धर्म से कर्मों की निर्जरा और कर्मों की निर्जरा से अपूर्वकरण होता है। अपूर्वकरण से केवल ज्ञान और केवलज्ञान से शाश्वत सुखमय मोक्ष का लाभ होता है।

पहला आवश्यक सामायिक चारित्र रूप है। अरिहन्त के गुणों की स्तुति रूप दूसरा चतुर्विंशतिस्तव दर्शन और ज्ञान रूप है। ज्ञान दर्शन और चारित्र इन तीनों के सेवन में चूक होने पर

उनकी गुरु के समक्ष वन्दना पूर्वक विनय भाव से आलोचना करनी चाहिये। इसलिये तीसरा आवश्यक वन्दना है। गुरु के आगे भूल की आलोचना करने पर वापिस शुभ योगों में आने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इसलिए वन्दना के बाद प्रतिक्रमण कहा गया है। इतने पर भी दोषों की पूर्ण शुद्धि न हो तो कायोत्सर्ग का आश्रय लेना चाहिये जो कि प्रायश्चित्त का एक प्रकार है। कायोत्सर्ग करने के बाद भी पूर्ण रूप से दोषों की शुद्धि न हो तो उसके लिए तथा गुण धारण के लिए प्रत्याख्यान करना चाहिये। इस प्रकार आवश्यक के छहों भेद परस्पर सम्बद्ध एवं कार्यकारण भाव से व्यवस्थित हैं।

(हरिभद्रीय आवश्यक सूत्र)

४८०—प्रतिक्रमण के छः भेद

पापों से या व्रत प्रत्याख्यान में लगे हुए दोषों से निवृत्त होना प्रतिक्रमण कहलाता है। प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के दस भेदों में दूसरा और आवश्यक के भेदों में चौथा है। अथवा प्रमादवश पाप का आचरण कर लेने पर उसके लिए "मिच्छामि दुक्कडं" देना अर्थात् उस पाप को अकरणीय समझ कर दुबारा भावना हुए कर्मी न करने का निश्चय करना और सदा सावधान रहना प्रतिक्रमण है। इसके छः भेद हैं—

(१) उच्चार प्रतिक्रमण— उपयोग पूर्वक बड़ी नीत को त्याग कर ईर्या का प्रतिक्रमण करना उच्चार प्रतिक्रमण है।

(२) प्रश्रवण प्रतिक्रमण—उपयोग पूर्वक लघुनीत को परठ कर ईर्या का प्रतिक्रमण करना प्रश्रवण प्रतिक्रमण है।

(३) इत्वर प्रतिक्रमण—स्वल्पकालीन जैसे दैवसिक, रायसिक, आदि प्रतिक्रमण करना इत्वर प्रतिक्रमण है।

(४) यावत्कथिक प्रतिक्रमण—महाव्रत प्रत्याख्यानादि द्वारा सदा के लिये पाप से निवृत्ति करना यावत्कथिक प्रतिक्रमण है। यहाँ प्रतिक्रमण से पाप निवृत्ति रूप अर्थ इष्ट है।

(५) यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण—संयम में सावधान साधु से प्रमादवश असंयम रूप यदि कोई विपरीत आचरण हो जाय तो वह मिथ्या (असम्यक्) है। इस प्रकार अपनी भूल को स्वीकार करते हुए 'मिच्छामि दुक्कडं' देना यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है।

(६) स्वप्नान्तिक—सोकर उठने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है। अथवा स्वप्न देखने पर उसका प्रतिक्रमण करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।

(ठाणांग ६ उ ३ सूत्र ५३८)

४८१— प्रत्याख्यान विशुद्धि छः

विशुद्धि का अर्थ है संशोधन। छः तरह की विशुद्धियों से युक्त पाला हुआ प्रत्याख्यान शुद्ध और दोष रहित होता है। वे विशुद्धियाँ इस प्रकार हैं—

(१) श्रद्धानविशुद्धि—साधु के पाँच मूल गुणों का दस उत्तर गुणों का और श्रावक के बारह व्रतों का प्रत्याख्यान चातुर्याम या पाँच याम वाले जिस तीर्थंकर के शासन में जैसा कहा है और उस का सुभिक्ष दुर्भिक्ष प्रातः काल, मध्याह्न काल तथा सायंकाल आदि के लिए जैसा विधान किया गया है उसको वैसा ही समझ कर श्रद्धान करना श्रद्धानविशुद्धि है।

(२) ज्ञानविशुद्धि—जिनकल्प, स्थविरकल्प, मूल गुण, उत्तर गुण तथा प्रातः काल आदि में जिस समय जिस प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप होता है उसको ठीक ठीक वैसा जानना ज्ञानविशुद्धि है।

(३) विनयविशुद्धि—मन, वचन और काया से संयत होते हुए प्रत्याख्यान के समय जितनी वन्दनाओं का विधान है तदनुसार वन्दनादि करना विनयविशुद्धि है ।

(४) अनुभाषणाविशुद्धि–प्रत्याख्यान करते समय गुरु के सामने हाथ जोड़ कर बैठना, गुरु के कहे अनुसार पाठों को ठीक ठीक बोलना तथा गुरु के "वोसिरेहि" कहने पर "वोसिरामि" वगैरह यथा समय कहना अनुभाषणाविशुद्धि है ।

(५) अनुपालनाविशुद्धि—भयङ्कर वन, दुर्भिक्ष, या बीमारी वगैरह में भी व्रत को ठीक ठीक पालना अनुपालनाविशुद्धि है ।

(६) भावविशुद्धि — राग, द्वेष तथा परिणाम रूप दोषों से रहित प्रत्याख्यान को पालना भावविशुद्धि है । इस प्रत्याख्यान से अमुक व्यक्ति की पूजा हो रही है, मैं भी ऐसा ही करूं जिससे पूजा जाऊँ । यह सोच कर प्रत्याख्यान करना राग है । मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूं जिससे सब लोग मेरी ओर झुक जावें, दूसरे साधु का आदर सत्कार न हो, इस प्रकार किसी के प्रति द्वेष का भाव रखकर पच्चक्खाण करना द्वेष है । ऐहिक या पारलौकिक कीर्ति, वर्ण, यश, शब्द, धन आदि की प्राप्ति रूप किसी भी फल की इच्छा से पच्चक्खाण करने में परिणाम दोष है ।

ऊपर की छः विशुद्धियों से सहित पच्चक्खाण ही सर्वथा शुद्ध माना जाता है ।

(हरिभद्रीयावश्यक अ० ६ नि० गाथा १५८६ पृष्ठ ८४६)(भ० श० ७ उ० २ सूत्र २७६ टीका)

४८२—प्रत्याख्यान पालने के अङ्ग छः

छः अङ्गों से प्रत्याख्यान की आराधना करनी चाहिए ।

(१) फासियं (स्पृष्ट)— गुरु से विधिपूर्वक प्रत्याख्यान।
(२) पालियं (पालित)— प्रत्याख्यान का बार बार उपयोग में लाकर उसकी रक्षा करना।
(३) सोहियं (शोभित) – गुरु को भोजन वगैरह देकर स्वयं भोजन करना।
(४) तीरियं (तीरित)— लिए हुए पच्चक्खाण का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहर कर भोजन करना।
(५) किट्टियं (कीर्तित)— भोजनादि आरम्भ करने से पहिले लिए हुए प्रत्याख्यान को विचार कर निश्चय कर लेना कि मैंने ऐसा प्रत्याख्यान किया था, वह अब पूरा हो गया है।
(६) आराहियं (आराधित)— सब दोषों से दूर रहते हुए ऊपर कही विधि के अनुसार प्रत्याख्यान को पूरा करना।

(हरिभद्रीयावश्यक अध्य ६ निर्युक्ति गाथा १६८१)
(धर्मसंग्रह प्रवि ३ श्लोक ४१ टीका पृ १६२)

४८३—पोरिसी के छः आगार

सूर्योदय से लेकर एक पहर तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना पोरिसी पच्चक्खाण है।

छद्मस्थ व्यक्ति से बहुत बार व्रतपालन में भूल हो जाती है। प्रत्याख्यान का बिल्कुल स्मरण न रहने या और किसी ऐसे ही कारण से व्रतपालन में बाधा पड़ना संभव है। उस समय व्रत न टूटने पावे, इस बात को ध्यान में रखकर प्रत्येक पच्चक्खाण में सम्भावित दोषों का आगार पहिले से रख लिया जाता है। पोरिसी में इस तरह छः आगार हैं।

(१) अनाभोग– व्रत को भूल जाने से भोजनादि कर लेना।
(२) सहसाकार– मेघ बरसने या दही मथने आदि के समय रोकने पर भी जल, छाछ आदि त्याग की गई वस्तुओं का

अकस्मात् मुख में चला जाना।
(३) प्रच्छन्नकाल—बादल, आँधी या पहाड़ वगैरह के बीच में आ जाने पर सूर्य के न दिखाई देने से अधूरे समय में पोरिसी को पूरा समझ कर पार लेना। अगर भोजन करते समय यह मालूम पड़ जाय कि पोरिसी अभी पूरी नहीं हुई है तो उसी समय भोजन करना छोड़ देना चाहिए। फिर पोरिसी पूरी आने पर भोजन करना चाहिए। अगर पोरिसी अधूरी जानकर भी भोजन करता रहे तो प्रत्याख्यान भङ्ग का दोष लगता है।
(४) दिशामोह — पूर्व को पश्चिम समझ कर पोरिसी न आने पर भी अशनादि सेवन करना। अशनादि करते समय अगर बीच में दिशा का भ्रम दूर हो जाय तो उसी समय आहारादि छोड़ देना चाहिए। जानकर भी अशनादि सेवन करने से व्रत भङ्ग का दोष लगता है।
(५) साधुवचन–' पोरिसी आ गई' इस प्रकार किसी आप्त पुरुष के कहने पर पोरिसी पार लेना। इसमें भी किसी के कहने या और किसी कारण से बाद में यह पता लग जाय कि अभी पोरिसी नहीं आई है तो आहारादि छोड़ देना चाहिए। नहीं तो व्रत का भङ्ग हो जाता है।
(६) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—तीव्र रोग की उपशान्ति के लिए औषध आदि ग्रहण करने के निमित्त निर्धारित समय के पहिले ही पच्चक्खाण पार लेना

(हरि. आव. अ. ६ पृ. ८५२) (प्रवचनसारोद्धार द्वार ४ गा. २०१ से २०२)

२८४—साधु द्वारा आहार करने के छः कारण

साधु को धर्मध्यान, शास्त्राध्ययन और संयम की रक्षा के लिए ही आहार करना चाहिए। विशेष कारण के बिना आहार करने

वाला साधु ग्रासैषणा के अकारण दोष का भागी होता है। शास्त्रों में आहार के लिए छः कारण बताए गए हैं—

(१) वेदना–क्षुधावेदनीय की शान्ति के लिए।

(२) वैयावृत्य–अपने से बड़े आचार्यादि की सेवा के लिए।

(३) ईर्यापथ–मार्गादि की शुद्धि के लिए।

(४) संयमार्थ प्रेक्षादि संयम की रक्षा के लिए।

(५) प्राणप्रत्ययार्थ–अपने प्राणों की रक्षा के लिए।

(६) धर्मचिन्तार्थ–शास्त्र के पठन पाठन आदि धर्म का चिन्तन करने के लिए। (उत्त.अ २६गा ३३ ३३) (पिण्ड नि गा ६६२)

४८५—साधु द्वारा आहार त्यागने के छः कारण

नीचे लिखे छः कारण उपस्थित होने पर साधु आहार करना छोड़ दे। शिष्य वगैरह को शासन का भार संभला कर संलेखना द्वारा शुद्ध होकर यावज्जीव आहार का त्याग कर दे।

(१) आतङ्क–रोग ग्रस्त होने पर।

(२) उपसर्ग–राजा स्वजन,देव, तिर्यञ्च आदि द्वारा उपसर्ग उपस्थित करने पर।

(३) ब्रह्मचर्यगुप्ति–ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए।

(४) प्राणिदयार्थ–प्राणी भूत जीव और सत्त्वों की रक्षा के लिए।

(५) तपोहेतु– तप करने के लिए।

(६) संलेखना—अन्तिम समय संथारा करने के लिए।

(पिण्डनिर्युक्ति गाथा ६६६) (उत्तराध्ययन अध्ययन २६ गाथा ३४)

४८६—छः प्रकार का भोजन-परिणाम

यहाँ परिणाम का अर्थ है स्वभाव या परिपाक।

(१) भोजन मनाज्ञ अर्थात् अभिलाषा योग्य होता है।

(२) भोजन माधुर्यादि रस सहित होता है।

(३) भोजन रसादि धातुओं को सम करने वाला होता है।
(४) भोजन धातु बढ़ाने वाला होता है।
(५) भोजन जठराग्नि का बल अर्थात् पाचन शक्ति को बढ़ाने वाला होता है।
(६) भोजन बल अर्थात् उत्साह बढ़ाने वाला होता है।
(ठाणांग ६ उ० ३ सूत्र ५३३)

४८७—छः विष परिणाम

(१) दष्टविष-दाढ़ आदि का विष जो डस जाने पर चढ़ता है दष्ट विष कहलाता है। यह विष जङ्गम विष है।
(२) भुक्त विष- जो विष खाया जाने पर चढ़ता है वह भुक्त विष है। यह स्थावर विष है।
(३) निपतित विष- जो विष ऊपर गिरने से चढ़ जाता है वह निपतित विष है। दृष्टिविष और त्वग्विष निपतित विष में ही शामिल हैं।
(४) मांसानुसारी विष- मांस पर्यन्त फैल जाने वाला विष मांसानुसारी विष है।
(५) शोणितानुसारी विष- शोणित (लोही) पर्यन्त फैल जाने वाला विष शोणितानुसारी विष है।
(६) अस्थिमिञ्जानुसारी विष- अस्थि में रही हुई मज्जा धातु तक असर करने वाला विष अस्थिमिञ्जानुसारी विष है।
पहले तीन विष परिणाम स्वरूप की अपेक्षा और अन्तिम तीन कार्य की अपेक्षा हैं। (ठाणांग ६ उ० ३ सूत्र ५३३)

४८८—छः अनन्त

जिस वस्तु का अन्त न हो उसे अनन्त कहते हैं। इसके छः भेद हैं—

(१) सिद्ध (२) सूक्ष्म और बादर निगोद के जीव (अनन्त-कायिक) (३) वनस्पति (प्रत्येक और अनन्त वनस्पति जीव) (४) काल (तीनों काल व समय) (५) पुद्गल परमाणु (६) अलोकाकाश। य छहों राशियाँ अनन्त हैं।

(अनुयोगद्वार सूत्र १४६ टीका) (प्रवचनसारोद्धार द्वार २६६ गाथा १४ ४)

४८६—छद्मस्थ छः बातों को नहीं देख सकता

चार घाती कर्मों का सर्वथा क्षय करके जो मनुष्य सर्वज्ञ और सर्वदर्शी नहीं हुआ है, उसे छद्मस्थ कहते हैं। यहाँ पर छद्मस्थ * पद से विशेष अवधि यानी उत्कृष्ट ज्ञान से रहित व्यक्ति लिया जाता है। ऐसा व्यक्ति नीचे लिखी छः बातों को नहीं देख सकता—

(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय
(३) आकाशास्तिकाय (४) शरीररहित जीव
(५) परमाणुपुद्गल (६) शब्दवर्गणा के पुद्गल

(ठाणांग ६ उ. ३ सूत्र ४७८)

४९०—छः बोल करने में कोई समर्थ नहीं है

(१) जीव को अजीव बनाने में कोई समर्थ नहीं है।

(२) अजीव को जीव करने में कोई समर्थ नहीं है।

(३) एक समय में यानी एक साथ दो सत्य और असत्य भाषा बोलने में कोई समर्थ नहीं है।

(४) किए हुए कर्मों का फल अपनी इच्छा के अनुसार भोगने में कोई स्वतन्त्र नहीं है। अर्थात् कर्मों का फल भोग अपनी इच्छानुसार नहीं होता।

(५) परमाणु पुद्गल को छेदन भेदन करने एवं जलाने में कोई

*परमावधिज्ञानी परमाणु और शब्दवर्गणा के पुद्गलों को देख सकता है, इसीलिए यहाँ छद्मस्थ शब्द से विशेष अवधि या उत्कृष्ट ज्ञान से शून्य व्यक्ति लिया गया है।

समर्थ नहीं है।
(६) लोक से बाहर जाने में कोई समर्थ नहीं है।

(ठाणांग ६ उ. ३ सूत्र ४७१)

४९१—नकारे के छ: चिह्न

बोल कर नकारे का उत्तर न देने पर भी छ: प्रकार की चेष्टाओं से नकार का भाव जाना जाता है।

भिउडी अधालोयणा, उवादिट्ठी य परम्मुहं वयणं।
मोणं कालविलम्बो, नक्कारो छव्विहो भणिओ ॥

(१) भौंह चढ़ाना मानी ललाट में सल चढ़ाना।
(२) नीचे की ओर देखना।
(३) ऊपर की ओर देखना।
(४) दूसरे की ओर मुँह करके बातचीत करना।
(५) मौन रहना।
(६) काल बिताना (विलम्ब करना)

(उत्तराध्ययन हस्तलिखित अ. १८ गा. ४१ अमुक्तिकुमार की कथा)

४९२—प्राकृत भाषा के छ: भेद

(१) महाराष्ट्री (२) शौरसेनी (३) मागधी (४) पैशाची (५) चूलिकापैशाची (६) अपभ्रंश।

(प्राकृत व्याकरण) (षड्भाषा चन्द्रिका

४९३—विवाद के छ: प्रकार

तत्त्वनिर्णय या जीतने की इच्छा से वादी और प्रतिवादी का आपस में शङ्का समाधान करना विवाद है। इसके छ: भेद हैं—
(१) अवसर के अनुसार पीछे हट कर अर्थात् विलम्ब करके विवाद करना।
(२) मध्यस्थ को अपने अनुकूल बनाकर अथवा प्रतिवादी के

मत को अपना मत मानकर उसी का पूर्वपक्ष करते हुए विवाद करना।
(३) समर्थ होने पर अध्यक्ष एवं प्रतिवादी दोनों के प्रतिकूल होने पर भी विवाद करना।
(४) अध्यक्ष को प्रसन्न करके विवाद करना।
(५) निर्णायकों को अपने पक्ष में मिलाकर विवाद करना।
(६) किसी उपाय से निर्णायकों को प्रतिवादी का द्वेषी बनाकर अथवा उन्हें स्वपक्षग्राही बनाकर विवाद करना।

(ठाणांग ६ उ. ३ सूत्र ५१२)

४६४—छः प्रकार का प्रश्न

सन्देह निवारण या दूसरे को नीचा दिखाने की इच्छा से किसी बात का पूछना प्रश्न कहलाता है। इसके छः भेद हैं-
(१) संशयप्रश्न—अर्थ विशेष में संशय होने पर जो प्रश्न किया जाता है वह संशयप्रश्न है।
(२) व्युद्ग्राह प्रश्न—दुराग्रह अथवा परपक्ष को दूषित करने के लिए किया जाने वाला प्रश्न व्युद्ग्राह प्रश्न है।
(३) अनुयोगी प्रश्न—अनुयोगी अर्थात् व्याख्यान के लिए किया जाने वाला प्रश्न अनुयोगी प्रश्न है।
(४) अनुलोम प्रश्न—सामने वाले को अनुकूल करने के लिये, 'आप कुशल तो हैं?' इत्यादि प्रश्न करना अनुलोम प्रश्न है।
(५) तथाज्ञान प्रश्न—उत्तरदाता की तरह पूछने वाले का ज्ञान रहते हुए भी जो प्रश्न किया जाता है अर्थात् जानते हुए भी जो प्रश्न किया जाता है वह तथाज्ञान प्रश्न है।
(६) अतथाज्ञान प्रश्न—तथाज्ञान प्रश्न से विपरीत प्रश्न अतथाज्ञान प्रश्न है अर्थात् नहीं जानते हुए जो प्रश्न किया

जाता है वह मतयाज्ञान मरन है।

(ठाणांग ६ उ. १ सूत्र ६१४)

४६५—अविरुद्धोपलब्धि रूप हेतु के छः भेद

जो वस्तु इन्द्रियों का विषय नहीं है अर्थात् जिस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता उस जानने के लिये अनुमान किया जाता है। जैसे पर्वत में छिपी हुई अग्नि का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होने पर धूँआ देख कर अनुमान किया जाता है। अनुमान में साधन या हेतु से साध्य का ज्ञान किया जाता है। ऊपर वाले दृष्टान्त में अग्नि साध्य है और धूम हेतु। जिसे सिद्ध किया जाय उसे साध्य कहते हैं। इस में तीन बातें आवश्यक हैं।

(१) साध्य पहिले से ही सिद्ध नहीं होना चाहिए, क्योंकि सिद्ध वस्तु का दुबारा सिद्ध करना व्यर्थ होता है। सिद्ध को भी अगर सिद्ध करने की आवश्यकता हो तो अनवस्था हो जायगी। दुबारा सिद्ध करने पर भी फिर सिद्धि की अपेक्षा होगी।

(२) साध्य प्रत्यक्षादि प्रबल प्रमाण से बाधित नहीं होना चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष से अनुमान की शक्ति कम है। जैसे अग्नि को शीतल सिद्ध करना। अग्नि का उष्णपन प्रत्यक्ष से बाधित है इस लिए साध्य नहीं बनाया जा सकता।

(३) साध्य वादी को इष्ट होना चाहिए। नहीं तो अपने मत के विरुद्ध होने से उसमें स्वमतविरोध हो जाता है। जैसे जैनियों की तरफ से यह सिद्ध किया जाना कि रात्रिभोजन में दोष नहीं है। या बौद्धों की तरफ से यह सिद्ध किया जाना कि वस्तु नित्य है।

जो वस्तु साध्य के बिना न रहे उसे हेतु कहते हैं। अर्थात् हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अविना

भाव का अर्थ है उसके बिना न रहना। हेतु दो तरह का होता है उपलब्धि रूप और अनुपलब्धि रूप। जहाँ किसी की सत्ता स दूसरे की सत्ता का अभाव सिद्ध किया जाय उसे उपलब्धि रूप हेतु कहते हैं, जैसे ऊपर के दृष्टान्त में धूम की सत्ता से अग्नि की सत्ता सिद्ध की गई। अथवा यह पुरुष सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि रागादि वाला है। यहाँ रागादि की सत्ता से सर्वज्ञत्व का अभाव सिद्ध करना। इसी तरह अनुपलब्धि रूप हेतु से भी किसी वस्तु की सत्ता या अभाव सिद्ध किया जाता है।

उपलब्धि रूप हेतु के दो भेद हैं, अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि।

साध्य से अविरुद्ध किसी बात से साध्य की सत्ता या अभाव सिद्ध करना अविरुद्धोपलब्धि है। विरुद्धोपलब्धि का स्वरूप और भेद सातवें बोल में बताए जायेंगे।

अविरुद्धोपलब्धि छः प्रकार की है—

(१) अविरुद्ध व्याप्योपलब्धि (४) अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि
(२) अविरुद्ध कार्योपलब्धि (५) अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि
(३) अविरुद्ध कारणोपलब्धि (६) अविरुद्ध सहचरोपलब्धि

(१) अविरुद्ध व्याप्योपलब्धि—शब्द परिणामी है क्योंकि प्रयत्न के बाद उत्पन्न होता है। जो वस्तु प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होती है वह परिणामी अर्थात् बदलने वाली होती है, जैसे स्तम्भ। जो बदलने वाली नहीं होती वह उत्पत्ति में प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती, जैसे वन्ध्यापुत्र। शब्द प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होता है, इसलिए परिणामी अर्थात् बदलने वाला है। यह अविरुद्ध व्याप्योपलब्धि है। क्योंकि प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना रूप हेतु परिणामित्व रूप साध्य का व्याप्य है और उससे विरुद्ध

भी नहीं है। प्रथम के बाद उत्पन्न होना परिणामित्व के बिना नहीं हो सकता। इसलिए परिणामित्व और प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने का कोई विरोध नहीं है। जो जिससे कम स्थानों पर रहता है वह उसका व्याप्य है और जो जिससे अधिक स्थानों पर रहता हो वह उसका व्यापक है, जैसे आम और वृक्ष। आम जहाँ होगा वृक्ष अवश्य होगा, इसलिए आम वृक्ष का व्याप्य है। वृक्ष व्यापक है क्योंकि वह आम के न रहने पर भी रह सकता है। जो वस्तुएं समनियत हैं अर्थात् एक दूसरे के अभाव में नहीं रहतीं उन में विवक्षानुसार दोनों व्यापक और दोनों व्याप्य हो सकती हैं, जैसे आत्मा और चैतन्य। आत्मा को छोड़कर चैतन्य नहीं रहता और चैतन्य को छोड़कर आत्मा नहीं रहता इसलिए दोनों समनियत हैं।

(२) अविरुद्ध कार्योपलब्धि – इस पर्वत में अग्नि है, क्योंकि धूम है। यह अविरुद्ध कार्योपलब्धि है क्योंकि यहाँ धूम रूप हेतु अग्नि का कार्य है और उसका विरोधी नहीं है।

(३) अविरुद्ध कारणोपलब्धि – वर्षा होगी, क्योंकि खास तरह के बादल दिखाई देते हैं। यहाँ अविरुद्ध कारणोपलब्धि है, क्योंकि 'खास तरह के बादल' रूप हेतु 'वर्षा' साध्य का कारण है और उसका विरोधी नहीं है।

(४) अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि–एक मुहूर्त के बाद तिष्य नक्षत्र का उदय होगा क्योंकि पुनर्वसु का उदय हो चुका है। यहाँ अविरुद्ध पूर्वचर की उपलब्धि है क्योंकि 'पुनर्वसु का उदय' रूप हेतु 'तिष्योदय' रूप साध्य का पूर्वचर है।

(५) अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि–एक मुहूर्त पहिले पूर्वफल्गुनी का उदय हुआ था, क्योंकि उत्तरफल्गुनी का उदय हो चुका है।

यहाँ अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि है। क्योंकि 'उत्तरफल्गुनी का उदय' रूप हेतु 'पूर्वफल्गुनी का उदय' रूप साध्य का उत्तर चर है अर्थात् सदैव बाद में रहने वाला है।

(६) अविरुद्ध सहचरोपलब्धि—इस आम में रूपविशेष है क्योंकि रसविशेष मालूम पड़ता है। रात में किसी व्यक्ति ने आम चखा। उस समय आम के मीठेपन से उसके रंग का अनुमान करना अविरुद्ध सहचरोपलब्धि है, क्योंकि रस (हेतु) रूप (साध्य) का सहचर अर्थात् हमेशा साथ रहनेवाला है।

ये छः भेद साक्षात् अविरुद्धोपलब्धि के हैं। परम्परा से होने वाली अविरुद्धोपलब्धियों का भी इन्हीं से ज्ञान कर लेना चाहिए। जैसे धूँए से गीले ईन्धन का अनुमान करना कार्य-कार्याविरुद्धोपलब्धि है। यहाँ धूँआ गीले ईन्धन रूप साध्य के कार्य अग्नि का कार्य है और उसका विरोधी नहीं है, इसलिए कार्यकार्याविरुद्धोपलब्धि रूप हेतु है। अथवा यहाँ कोश (घट बनने से पहिले की एक अवस्था) था क्योंकि घट है। यहाँ घट रूप हेतु कोश रूप साध्य के कार्य कुशूल (कोश के बाद की अवस्था) का कार्य है। इत्यादि बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं।

विरुद्धोपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि रूप हेतु के भेद सातवें बोल में दिए जाएंगे।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार तृतीय परिच्छेद सू० ८८-९२)

४९६—परदेशी राजा के छः प्रश्न

भरत क्षेत्र के साढ़े पच्चीस देशों में केकयि देश का आधा भाग गिना जाता है। उस में सेयविया (श्वेताम्बिका) नाम की नगरी थी। नगरी से उत्तर पूर्व मियवन (मृगवन) नाम का उद्यान था। नगरी के राजा का नाम परदेशी था। वह बड़ा पापी था।

धार्मिक बातों पर उसे विश्वास न था। साधु साध्वियों से घृणा करता था। राजा के चित्त नाम का सारथि था। वह बड़ा चतुर था। राजा का प्रत्येक कार्य उसकी सलाह से होता था। उन्हीं दिनों कुणाल देश की श्रावस्ती नामक नगरी में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन परदेशी ने चित्त सारथि को जितशत्रु के पास एक बहुमूल्य भेंट देने के लिए तथा उसकी राज्य व्यवस्था देखने के लिए भेजा।

जिस समय चित्त सारथि श्रावस्ती में ठहरा हुआ था भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य श्री केशिश्रमण अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ वहाँ पधारे। चित्त सारथि व्याख्यान सुन कर उनका उपासक बन गया। उसने बारह व्रत अङ्गीकार कर लिए। कुछ दिनों बाद चित्त सारथि ने श्वेताम्बिका लौटने का विचार किया। उसने जितशत्रु राजा से लौटने की अनुमति माँगी। जितशत्रु ने एक बहुमूल्य भेंट परदेशी के लिए देकर चित्त सारथि को विदा दी। चित्त सारथि केशिश्रमण को वन्दना करने गया, उनसे सेयविया पधारने की विनति की और प्रस्थान कर दिया।

अनगार केशिश्रमण श्वेताम्बिका नगरी के मृगवन नामक उद्यान में आ पहुँचे। चित्त सारथि को यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई। आनन्दित होता हुआ वह उद्यान में पहुँचा। वन्दना के बाद उसने निवेदन किया स्वामिन्! हमारा राजा परदेशी बड़ा पापी है, अगर आप उसे धर्म का प्रतिलाभ करा दें तो जगत का महान् कल्याण हो सकता है। केशिश्रमण ने उत्तर दिया राजा के हमारे पास बिना आए हम क्या कर सकते हैं? चित्त सारथि ने किसी उपाय से राजा को यहाँ लाने का विचार किया।

एक दिन चित्त सारथि कुछ नए घोड़ों की परीक्षा दिखाने

के बहाने राजा को उधर ले आया। राजा बहुत थक गया था इसलिए विश्राम करने मृगवन में चला गया। वहाँ केशिश्रमण और उनकी परिषदा को देख कर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। पहिले तो श्रमण और श्रावक सभी को मूर्ख समझा लेकिन चित्त सारथि के समझाने पर उसकी जिज्ञासा वृत्ति बढ़ी। वह केशिश्रमण के पास गया, नम्रता से एक स्थान पर बैठ गया और नीचे लिखे प्रश्न पूछने लगा।

(१) राजा—हे भगवन्! जैन दर्शन में यह मान्यता है कि जीव अलग है और शरीर अलग है। मुझे यह मान्यता सत्य नहीं मालूम पड़ती। इसके लिए मैं एक प्रमाण देता हूँ। मेरे दादा (पितामह) इस नगरी के राजा थे। बहुत बड़े पापी थे। दिन रात पाप कर्म में लिप्त रहते थे। आपके शास्त्रों के अनुसार मर कर वे अवश्य नरक में गए होंगे।

वे मुझे बहुत प्यार करते थे। मेरे हित अहित और सुख दुःख का पूरा ध्यान रखते थे। अगर वास्तव में शरीर को छोड़ कर उनका जीव नरक में गया होता तो मुझे सावधान करने के लिए वे अवश्य आते। यहाँ आकर मुझे कहते, पाप करने से नरक में भयङ्कर दुःख भोगने पड़ते हैं। लेकिन वे कभी नहीं आए। इससे मैं मानता हूँ उनका जीव शरीर के साथ यहीं नष्ट हो गया। शरीर से भिन्न कोई जीव नहीं है।

केशिश्रमण—राजन्! अगर तुम्हारी सूरिकान्ता रानी के साथ कोई विलासी पुरुष सांसारिक भोग भोगे तो तुम उसको क्या दण्ड दो?

राजा—भगवन्! मैं उस पुरुष के हाथ पैर काट डालूँ। शूली पर चढ़ाऊँ या एक ही बार में उसके प्राण ले लूँ।

केशिश्रमण—राजन्! अगर उस समय वह पुरुष कहे कि थोड़ी देर ठहर जाओ। मुझे अपने सम्बन्धियों से मिल लेने दो। मैं उन्हें शिक्षा दूँगा कि दुराचार का फल ऐसा होता है इसलिए इससे अलग रहना चाहिए। तो क्या तुम उसे थोड़ी देर के लिए छोड़ दोगे?

राजा—भगवन्! यह कैसे हो सकता है? ऐसे अपराधी को दण्ड देने में मैं थोड़ी देर भी न करूँगा।

केशिश्रमण—राजन्! जिस तरह तुम उस अपराधी पुरुष को दण्ड देने में देरी नहीं करोगे, उसकी दीनता भरी प्रार्थना पर कुछ भी ध्यान नहीं दोगे, इसी तरह परमाधार्मिक असुर नारकी के जीवों को निरन्तर कष्ट देते रहते हैं। क्षणभर भी नहीं छोड़ते। इस लिए तुम्हारा दादा इच्छा होते हुए भी यहाँ नहीं आ सकता।

(२) परदेशी—भगवन्! मैं एक दूसरा उदाहरण देता हूँ। मेरी दादी (मातामही) श्रमणोपासिका थी। धर्म का तत्त्व समझती थी। जीवाजीवादि पदार्थों को जानती थी। दिन रात धार्मिक कृत्यों में लगी रहती थी। आप के शास्त्रों के अनुसार वह अवश्य स्वर्ग में गई होगी। वह मुझे बहुत प्यार करती थी। अगर उनका जीव शरीर से अलग होकर स्वर्ग में गया होता तो वह यहाँ अवश्य आती और मुझे पाप से होने वाले दुःख और धर्म से होने वाले सुख का उपदेश देती। किन्तु उसने कभी यहाँ आकर मुझे नहीं समझाया। इससे मैं समझता हूँ कि उनका जीव शरीर के साथ यहीं नष्ट हो गया। जीव और शरीर अलग अलग नहीं हैं।

केशिश्रमण—राजन्! जब तुम नहा धो कर, पवित्र वस्त्र पहिन, किसी पवित्र स्थान में जा रहे हो, उस समय अगर कोई टट्टी

में बैठा हुआ पुरुष तुम्हें बुलावे और थोड़ी देर यहाँ बैठ कर बात चीत करने के लिए कहे, तो क्या उसकी बात मान जाओगे?
राजा —नहीं भगवन्! उस समय मैं उस पुरुष से बात चीत करने के लिए अपवित्र स्थान में नहीं जाऊँगा।
केशिश्रमण— राजन्! इसी तरह तुम्हारी दादी यहाँ आकर तुम्हें समझाने की इच्छा रखते हुए भी मनुष्यलोक की दुर्गन्धि आदि कारणों से यहाँ आने में असमर्थ है।
(३) परदेशी— भगवन्! एक और उदाहरण सुनिए। एक समय मैं अपनी राजसभा में बैठा हुआ था। मेरे नगर रक्षक एक चोर पकड़ कर लाए। मैंने उसे जीवित ही लोहे की कुम्भी में डाल दिया। ऊपर लोहे का मजबूत ढक्कन लगा दिया गया। सीसा पिघला कर उसे चारों तरफ से ऐसा बन्द कर दिया गया जिससे वायु सञ्चार भी न हो सके। कुम्भी में कोई छिद्र बाकी न था। मेरे सिपाही उसके चारों तरफ पहरा देने लगे।
कुछ दिनों बाद मैंने कुम्भी को खुलवाया तो चोर मरा हुआ था। जीव और शरीर यदि अलग अलग होते तो जीव बाहर कैसे निकल जाता? कुम्भी में राई जितना भी छिद्र न था। इसलिए जीव के बाहर निकलने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। हाँ, शरीर के विकृत होने से वह भी नहीं रहा। इसलिए शरीर और जीव एक ही हैं।
केशिश्रमण- परदेशी! यदि पर्वत की चट्टान सरीखी एक कोठरी हो। चारों ओर से लिपी हुई हो। दरवाजे अच्छी तरह से बन्द हों। कहीं से हवा घुसने के लिए भी छिद्र न हो। उसमें बैठा हुआ कोई पुरुष जोर जोर से भेरी बजाए तो शब्द बाहर निकलेगा या नहीं?

परदेशी— हाँ भगवन्! निकलेगा।
केशिश्रमण— राजन्! जिस तरह बिल्कुल छिद्र न होने पर भी शब्द कोठरी से बाहर निकल आता है उसी तरह जीव भी कुम्भी से बाहर निकल सकता है। क्योंकि जीव तो हवा से भी सूक्ष्म है।
(४) परदेशी— भगवन्! जीव और शरीर को अभिन्नसिद्ध करने के लिए मैं एक और उदाहरण देता हूँ—
एक चोर को मारकर मैंने लोहे की कुम्भी में डाल दिया। ऊपर मजबूत ढकन लगा दिया। सीसे से बन्द कर दिया। चारों तरफ पहरा बैठा दिया। कुछ दिनों बाद उसे खोलकर देखा तो कुम्भी कीड़ों से भरी हुई थी। कुम्भी में कहीं छिद्र न था, फिर इतने कीड़े कहाँ से घुस गए? मैं तो यह समझता हूँ, कि ये सभी एक ही शरीर के अंश थे। चोर के शरीर से ही ये सब बन गए। उनके जीव कहीं बाहर से नहीं आए।
केशिश्रमण— राजन्! तुमने अग्नि में तपा हुआ लोहे का गोला देखा होगा, अग्नि उसके प्रत्येक अंश में प्रविष्ट हो जाती है। गोले में कहीं छिद्र न होने पर भी जिस तरह अग्नि घुस जाती है, इसी तरह जीव भी बिना छिद्र के स्थान में घुस सकता है। वह तो अग्नि से भी सूक्ष्म है।
(५) राजा— भगवन्! धनुर्विद्या जानने वाला तरुण पुरुष एक ही साथ पाँच बाण फेंक सकता है। वही पुरुष बालक अवस्था में इतना होशियार नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि जीव और शरीर एक हैं, इसीलिए शरीर वृद्धि के साथ उसकी चतुरता जो कि जीव का धर्म है, बढ़ती जाती है।
केशिश्रमण— राजन्! नया धनुष और नई डोरी लेकर वह पुरुष

पाँच बाण एक साथ फैंक सकता है, मगर उसे ही पुराना और सड़ा हुआ धनुष तथा गली हुई डोरी दे दी जाय तो नहीं फैंक सकता। राजन्! जिस तरह उपकरणों की कमी से वही पुरुष बाण नहीं फैंक सकता इसी तरह बालक में भी शिक्षारूप उपकरण की कमी है। जब वह बालक शिक्षा रूप उपकरण की कमी को पूरा कर लेता है तो सरलता से युवा पुरुष की तरह बाण फैंक सकता है। इसलिए बालक और युवा में होने वाला अन्तर जीव के छोटे बड़े होने से नहीं किन्तु उपकरणों के होने और न होने से होता है।

परदेशी— भगवन्! एक तरुण पुरुष लोह, सीसे या जस्त के बड़े भार को उठा सकता है। वही पुरुष जब बुड्ढा हो जाता है, अङ्गोपाङ्ग ढीले पड़ जाते हैं, चलने के लिए लकड़ी का सहारा लेने लगता है। उस समय वह बड़ा भार नहीं उठा सकता। अगर जीव शरीर से भिन्न होता तो वृद्ध भी भार उठाने में अवश्य समर्थ होता।

केशिश्रमण— इतने बड़े भार (कावड़) को युवा पुरुष ही उठा सकता है, लेकिन उसके पास भी अगर साधनों की कमी हो गट्ठर की सारी चीजें बिखरी हुई हों, कपड़ा गला तथा फटा हुआ हो, डोरी और बाँस निर्बल हों तो वह भी नहीं उठा सकेगा। इसी तरह वृद्ध पुरुष भी बाह्य शारीरिक साधनों की कमी होने से गट्ठर उठाने में असमर्थ है।

(६) परदेशी— मैंने एक चोर को जीवित तोला। मारने के बाद फिर तोला। दोनों बार एक सरीखा वजन था। अगर जीव अलग वस्तु होती तो उसके निकलने से वजन अवश्य कम होता। दोनों स्थितियों में वजन का कुछ भी फरक न पड़ने

नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय। जिनदत्त और राजशेखर ने भी इन्हीं को माना है।

वास्तव में देखा जाय तो भारतीय इतिहास के प्रारम्भ से यहाँ दो संस्कृतियाँ चली आई हैं। एक उनकी जो प्राचीन ग्रन्थों, रूढ़ियों और पुराने विश्वासों के आधार पर अपने मतों की स्थापना करते थे। युक्तिवाद की ओर झुकने पर भी प्राचीनता को छोड़ने का साहस न करते थे। दूसरे वे जो स्वतन्त्र युक्तिवाद के आधार पर चलना पसन्द करते थे। आत्मा की आवाज और तर्क ही जिन के लिए सब कुछ थे। इसी आधार पर दोनों धाराओं को ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति के नाम से कहा जाता है। इनमें पहिली प्रवृत्तिप्रधान रही है और दूसरी निवृत्तिप्रधान। ब्राह्मण संस्कृति वेद को प्रमाण मान कर चलती है और श्रमण संस्कृति युक्ति को। इन्हीं के कारण दर्शन शास्त्र भी दो भागों में विभक्त हो गया है। कुछ दर्शन ऐसे हैं जो श्रुति के सामने युक्ति को अप्रमाण मानते हैं। मन्त्र, ब्राह्मण या उपनिषदों के आधार पर अपने मत की स्थापना करते हैं। मुख्यरूप से उनकी संख्या छः है—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त।

श्रमण संस्कृति विचारस्वातन्त्र्य और युक्ति के आधार पर खड़ी हुई। आगे चल कर इसकी भी दो धाराएँ हो गईं। जैन और बौद्ध। जैन दर्शन ने युक्ति का आदर करते हुए भी आगमों को प्रमाण मान लिया। इसलिए उसकी विचार शृङ्खला एक ही भाषा रूप से बनी रही। आचार में मामूली भेद होने पर भी कोई तात्त्विक भेद नहीं हुआ।

कुछ बौद्ध आगम को छोड़ कर एक दम युक्तिवाद में उतर

गए । संसार के महान् रहस्य को साधारण मानव बुद्धि से जानने की चेष्टा करने लगे। जहाँ बुद्धि की पहुँच न हुई उस तत्त्व को ही मिथ्या समझा जाने लगा । धीरे धीरे युक्तिवाद उन्हें शून्यवाद पर ले आया । इसी विचार तारतम्य के अनुसार उनके चार भेद हो गए- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक ।

मानव विकास के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब लोग पारलौकिक बातों की ओर बहुत झुक गए। पारिवारिक, सामाजिक, और राजनीतिक जीवन की ओर उपेक्षा होने लगी। उसी की प्रतिक्रिया के रूप में बार्हस्पत्य दर्शन पैदा हुआ।

इस प्रकार वेद को प्रमाण न मानने वाले दर्शनों के भी छः भेद हो गए ।

यहाँ पर सभी मान्यताओं को संक्षेप में बताया जायगा ।

बौद्ध दर्शन

जैन तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के समय में अर्थात् ई पू छठी या पाँचवीं सदी में कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र गौतम सिद्धार्थ ने बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु इत्यादि के दृश्य देख कर संसार से विरक्ति होने पर छः वर्ष तप करने पर भी अभिलषित वस्तु की प्राप्ति न होने पर गया में बोध प्राप्त किया। बुद्ध नाम से प्रसिद्ध होकर उन्होंने पहिले बनारस के पास सारनाथ और फिर उत्तर हिन्दुस्तान में घूम घूम कर ४५ वर्ष तक उपदेश दिया और अपने धर्म का चक्र चलाया। इन उपदेशों के आधार पर उनके शिष्यों ने और शिष्यों के उत्तराधिकारियों ने बौद्ध सिद्धान्त और दर्शन का रूप निश्चित किया।

बौद्ध साहित्य तीन पिटकों में है-(१) सुत्त पिटक, जिसमें

स मैं मानता हूँ कि शरीर ही जीव है।

केशिश्रमण— राजन्! चमड़े की मशक में हवा भर कर तोलो, फिर हवा निकाल कर तोलो। क्या वजन में फरक पड़ेगा?

परदेशी—नहीं। दोनों दशाओं में वजन एक सरीखा ही रहेगा।

केशिश्रमण— जीव तो हवा से भी सूक्ष्म है क्योंकि हवा गुरु लघु है और जीव अगुरुलघु है। फिर उसके कारण वजन में फरक कैसे पड़ सकता है।

राजा— भगवन्! 'जीव है या नहीं' यह देखने के लिए मैंने एक चोर को चारों ओर से जाँचा, पड़ताला। पर जीव कहीं दिखाई न पड़ा। खड़ा करके सीधा चीर डाला तब भी जीव दिखाई न दिया। काट २ कर बहुत से छोटे २ टुकड़े कर डाले, फिर भी जीव कहीं दिखाई न पड़ा। इससे मेरा विश्वास है कि जीव नाम की कोई वस्तु नहीं है।

केशिश्रमण— राजन्! तुम तो उस लकड़हारे से भी अधिक मूर्ख जान पड़ते हो, जो लकड़ी से आग निकालने के लिए उसके टुकड़े २ कर डालता है फिर भी आग न मिलने पर निराश हो जाता है। जीव शरीर के किसी खास अवयव में नहीं है, वह तो सारे शरीर में व्याप्त है। शरीर की प्रत्येक क्रिया उसी के कारण से होती है।

राजा ने कहा— भगवन्! भरी सभा में आप मुझे मूर्ख कहते हैं क्या यह ठीक है?

केशिश्रमण—राजन्! क्या तुम जानते हो, परिषद् (सभा) कितनी तरह की होती है?

राजा—हाँ भगवन्! परिषद् चार तरह की होती है। क्षत्रिय परिषद्, गृहपति परिषद्, ब्राह्मण परिषद् और ऋषि परिषद्।

केशिश्रमण—क्या तुम्हें यह भी मालूम है कि किस परिषद् में कैसी दण्डनीति है ?
राजा—हाँ भगवन् ! (१) क्षत्रिय परिषद् में अपराध करने वाला हाथ, पैर या जीवन से हाथ धो बैठता है। (२) गृहपति परिषद् का अपराधी बाँधकर आग में डाल दिया जाता है। (३) ब्राह्मण परिषद् का अपराधी उपालम्भ पूर्वक कुँडी या शुनक (कुत्ता) का निशान लगाकर देश निकाला दे दिया जाता है। (४) ऋषि परिषद् के अपराधी को करुणा प्रेम पूर्वक उपालम्भ दिया जाता है।
केशिश्रमण—इस तरह की दण्डनीति से परिचित होकर भी तुम मुझ से ऐसा प्रश्न क्यों पूछते हो ?

इस तरह समझाने पर राजा परदेशी भगवान् केशिश्रमण का उपासक बन गया। उसने श्रावक के व्रत अङ्गीकार किए और न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। परदेशी राजा अन्तिम समय में शुभ भावों से काल करके सौधर्म देवलोक के सूर्याभ नामक विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ से चव कर महा विदेह क्षेत्र से सिद्ध होंगे। (रायपसेणी सूत्र उत्तरार्द्ध सूत्र ६६-७०)

४६७—छः दर्शन

भारतवर्ष का प्राचीन समय आध्यात्मिकता के साथ साथ विचार स्वातन्त्र्य का भी प्रधान युग था। युक्ति और अनुभव के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार था। उस समय में बहुतसी आध्यात्मिक विचारधाराओं का चल पड़ना स्वाभाविक ही था।

'सर्वदर्शन संग्रह' में माधवाचार्य ने सोलह दर्शन दिए हैं। 'षड्दर्शन समुच्चय' में हरिभद्रसूरि ने छः दर्शन बताए हैं—बौद्ध,

नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय। जिनदत्त और राजशेखर ने भी इन्हीं को माना है।

वास्तव में देखा जाय तो भारतीय इतिहास के प्रारम्भ से पहीं दा संस्कृतियाँ चली आई हैं। एक उनकी जो प्राचीन ग्रन्थों, रूढ़ियों और पुरान विश्वासों के आधार पर अपने मतों की स्थापना करते थे। युक्तिवाद की ओर झुकने पर भी प्राचीनता का खण्डन का साहस न करते थे। दूसरे वे जो स्वतन्त्र युक्तिवाद के आधार पर चलना पसन्द करते थे। आत्मा की आवाज और तर्क ही जिन के लिए सब कुछ थे। इसी आधार पर दोन वाली शाखाओं को ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति के नाम स कहा जाता है। इनमें पहिली प्रवृत्तिप्रधान रही है और दूसरी निवृत्तिप्रधान। ब्राह्मण संस्कृति वेद को प्रमाण मान कर चलती है और श्रमण संस्कृति युक्ति को। इन्हीं के कारण दर्शन शास्त्र भी दो भागों में विभक्त हा गया है। कुछ दर्शन ऐस हैं जा श्रुति के सामने युक्ति का अप्रमाण मानते हैं। मन्त्र, ब्राह्मण या उपनिषदों के आधार पर अपने मत की स्थापना करते हैं। मुख्यरूप स उनकी संख्या छः है—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, याग, मीमांसा और वेदान्त।

श्रमण संस्कृति विचारस्वातन्त्र्य और युक्ति के आधार पर खड़ी हुई। आगे चल कर इसकी भी दो धाराएँ हा गईं। जैन और बौद्ध। जैन दर्शन ने युक्ति का आदर करते हुए भी आगमों का प्रमाण मान लिया। इसलिए उसकी विचार शृङ्खला एक ही अस्खलित रूप स बनी रही। आधार में मामूली भेद होने पर भी कोई तात्त्विक भेद नहीं हुआ।

इस बौद्ध आगम को छोड़ कर एक दम युक्तिवाद में उतर

गए। संसार के महान् रहस्य को साधारण मानव बुद्धि से जानने की चेष्टा करने लगे। जहाँ बुद्धि की पहुँच न हुई उस तत्त्व को ही मिथ्या समझा जाने लगा। धीरे धीरे युक्तिवाद उन्हें शून्यवाद पर ले आया। इसी विचार तारतम्य के अनुसार उनके चार भेद हो गए- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

मानव विकास के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब लोग पारलौकिक बातों की ओर बहुत झुक गए। पारिवारिक, सामाजिक, और राजनीतिक जीवन की ओर उपेक्षा होने लगी। उसी की प्रतिक्रिया के रूप में बार्हस्पत्य दर्शन पैदा हुआ।

इस प्रकार वेद को प्रमाण न मानने वाले दर्शनों के भी छः भेद हो गए।

यहाँ पर सभी मान्यताओं को संक्षेप में बताया जायगा।

बौद्ध दर्शन

जैन तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के समय में अर्थात् ई पू छठी या पाँचवीं सदी में कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र गौतम सिद्धार्थ ने बुढ़ापा, बीमारी, मृत्यु इत्यादि के दृश्य देख कर संसार से विरक्ति होने पर छः वर्ष तप करने पर भी अभि लषित वस्तु की प्राप्ति न होने पर गया में बोध प्राप्त किया। बुद्ध नाम से प्रसिद्ध होकर उन्होंने पवित्र बनारस के पास सार नाथ और फिर उत्तर हिन्दुस्तान में घूम घूम कर ४५ वर्ष तक उपदेश दिया और अपने धर्म का चक्र चलाया। इन उपदेशों के आधार पर उनके शिष्यों ने और शिष्यों के उत्तराधिकारियों ने बौद्ध सिद्धान्त और दर्शन का रूप निश्चित किया।

बौद्ध साहित्य तीन पिटकों में है-(१) सुत्त पिटक, जिसमें

है। दूसरी बात यह है कि जगत् में दुःख बहुत है, सच पूछिए तो दुःख ही दुःख है। यह दुःख कर्म के बन्धन से होता है। कर्म के छूटने से बन्धन छूट जाता है और दुःख दूर हो जाता है। सुख शान्ति मिल जाती है। यही निर्वाण है। जीवन काल में यह हो सकता है। पर निर्वाण पाने के बाद जब शरीर छूट जाता है तब क्या होता है? पुनर्जन्म तो हो नहीं सकता। तो क्या आत्मा का सर्वथा नाश हो जाता है, अस्तित्व मिट जाता है? या आत्मा कहीं परम अलौकिक अनन्त सुख और शान्ति से रहता है? इस जटिल समस्या का उत्तर बौद्ध दर्शन में नहीं है। स्वयं बुद्ध ने कोई उत्तर नहीं दिया। संयुत्तनिकाय में वच्छगोत्त बुद्ध से पूछता है कि मरने के बाद आत्मा रहता है या नहीं? पर बुद्ध कोई उत्तर नहीं देते। मज्झिमनिकाय में प्रधान शिष्य आनन्द भी इस प्रश्न का उत्तर चाहता है, या जानना चाहता है कि मरने के बाद बुद्ध का क्या होता है? पर बुद्ध से उत्तर मिलता है कि आनन्द! इन बातों की शिक्षा देने के लिए मैंने शिष्यों को नहीं बुलाया है। अस्तु। यही मानना पड़ेगा कि जैसे बुद्ध ने जगत् की उत्पत्ति के प्रश्न को प्रश्नरूप में ही छोड़ दिया वैसे ही निर्वाण के बाद आत्मा के अस्तित्व को भी प्रश्न रूप में ही रहने दिया। उनका निजी विचार कुछ रहा हो या न रहा हो पर वे इस श्रेणी के तत्त्वज्ञान को अपने कार्य क्षेत्र से बाहर मानते थे। उनका भाव कुछ ऐसा था कि मेरे बताए मार्ग पर चल कर निर्वाण प्राप्त करलो, फिर अन्तिम शरीर त्यागने के बाद क्या होगा? इसकी परवाह मत करो।

बुद्ध के इस ठण्डे भाव से दार्शनिकों की जिज्ञासा न बुझी। बौद्ध दार्शनिक इस प्रश्न को बार बार उठाते हैं। संयुत्तनिकाय

में एक विधर्मी भिक्षु यमक बुद्ध के कथनों से यह निष्कर्ष निकालता है कि मरन के बाद तथागत अर्थात् बुद्ध सर्वथा नष्ट हो जाता है, मिट जाता है, उसका अस्तित्व ही नहीं रहता, केवल शून्य रह जाता है। सारिपुत्त को यह अर्थ स्वीकार नहीं है। बहुत प्रश्नोत्तर के बाद सारिपुत्त यमक से कहता है कि तथागत को तुम जीवन में तो समझ ही नहीं सकते, भला, मरने के बाद क्या समझोगे? स्वयं बौद्धों ने इसे दो तरह से समझा। कुछ ने तो क्षणिकवाद के प्रभाव से यह समझा कि निर्वाण के बाद आत्मा में प्रतिक्षण परिवर्तन नहीं हो सकता। अतः आत्मा का अस्तित्व मिट जाता है। पर कुछ लोगों ने इस मत को स्वीकार नहीं किया और निर्वाण के बाद शरीरान्त होने पर चेतना का अस्तित्व माना।

जब निर्वाण के बाद की अवस्था पर मतभेद था तब दार्शनिक दृष्टि से आत्मा के अस्तित्व के बारे में मतभेद होना स्वाभाविक था। कुछ बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि वस्तुतः आत्मा कुछ नहीं है, केवल उत्तरोत्तर होने वाली चेतन अवस्थाओं का रूप है, कोई स्थायी, अनश्वर, नित्य या अनन्त वस्तु नहीं है, प्रतिक्षण चेतन का परिवर्तन होता है, यही आत्मा है, परिवर्तन बन्द होते ही अवस्थाओं का उत्तरोत्तर क्रम टूटते ही आत्मा विलीन हो जाता है, मिट जाता है। इसके विपरीत अन्य बौद्ध दार्शनिक आत्मा को पृथक् वस्तु मानते हैं। वे परिवर्तन स्वीकार करते हैं पर आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के आधार पर। प्रतिक्षण परिवर्तन तो जड़ पदार्थों में भी होता है पर जड़ और चेतन एक नहीं हैं, भिन्न भिन्न हैं। आत्मा न निरी वेदना है, न निरा विज्ञान है, न केवल संज्ञा है। ये सब लक्षण या

पांच निकाय हैं–दीग्घ, मज्झिम, संजुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक। इनमें सिद्धान्त और कहानियाँ हैं। (२) विनय पिटक, जिसके पांच ग्रन्थ पातिमोक्ख, महावग्ग, चुल्लवग्ग, सुत्तविभङ्ग और परिवर में भिक्खु तथा भिक्खुनियों के नियम हैं। (३) अभिधम्म पिटक, जिसके सात संग्रहों में तत्त्वज्ञान की चर्चा है। इनका मूल पाली भाषा का संस्करण लंका, स्याम और बर्मा में माना जाता है और आगे का संस्कृत संस्करण नेपाल, तिब्बत और एक प्रकार से चीन, जापान और कोरिया में माना जाता है। पाली ग्रन्थों की रचना विन्टरनिट्ज़ लूमी और कीथ आदि के मतानुसार तीसरी सदी के लगभग मानी जाती है।

आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म और संसार के सिद्धान्त बौद्धधर्म ने भी माने हैं। बौद्धधर्म का उद्देश्य है जीव को दुःख से छुड़ा कर परम सुख प्राप्त कराना। दुःख का कारण है तृष्णा और कर्मबन्ध। तृष्णा अज्ञान और मोह के कारण होती है आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और मोह छोड़ना चाहिए। सच्चा ज्ञान क्या है ? यह कि जीव जड़ पदार्थों से भिन्न है, विश्व में कोई चीज स्थिर नहीं है, सब बदलती रहती है, प्रतिक्षण बदलती हैं, यह बौद्ध क्षणिकवाद है। आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है, अनात्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। ये सिद्धान्त प्रायः सब बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं पर इन की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। इनके अलावा और बहुत से सिद्धान्त भिन्न भिन्न शास्त्रों में धीरे धीरे विकसित हुए हैं और इन सब के आधार और प्रमाण पर सैकड़ों पुस्तकों में चर्चा की गई है।

बौद्धशास्त्र में बुद्ध के वाक्यों को प्रमाण माना है, बुद्ध भगवान् सब सच्चे ज्ञान के स्थान हैं, बुद्ध ने जो कुछ कहा है ठीक

कहा है। उदानवर्ग के बदसुत्त में जोर दिया है कि जो सचाई को पहुँचना चाहता है वह बुद्ध का उपदेश सुने। बुद्ध इस सत्यता का उपदेश क्यों देते हैं? इसलिए कि दुःख का निवारण हो और शान्ति मिले। यदि बुद्ध में श्रद्धा हो तो ज्ञान और शान्ति सब में बड़ी सहायता मिलेगी। पर अपनी बुद्धि से भी काम लेना चाहिए। बुद्ध भगवान् ने तो अपने शिष्यों को यहाँ तक कहा था कि मेरे सिद्धान्तों को मेरे कारण मत स्वीकार करो किन्तु अपने आप खूब समझ बूझकर स्वीकार करो।

यह संसार कहाँ से आया है? किसने इसको बनाया है? क्या यह अनादि है, या अनन्त? इन प्रश्नों का उत्तर देने से स्वयं बुद्ध ने इन्कार किया था। क्योंकि इस ज्ञान बीन से निर्वाण में कोई सहायता नहीं मिलती। आगे चल कर बौद्धों ने यह मत स्थिर किया कि संसार का रचयिता कोई नहीं है। महायान बौद्ध शास्त्रों में यह जरूर माना है कि बुद्ध इस संसार को देखते हैं और इसकी भलाई चाहते हैं, भक्तों को शरण देते हैं, दुखियों को शान्ति देते हैं। गौतम बुद्ध ने संसार को प्रधानतः दुःखमय माना है और सांसारिक जीवन का, अनुभवों का अस्तित्व का दर्जा बहुत नीचा रक्खा है। पर दार्शनिक दृष्टि से इन्होंने संसार के अस्तित्व से कभी इन्कार नहीं किया। यद्यपि कुछ आगामी बौद्ध ग्रन्थों से यह ध्वनि निकलती है कि जगत् मिथ्या है, भ्रम है पर सब से प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से इस मत का समर्थन नहीं होता। प्रारम्भ से अन्त तक बौद्ध दर्शन में इस बात पर जोर अवश्य दिया है कि जगत् प्रतिक्षण बदलता रहता है, हर चीज बदलती रहती है, कोई भी वस्तु जैसी इस क्षण में है दूसरे क्षण में वैसी न रहेगी। जो कुछ है क्षण भंगुर

है। दूसरी बात यह है कि जगत् में दुःख बहुत है, सच पूछिए तो दुःख ही दुःख है। यह दुःख कर्म के बन्धन से होता है। कर्म के छूटने से बन्धन छूट जाता है और दुःख दूर हो जाता है। सुख शान्ति मिल जाती है। यही निर्वाण है। जीवन काल में यह हो सकता है। पर निर्वाण पाने के बाद जब शरीर छूट जाता है तब क्या होता है? पुनर्जन्म तो हो नहीं सकता। तो क्या आत्मा का सर्वथा नाश हो जाता है, अस्तित्व मिट जाता है? या आत्मा कहीं परम अलौकिक अनन्त सुख और शान्ति से रहता है? इस जटिल समस्या का उत्तर बौद्ध दर्शन में नहीं है। स्वयं बुद्ध ने कोई उत्तर नहीं दिया। संयुत्तनिकाय में वच्छगोत्त बुद्ध से पूछता है कि मरने के बाद आत्मा रहता है या नहीं? पर बुद्ध कोई उत्तर नहीं देते। मज्झिमनिकाय में प्रधान शिष्य आनन्द भी इस प्रश्न का उत्तर चाहता है, वह जानना चाहता है कि मरने के बाद बुद्ध का क्या होता है? पर बुद्ध से उत्तर मिलता है कि आनन्द! इन बातों की शिक्षा देने के लिए मैंने शिष्यों को नहीं बुलाया है। अस्तु। यही मानना पड़ेगा कि जैसे बुद्ध ने जगत् की उत्पत्ति के प्रश्न को प्रश्नरूप में ही छोड़ दिया वैसे ही निर्वाण के बाद आत्मा के अस्तित्व को भी प्रश्न रूप में ही रहने दिया। उनका निजी विचार कुछ रहा हो या न रहा हो पर वे इस श्रेणी के तत्त्वज्ञान को अपने कार्य क्षेत्र से बाहर मानते थे। उनका भाव कुछ ऐसा था कि मेरे बताए मार्ग पर चल कर निर्वाण प्राप्त करलो, फिर अन्तिम शरीर त्यागने के बाद क्या होगा? इसकी परवाह मत करो।

बुद्ध के इस ठण्डे भाव से दार्शनिकों की जिज्ञासा न बुझी। बौद्ध दार्शनिक इस प्रश्न को बार बार उठाते हैं। संयुत्तनिकाय

में एक विधर्मी भिक्षु यमक बुद्ध के कथनों से यह निष्कर्ष निकालता है कि मरने के बाद तथागत अर्थात् बुद्ध सर्वथा नष्ट हो जाता है, मिट जाता है, उसका अस्तित्व ही नहीं रहता, केवल शून्य रह जाता है। सारिपुत्त को यह अर्थ स्वीकार नहीं है। बहुत प्रश्नोत्तर के बाद सारिपुत्त यमक से कहता है कि तथागत को तुम जीवन में तो समझ ही नहीं सकते, भला, मरने के बाद क्या समझोगे ? स्वयं बौद्धों ने इसे दो तरह से समझा। कुछ ने तो क्षणिकवाद के प्रभाव से यह समझा कि निर्वाण के बाद आत्मा में प्रतिक्षण परिवर्तन नहीं हो सकता। अत आत्मा का अस्तित्व मिट जाता है। पर कुछ लोगों ने इस मत को स्वीकार नहीं किया और निर्वाण के बाद शरीरान्त होने पर चेतना का अस्तित्व माना।

अब निर्वाण के बाद की अवस्था पर मतभेद था तब दार्शनिक दृष्टि से आत्मा के अस्तित्व के बारे में मतभेद होना स्वाभाविक था। कुछ बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि वस्तुतः आत्मा कुछ नहीं है, केवल उत्तरोत्तर होने वाली चेतन अवस्थाओं का रूप है, कोई स्थायी, अनश्वर नित्य या अनन्त वस्तु नहीं है, प्रतिक्षण चेतन का परिवर्तन होता है, वही आत्मा है, परिवर्तन बन्द होते ही अवस्थाओं का उत्तरोत्तर क्रम टूटते ही आत्मा विलीन हो जाता है, मिट जाता है। इसके विपरीत अन्य बौद्ध दार्शनिक आत्मा को पृथक् वस्तु मानते हैं। ये परिवर्तन स्वीकार करते हैं पर आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व के आधार पर। प्रतिक्षण परिवर्तन तो जड़ पदार्थों में भी होता है पर जड़ और चेतन एक नहीं हैं, भिन्न भिन्न हैं। आत्मा न निरी वेदना है, न निरा विज्ञान है, न केवल संज्ञा है। ये सब लक्षण या

गुण इस में हैं पर इनसे पृथक् कोई आत्मा नहीं है। इन दो विरोधी सिद्धान्तों के बीच में बहुत से दार्शनिक विचार हैं जो इधर या उधर झुकते हैं और जिनकी व्याख्या और समालोचना से संस्कृत और पाली बौद्ध साहित्य की सैकड़ों पुस्तकें भरी हैं।

जड़ या अचेतन के विषय में पहिले के बौद्ध ग्रन्थों में बहुत कम नई बातें कही हैं। साधारण हिन्दू दार्शनिक विश्वास के अनुसार यहाँ भी पृथ्वी, तेज, वायु और जल तत्त्व माने हैं। पर आकाश को कहीं कहीं तो तत्त्व माना है और कहीं कहीं नहीं। सब चीजें अनित्य अर्थात् अस्थायी हैं, आगामी बौद्ध दार्शनिकों ने इन्हें क्षणिक कहा है। पहिले के ग्रन्थों में अनित्यता या अस्थिरता की विशेष समीक्षा नहीं की है पर आगे चल कर बौद्ध दार्शनिकों ने हेतु, निदान, कारण या निमित्त इत्यादि की कल्पना करके इन परिवर्तनों को एक जंजीर से जोड़ दिया है। जड़ और चेतन दोनों के विषय में कारणवाद की व्याख्या बड़े विस्तार से की गई है।

जैनियों की तरह बौद्धों ने कर्म को जड़ पदार्थ नहीं माना है। कर्म वास्तव में आत्मा की चेतना है जिसके बाद क्रिया होती है। कर्म के अनुसार अवस्था बदल जाती है पर कर्म के कोई जड़ परमाणु नहीं हैं जो आत्मा से चिपट जाते हों। कर्म की शृङ्खला तोड़ने के लिए शील समाधि और प्रज्ञा आवश्यक हैं। जिनकी विवेचना तरह तरह से बौद्ध ग्रन्थों में की है।

शील या सदाचार का वर्णन करते हुए बौद्धों ने जीवन का धर्म बताया है। जैन साहित्य की तरह बौद्ध साहित्य में भी सब जगह अहिंसा, संयम, इन्द्रियदमन, त्याग, दान इत्यादि पर बहुत जोर दिया है। सब हिन्दुधर्मों की तरह यहाँ भी

सत्य का उपदेश दिया है, ब्रह्मचर्य की महिमा गाई है। तपस्या पर इतना जोर नहीं दिया जितना जैन और ब्राह्मण शास्त्रों में है पर उसका तिरस्कार भी नहीं किया है। बौद्धों ने आध्यात्मिक ध्यान की आवश्यकता स्वीकार की है और बाद के शास्त्रकारों ने योग के बहुत से उपचार और प्रकार बताए हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध, जैन और अनेक ब्राह्मण दर्शन भारतवर्ष की प्राचीन आध्यात्मिक विचार धाराएं हैं। उस समय के कुछ विचारों को सब ने स्वीकार किया है। नैतिक जीवन के आदर्श सब ने एक से ही माने हैं। ये सब दर्शन या धर्म भगवान् महावीर के पश्चात् डेढ़ हजार वर्ष तक साथ साथ रहे, सब का एक दूसरे पर बराबर प्रभाव पड़ता रहा। दार्शनिक विकास और पारस्परिक प्रभाव के कारण इनमें नए नए पन्थ निकलते रहे जो मूल सिद्धान्तों का बहुतसा भाग मानते रहे और जिनका प्रभाव दूसरे पन्थों पर ही नहीं बरन् मूल धर्मों और तत्त्वज्ञानों पर भी पड़ता रहा। राजनीति की तरह धर्म और तत्त्व ज्ञान में भी हिन्दुस्तान का संगठन संघसिद्धान्त के अनुसार था। कुछ बातों में एकता थी, कुछ में भिन्नता। बहुतसी बातों में समानता थी, इसलिए एक क्षेत्र धीरे धीरे दूसरे क्षेत्रों में मिल जाता था। एक दर्शन की मान्यताएं दूसरे दार्शनिकों से सर्वथा भिन्न न थीं। बहुत सी बातों में वे एक दूसरे से मिल जाते थे।

कुछ बौद्ध ग्रन्थों में संसार की उत्पत्ति बड़े विस्तार से लिखी है। तिब्बती दुल्व के पाँचवें भाग में भगवान् बुद्ध भिक्षुओं से कहते हैं कि आभास्वर देवों के पवित्र, सुन्दर, चमकदार, अपार्थिव शरीर थे। वे बहुत दिन तक आनन्द से

जीते थे। प्राचीन समय में पृथ्वी जल से मिली हुई थी, एक बार ऐसी आँधी चली कि जल के साथ पृथ्वी निकल आई। पुण्य क्षीण होने पर बहुत से आभास्वर देव पृथ्वी पर पैदा हुए। उनमें से कुछ ने समुद्र का पानी पिया जिससे उनकी चमक जाती रही। इसके बाद सूरज, चाँद और तारे प्रगट हुए और समय का विभाग शुरू हुआ। भोजन के भेद से लोगों के रंग अलग अलग हो गए, जिनका रंग अच्छा था वे गर्वीले अर्थात् पापी हो गए। भोजन में बहुत से परिवर्तनों के बाद चावल का रिवाज बढ़ा। जिसके खाने से लिङ्गभेद हो गया अर्थात् कुछ लोग पुरुष हो गए और कुछ स्त्री। प्रेम और विलास आरम्भ हुआ मकान बनने लगे, लोग चावल जमा करने लगे, झगड़े शुरू हुए, सरहदें बनीं राजा की स्थापना हुई, वर्ण श्रेणी व्यवसाय इत्यादि के विभाग हुए।

गौतम बुद्ध ने अहिंसा सदाचार और त्याग पर बहुत जोर दिया है। उनके उपदेश से संसार छोड़ कर बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गए और भिक्खु या भिक्षु कहलाए। कुछ दिन बाद आनन्द के कहने से बुद्ध ने स्त्रियों को भी भिक्खुनी बनाना स्वीकार कर लिया। धम्मपद में बुद्ध ने भिक्खुओं को उपदेश दिया है कि कभी किसी का बुरा न मानना चाहिए, किसी से घृणा न करनी चाहिए घृणा का अन्त प्रेम से होता है। भोगविलास में जीवन नष्ट न करना चाहिए पूर उत्साह से आध्यात्मिक उन्नति और भलाई करनी चाहिए। सुत्तनिपात में संसार को बुरा बताया है, माता पिता, स्त्री पुत्र, धन धान्य सब की माया ममता छोड़कर जङ्गल में अकेला घूमना चाहिए। महावग्ग के पब्बज्जासुत्त में भी घर के जीवन को दुःखमय और अपवित्र

बताया है और संन्यास का उपदेश दिया है। कठिन तपस्या से बुद्ध का चित्त व्याकुल हो उठा था। इसलिए उन्होंने या उनके उत्तराधिकारियों ने, भिक्खुओं और भिक्खुनियों को एक एक करके बहुतसी चीजें जैसे कुर्सी, चौकी, चारपाई, खाट तकिए, चटाई, बरामदे, ढके चबूतरे, कपड़े, सुई तागा, मसहरी इत्यादि प्रयोग करने की आज्ञा देदी। मज्झिमनिकाय में बुद्ध ने साफ साफ कहा है कि भिक्खुओं को विलास और क्लेश दोनों की अति से बचना चाहिए। प्रधान शिष्य आनन्द के कहने से बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में लेना स्वीकार कर लिया था पर अनुचित सम्बन्ध और लोकापवाद के डर से बुद्ध ने धीरे धीरे भिक्खुओं को भिक्खुनियों से भोजन लेने से, उनको धर्मोपदेश सुनाने से, उनके अपराधों का विचार करने से, उनको हाथ जोड़ने या दण्डवत् आदि करने से रोक दिया। चुल्लवग्ग से जाहिर है कि संन्यास के प्रचार से बहुत से कुटुम्ब टूट गए और खास कर बूढ़े माता पिताओं को बड़ी वेदना हुई। मज्झिम निकाय में संन्यासी होने वाले युवकों के माता पिता की यन्त्रणा का मर्मभेदी चित्र खींचा है। माताएं रोती हैं, चिल्लाती हैं, पछाड़ खाकर गिरती हैं मूर्छित होती हैं पर संन्यास में मस्त युवक स्नेह के सारे स्रोतों का सत्ता कर अपना हृदय विचलित न होने देते।

गौतमबुद्ध का स्थापित किया हुआ बौद्ध संघ आत्म शासन के सिद्धान्त पर स्थिर था। इसकी कार्यवाही में राज्य की ओर से बहुत कम हस्तक्षेप होता था। संघ में भिक्खु और भिक्खुनी दोनों के लिए एक समान नियम थे। संघ में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। जो कुछ था संघ का था, किसी विशेष भिक्खु या भिक्खुनी का नहीं। स्वयं गौतम बुद्ध ने अपने प्रधान शिष्य

से कहा था– "आनन्द ! मेरे बाद अगर चाहे तो संघ छोटे नियमों में परिवर्तन कर ले।" उसके बाद एक सभा में जब नियमों पर विचार हुआ तो इतना मतभेद प्रगट हुआ कि परिवर्तन करना उचित नहीं समझा गया। सभा ने निर्णय किया कि बुद्ध भगवान् जो कुछ कह गए हैं, वही ठीक है, न उनके किसी नियम में परिवर्तन करना चाहिए, न नया नियम बनाना चाहिए। यद्यपि बुद्ध के नियम संघ में सर्वत्र मान्य थे तो भी साधारण मामलों और झगड़ों का निपटारा प्रत्येक संघ प्रत्येक स्थान में अपने आप कर लेता था। संघ के भीतर सारी कार्यवाही, सब निर्णय जनसत्ता के सिद्धान्त के अनुसार होते थे। महावग्ग और चुल्लवग्ग में संयम मार्गों की पद्धति के नियम दिए हुए हैं। यह धारणा है कि ये सारे नियम बुद्ध ने बनाए थे पर सम्भव है कि कुछ उनके बाद जोड़े गए हों। ये नियम वर्तमान यूरोपियन प्रतिनिधिमूलक व्यवस्थापक सभाओं की याद दिलाते हैं। सम्भव है, इनमें से कुछ तत्कालीन राजकीय सभाओं से लिए गए हों। पर ऐतिहासिक साक्षी के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। नियम बहुत से थे। यहाँ केवल मुख्य नियमों का निर्देश काफी होगा। जब तक निश्चित संख्या में सदस्य न आ जायँ तब तक सभा की कार्यवाही शुरू नहीं हो सकती थी। गणपूरक का कर्तव्य था कि निश्चित संख्या पूरी करे। सभा में स्थान पर आसनपञ्ञापक (आसनप्रज्ञापक) सदस्यों को छोटे बड़े के लिहाज से उपयुक्त स्थानों पर बैठाता था। कभी कभी निश्चित संख्या पूरी होने के पहिले ही काम शुरू हो जाता था, पर पीछे से इस काम की स्वीकृति लेनी होती थी। स्वयं गौतम बुद्ध की राय थी कि ऐसा कभी होना ही नहीं चाहिए।

प्रत्येक प्रस्ताव पर दो या चार बार विचार होता था। सब से पहिले ज्ञप्ति होती थी। जिसमें सदस्य अपना प्रस्ताव सुनाता था और उसके कारण समझाता था। फिर प्रतिज्ञा होती थी जिस में पूछा जाता था कि यह प्रस्ताव संघ को पसन्द है या नहीं। महत्त्वपूर्ण मामलों में यह प्रश्न तीन बार पूछा जाता था। इन स्थितियों में प्रस्ताव पर चर्चा होती थी, पक्ष और विपक्ष में तर्क किया जाता था। जब वक्तृताएं लम्बी हो जातीं, अप्रासंगिक विषय छिड़ जाता या तीव्र मतभेद प्रगट होता तो प्रस्ताव सदस्यों की एक छोटी समिति के सिपुर्द कर दिया जाता था। यदि समिति में भी समझौता न हो सके तो प्रस्ताव फिर संघ के सामने आता था। दूसरी बार भी संघ के एकमत न होने पर कम्मवाचा होती थी अर्थात् प्रस्ताव पर सम्मतियाँ ली जाती थीं। एक पुरुष सदस्यों को रंग रंग की लकड़ी की शलाकाएं बाँट देता था और समझा देता था कि प्रत्येक रंग का अर्थ क्या है? खुल्लम-खुल्ला या चुपके से, जैसा निश्चय हो, सम्मतियाँ डाली जाती थीं। भूयसिकरस्स नियम के अनुसार जिस ओर अधिक सम्मतियाँ आतीं उसी पक्ष की जय होती थी अर्थात् वही माना जाता था। अनुपस्थित सदस्यों की सम्मति डालने का भी प्रबन्ध था। स्वीकृत होने पर प्रस्ताव कार्य या कर्म कहलाता था। एक बार निर्णय हो जाने पर प्रस्ताव पर फिर चर्चा न होनी चाहिए और न उसे रद्द करना चाहिए ऐसी राय गौतम बुद्ध ने दी थी पर कभी कभी इसका उल्लंघन हो जाता था।

बौद्ध संघ में यह नियम था कि नया भिक्खु अर्थात् सद्धिविहारिक दस वर्ष तक उपाध्याय या आचारिक की सेवा में रहे। विद्वान् भिक्खुओं के लिए पाँच वर्ष काफी समझ

जाते थे। कभी कभी इस उम्मेदवारी से सर्वथा मुक्ति भी दे दी जाती थी। बुद्ध ने कहा था कि उपाध्याय और सद्धिविहारिक में पिता पुत्र का सा सम्बन्ध होना चाहिए। संघ में भरती सारी सभा की सम्मति से होती थी। कभी कभी भिक्खु लोग आपस में बहुत झगड़ते थे और दलबन्दी भी करते थे। संघ के सब भिक्खु पातिमोक्ख पाठ करने के लिए जमा होते थे। विद्वान भिक्खु ही पाठ करा सकते थे। उपाध्याय और सद्धिविहारिक के सम्बन्ध पर जो नियम संघ में प्रचलित थे उनसे नए सदस्यों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध हो जाता था। धीरे धीरे बौद्ध संघ इतना फैला कि देश में हजारों संघाराम बन गए। ये बौद्ध धर्म, शिक्षा और साहित्य के केन्द्र थे और मुख्यतः इन्हीं के प्रयत्नों से धर्म का इतना प्रचार हुआ।

बौद्धों ने और जैनों ने संन्यास की जोरदार लहर पैदा की, पर कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें यह ढङ्ग पसन्द न था। बौद्धधर्म की स्थापना के पहिले युवक गौतम को शुद्धोदन ने समझाया था कि बेटा! अभी त्याग का विचार न करो। उसके प्रस्थान पर सभी को बड़ा दुःख हुआ। यशोधरा हिचकी भर भर कर रोती थी, बेहोश होती थी और चिल्लाती थी कि पत्नी को छोड़ कर धर्म पालना चाहते हो यह भी कोई धर्म है? वह कितना निर्दयी है, उसका हृदय कितना कठोर है जो अपने नन्हे से बच्चे का त्याग कर चला गया? शुद्धोदन ने फिर सन्देशा भेजा कि अपने दुःखी परिवार का अनादर न करो, दया परम धर्म है। धर्म जङ्गल में ही नहीं होता, नगर में भी हो सकता है। पुरुषों को सन्यास से रोकने में कभी कभी स्त्रियाँ सफल भी हो जाती थीं।

बौद्धों में कुछ लोग तो हमेशा के लिए संन्यासी हो जाते

थे पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो थोड़े दिनों के लिए ही भिक्षु होते थे। कोई कोई भिक्षु इन्द्रियदमन पूरा न कर सकते थे।

बाद में जाकर दार्शनिक दृष्टि से बौद्धों के चार भेद हो गए। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

वैभाषिक-त्रिपटकों में बताए हुए सभी तत्त्वों को प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष और आगम दोनों प्रमाण स्वीकार करते हैं। सभी वस्तुओं को क्षणिक तथा आत्मसन्तानपरम्परा के छेद को मोक्ष मानते हैं, अर्थात् आत्मा के अस्तित्व का मिट जाना ही मोक्ष है। सभी सविकल्पक ज्ञान मिथ्या हैं। जिसमें किसी तरह की कल्पना न हो ऐसे अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

सौत्रान्तिक-इनके मत से वस्तुओं का सामान्यज्ञान अनुमान द्वारा ही हो सकता है। प्रत्यक्ष निर्विकल्प होने से निश्चय नहीं करा सकता इसलिए एक अनुमान ही प्रमाण है। बाकी सब वैभाषिकों की तरह ही है।

योगाचार-यह संसार की सभी वस्तुओं को मिथ्या मानता है। आत्मा का ज्ञान ही सत्य है। यह ज्ञान भी क्षणिक है। अद्वैत वेदान्ती इसे नित्य मानते हैं यही इन दोनों में भेद है।

माध्यमिक-ये सभी वस्तुओं को शून्यरूप मानते हैं। शून्य न सत् है, न असत्, न सदसत् है, न अनिर्वचनीय है। इन सभी विकल्पों से अलग एक शून्य तत्त्व है। आत्मा या बाह्य पदार्थ सभी मिथ्या हैं, कल्पित हैं, भ्रम रूप हैं।

जैन दर्शन के गुणस्थानों की तरह बौद्धों में १० भूमियाँ मानी गई हैं। अन्तिम धाविसत्व भूमि में पहुँच कर जीव बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है।

बौद्ध दर्शन को सुगत दर्शन भी कहते हैं। बौद्ध साधु मुंडन कराते हैं, चर्मासन और कमण्डलु रखते हैं और रक्त गेरुआ वस्त्र पहनते हैं। ये लोग स्नानादि शौच क्रिया करते हैं। बौद्ध मत में धर्म, बुद्ध और संघ रूप रत्नत्रय है। इस मत में विपश्यी, शिखी, विश्वभू, ककुच्छन्द, काञ्चन, काश्यप और शाक्यसिंह (बुद्ध) ये सात तीर्थङ्कर माने गए हैं। इस शासन में विघ्नों को शान्त करने वाली तारा देवी मानी गई है। बुद्ध के नाम से यह मत बौद्ध कहलाता है। बुद्ध की माता का नाम मायादेवी और पिता का नाम शुद्धोदन था।

चार्वाक दर्शन (जड़वाद)

उपनिषदों के बाद आत्मा, पुनर्जन्म, संसार और कर्म के सिद्धान्त हिन्दुस्तान में लगभग सब ने मान लिए पर दो चार व्यक्ति ऐसे भी रहे जिन्होंने आत्मा और पुनर्जन्म का निराकरण किया और जड़वाद की घोषणा की। बुद्ध और महावीर के समय में अर्थात् ईसा पूर्व ६-५ सदी में कुछ लोग कहते थे कि मनुष्य चार तत्त्वों से बना है, मरने पर पृथ्वी तत्त्व पृथ्वी में मिल जाता है, जल तत्त्व जल में मिल जाता है। अग्नि तत्त्व अग्नि में मिल जाता है और वायु तत्त्व वायु में मिल जाता है। शरीर का अन्त होते ही मनुष्य का सब कुछ समाप्त हो जाता है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है इसलिए पुनर्जन्म का प्रश्न पैदा ही नहीं होता। इन्हें लौकायतिक या चार्वाक कहा जाता था। इनकी कोई रचना अभी तक नहीं मिली है। कहा जाता है, चार्वाक दर्शन पर बृहस्पति ने सूत्र ग्रन्थ रचा था, इसलिए इस का नाम बार्हस्पत्य दर्शन भी है। जैन और बौद्ध ग्रन्थों के अलावा आगे चलकर सर्वदर्शनसंग्रह और सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह

में इनके विचार संक्षेप से दिए हैं। ये कहते हैं कि ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। जैसे कुछ पदार्थों के मिलन से नशा पैदा हो जाता है वैसे ही चार तत्त्वों के मिलन से जीव (चेतन) पैदा हो जाता है। विचार की शक्ति जड़ से ही पैदा होती है, शरीर ही आत्मा है और मैं की धारणा करता है। इस बात पर जड़वादियों में चार भिन्न भिन्न मत थे। एक के अनुसार स्थूल शरीर आत्मा है, दूसरे के अनुसार इन्द्रियाँ आत्मा हैं, तीसरे के अनुसार श्वास आत्मा है और चौथे के अनुसार मस्तिष्क आत्मा है। पर ये सब मानते थे कि आत्मा जड़ पदार्थ से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। यह संसार ही सब कुछ है। स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि निर्मूल कल्पना है। पाप पुण्य का विचार भी निराधार है। जब तक जीना है सुख से जीओ, ऋण लेकर घी पीओ। पुनर्जन्म नहीं है। परलोक की आशा में इस लोक का सुख छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं है। वेदों की रचना, धूर्त, भाण्ड और निशाचरों ने की है। ब्राह्मण कहते हैं कि ज्योतिष्टोम में होम दिया हुआ पशु स्वर्ग में जाता है, तो यज्ञ करने वाला अपने पिता का होम क्यों नहीं कर देता? सर्वदर्शनसंग्रह और सर्व सिद्धान्तसंग्रह के अनुसार लौकायतिकों ने पाप और पुण्य, अच्छाई और बुराई का भेद मिटा दिया और कोरे स्वार्थ तथा भोगविलास का उपदेश दिया। चार्वाक दर्शन प्रत्येक बात का साक्षात् प्रमाण चाहता है। उपमा या अनुमान, श्रुति या उपनिषद् पर भरोसा नहीं करता। ई० पू० ६–५ सदी में अजित ने भी आत्मा के अस्तित्व से इन्कार किया और जड़ वाद के आधार पर अपना पन्थ चलाया। इसी समय संजय ने एक और पन्थ चलाया जो आत्मा पुनर्जन्म आदि के

विषय में कोई निश्चित राय नहीं रखता था।

जैन शास्त्रों में यह मत अक्रियावादी के नाम से सर्वाख्यात है। कहा जाता है, बृहस्पति ने देवों के शत्रु असुरों को मोहित करने के लिए इस मत की सृष्टि की थी।

न्याय

न्याय जिसे तर्क विद्या या वादविद्या भी कहते हैं ई० पू० तीसरी सदी के लगभग गौतम या अक्षपाद के न्यायसूत्रों में और उसके बाद ४ थीं ई० सदी के लगभग वात्स्यायन की महाटीका न्यायभाष्य में, तत्पश्चात् ५ वीं सदी में दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश इत्यादि में, छठी सदी में उद्योतकर के न्यायवार्तिक में और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु में, ६ वीं सदी में धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका में और उसके बाद बहुत से ग्रन्थों और टीकाओं में वादविवाद के साथ प्रतिपादन किया गया है। गौतम का पहला प्रतिज्ञासूत्र है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह तत्त्वों के ठीक ठीक ज्ञान से मुक्ति होती है। तीसरा सूत्र कहता है कि प्रमाण चार तरह का है– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। जब पदार्थ से इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह सम्बन्ध छः प्रकार का है— (१) संयोगद्रव्य का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के संयोग सम्बन्ध से होता है। (२) संयुक्त समवाय–द्रव्य में रहे हुए गुण, कर्म या सामान्य का प्रत्यक्ष संयुक्त समवाय से होता है क्योंकि चक्षु द्रव्य से संयुक्त होती है और गुणादि उसमें समवाय

सम्बन्ध से रहते हैं। (३) संयुक्त समवेत समवाय–गुण और कर्म में रही हुई जाति का प्रत्यक्ष इस सम्बन्ध से होता है क्योंकि इन्द्रिय के साथ द्रव्य संयुक्त है, उस में गुण और कर्म समवेत हैं, गुण और कर्म में गुणत्व कर्मत्व आदि जातियाँ समवाय सम्बन्ध से रहती हैं। (४) समवाय–शब्द का प्रत्यक्ष समवाय सम्बन्ध से होता है क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय आकाशरूप है और शब्द आकाश का गुण होने से उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। (५) समवेत समवाय–शब्दगत जाति का प्रत्यक्ष समवेत समवाय से होता है क्योंकि श्रोत्र में शब्द समवेत है और उस में शब्दत्व जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है। (६) संयुक्त विशेषणता– अभाव का प्रत्यक्ष इस सम्बन्ध से होता है। क्योंकि चक्षु आदि के साथ भूतल संयुक्त है और उसमें घटाभाव विशेषण है।

अनुमान के पाँच अङ्ग हैं– (१) प्रतिज्ञा–सिद्ध की जानेवाली बात का कथन। (२) हेतु–कारण का कथन। (३) उदाहरण। (४) उपनय–हेतु की स्पष्ट सूचना। (५) निगमन–सिद्ध का कथन जैसे (१) पहाड़ पर अग्नि है (२) क्योंकि वहाँ धूआ दिखाई देता है (३) जहाँ जहाँ धूआ है वहाँ वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर में (४) पर्वत पर धूआ है (५) इसलिए पर्वत पर अग्नि है। हेतु दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जो साधर्म्य या सादृश्य के द्वारा साध्य की सिद्धि करता है जैसे ऊपर कहा हुआ धूम हेतु। दूसरा वह जो वैधर्म्य द्वारा साध्य की सिद्धि करता है जैसे जड़ पदार्थों की निर्जीवता से शरीर में आत्मा की सिद्धि। आगे चल कर इन दो प्रकारों के स्थान पर तीन प्रकार माने गए हैं–अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी

वेद ईश्वर का रचा हुआ है और सर्वथा प्रमाण है। इस तरह वाक्य दो तरह के होते हैं- वैदिक और लौकिक। पुराने नैयायिकों ने स्मृतियों को लौकिक वाक्य माना है पर आगे कुछ लेखकों ने इनकी गणना भी वेदवाक्य में की है। वेदवाक्य तीन तरह के हैं– एक तो विधि जिसमें किसी बात के करने या न करने का विधान हो, दूसरा अर्थवाद जिसमें विधेय की प्रशंसा हो, या निषेध्य की निन्दा हो, या कर्म की विभिन्न रीतियों का निर्देश हो, या पुराकल्प अर्थात् पुराने लोगों के आचार से विधेय का समर्थन हो। तीसरा वेद वाक्य अनुवाद है जो फल इत्यादि बता कर या आवश्यक बातों का निर्देश करके विधेय की व्याख्या करता है। इस स्थान पर न्यायदर्शन में पद और वाक्य की विस्तार से विवेचना की है जैसे पद से, व्यक्ति, आकृति और जाति का ज्ञान होता है। शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, इत्यादि इत्यादि।

दूसरे पदार्थ प्रमेय से उन वस्तुओं का अभिप्राय है जिनके यथार्थ ज्ञान से मोक्ष मिलता है। ये बारह हैं—(१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) अर्थ (५) बुद्धि (६) मन (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) पुनर्जन्म (१०) फल (११) दुःख (१२) मोक्ष।

आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है पर इसका अनुमान इस तरह होता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न या व्यापार करने वाला, जानने वाला, सुख और दुःख का अनुभव करने वाला कोई अवश्य है। आत्मा अनेक तथा व्यापक हैं। संसार का रचने वाला आत्मा ईश्वर है। साधारण आत्मा और ईश्वर दोनों में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये आठ गुण हैं। ईश्वर में ये नित्य हैं और संसारी आत्माओं

में अनित्य। ईश्वर का ज्ञान नित्य और सर्व व्यापी है, दूसरों में अज्ञान, अधर्म, प्रमाद इत्यादि दोष भी हैं।

शरीर चेष्टा इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय है। पृथ्वी के परमाणुओं से बना है। धर्म अधर्म या पाप पुण्य के अनुसार आत्मा तरह तरह के शरीर धारण करता है। इन्द्रियाँ पाँच हैं—नाक कान आँख जीभ और त्वचा जो उत्तरोत्तर पृथ्वी, आकाश, तेज, जल और वायु से बनी हैं और अपने उत्तरोत्तर गुण, गन्ध, शब्द, रूप, रस और स्पर्श का ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों के इन्हीं विषयों को अर्थ कहते हैं, जिसको चौथा प्रमेय माना है। आगे के नैयायिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय और अभाव को अर्थ में गिना है। पृथ्वी का प्रधान गुण गन्ध है पर इसमें रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार भी हैं। परमाणुओं में नित्य और स्थूल पदार्थों में अनित्य। इसी तरह जल, तेज, वायु और आकाश में अपने अपने प्रधान गुण क्रमशः मधुर रस, उष्णस्पर्श, अनुष्णाशीत स्पर्श और शब्द के सिवाय और गुण भी हैं। परमाणुओं में नित्य और अवयवी में अनित्य। आकाश के नित्य होने पर भी उसका गुण शब्द अनित्य है।

पाँचवाँ प्रमेय बुद्धि है जिसे ज्ञान भी कहते हैं। इसमें वस्तुएँ जानी जाती हैं। यह परतःस्व है अर्थात् अपने को जानने के लिए इसे दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होती है। यह अनित्य है किन्तु ईश्वर का ज्ञान नित्य माना गया है।

छठे प्रमेय मन को बहुत से नैयायिकों ने इन्द्रिय माना है। स्मरण, अनुमान, संशय, प्रतिभा, शाब्दज्ञान, स्वप्नज्ञान और

और केवलव्यतिरेकी। जिस हेतु के साथ साध्य की अन्वय और व्यतिरेक दोनों तरह की व्याप्तियों के उदाहरण मिल जायें वह अन्वयव्यतिरेकी है जैसे धूम के साथ अग्नि की व्याप्ति। जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है जैसे रसोईघर तथा जहाँ जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ वहाँ धूम भी नहीं है जैसे तालाब। इस तरह यहाँ अन्वय और व्यतिरेक दोनों तरह की व्याप्तियाँ घट सकती हैं इसलिए यह अन्वयव्यतिरेकी है, या जहाँ साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों तरह के दृष्टान्त मिलते हों उसे अन्वयव्यतिरेकी कहते हैं। जहाँ सिर्फ अन्वय या साधर्म्य दृष्टान्त ही मिलता हो उसे केवलान्वयी कहते हैं। जहाँ सिर्फ व्यतिरेक या वैधर्म्य दृष्टान्त ही मिलता हो उसे व्यतिरेकव्याप्ति कहते हैं।

हेत्वाभास पाँच हैं– सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, और कालातीत। जिसमें किसी तरह का हेत्वाभास हो वह हेतु साध्य का साधक नहीं होता। जो हेतु साध्य तथा साध्य को छोड़ कर दूसरे स्थानों में भी रहे उसे सव्यभिचार या अनैकान्तिक कहते हैं जैसे- शब्द नित्य है क्योंकि वस्तु है। यहाँ वस्तुत्व रूप हेतु नित्य आकाश आदि में भी रहता है और अनित्य घट आदि में भी रहता है, इसलिए यह अनैकान्तिक है। विरुद्ध हेतु–जो साध्य से उल्टी बात सिद्ध करे जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि कृतक है। यहाँ कृतकत्व हेतु नित्यत्व रूप साध्य से विपरीत अनित्यत्व को ही सिद्ध करता है। प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष वह है जिस हेतु के विपरीत साध्य को सिद्ध करने वाला वैसा ही एक विरोधी अनुमान हो या जिस हेतु से साध्य की स्पष्टतया सिद्धि न हो। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि नित्य धर्मों वाला है। इसके

विरुद्ध उतने ही बल वाला अनुमान बनाया जा सकता है। शब्द अनित्य है क्योंकि अनित्य धर्मों वाला है। दोनों अनुमान समान शक्ति वाले हैं इसलिए एक भी साध्यसिद्धि में समर्थ नहीं है। 'क्योंकि नित्य धर्मों वाला है' यह हेतु अस्पष्ट भी है। शब्द में दोनों धर्म हो सकते हैं। ऐसी दशा में एक तरह के धर्मों को लेकर नित्यत्व या अनित्यत्व की सिद्धि करना प्रकरणसम है। साध्यसम-जहाँ हेतु साध्य सरीखा अर्थात् स्वयं असिद्ध हो। जैन तर्कशास्त्र में इसे असिद्ध हेत्वाभास कहा गया है जैसे शब्द नित्य है क्योंकि अजन्य है। यहाँ नित्यत्व की तरह अजन्यत्व भी असिद्ध है। कालातीत या कालात्ययापदिष्ट उसे कहते हैं जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रबल प्रमाण से बाधित हो। जैसे अग्नि ठण्डी है क्योंकि चमकती है, जैसे जल। यहाँ अग्नि की शीतलता प्रत्यक्षबाधित है।

उपमान-प्रमाण का तीसरा साधन उपमान है। इस में सादृश्यादि से दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है जैसे घर में पड़े हुए घड़े को जानकर उसी आकारवाले दूसरी जगह पड़े हुए पदार्थ को भी घड़ा समझना। उपमान को वैशेषिक तथा कुछ अन्य दर्शनकारों ने प्रमाण नहीं माना है। जैन दर्शन में इसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं किन्तु परिभाषा में कुछ भेद है।

शब्द-आप्त अर्थात् वस्तु का यथार्थ जानने वाले और उत्कृष्ट चारित्र रखने वाले व्यक्ति का हित की दृष्टि से दिया गया उपदेश। यह दो प्रकार का है एक तो दृष्टार्थ जो इन्द्रियों से जानने योग्य बातें बताता है और जो मनुष्यों को भी हो सकता है। दूसरा अदृष्टार्थ, जो इन्द्रियों से न जानने योग्य बातें स्वर्ग, नरक, मोक्ष इत्यादि बताता है और जो ईश्वर का उपदेश है।

वेद ईश्वर का रचा हुआ है और सर्वथ प्रमाण है। इस तरह वाक्य दो तरह के होते हैं- वैदिक और लौकिक। पुराने नैयायिकों ने स्मृतियों को लौकिक वाक्य माना है पर आगे कुछ लेखकों ने इनकी गणना भी वेदवाक्य में की है। वेदवाक्य तीन तरह के हैं– एक तो विधि जिसमें किसी बात के करने या न करने का विधान हो, दूसरा अर्थवाद जिसमें विधेय की प्रशंसा हो, या निषेध्य की निन्दा हो, या कर्म की विभिन्न रीतियों का निर्देश हो, या पुराकल्प अर्थात् पुराने लोगों के आचार से विधेय का समर्थन हो। तीसरा वेद वाक्य अनुवाद है जो फल इत्यादि बता कर या आवश्यक बातों का निर्देश करके विधेय की व्याख्या करता है। इस स्थान पर न्यायदर्शन में पद और वाक्य की विस्तार से विवेचना की है जैसे पद से, व्यक्ति, आकृति और जाति का ज्ञान होता है। शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, इत्यादि इत्यादि।

दूसरे पदार्थ प्रमेय से उन वस्तुओं का अभिप्राय है जिनके यथार्थ ज्ञान से मोक्ष मिलता है। ये बारह हैं—(१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) अर्थ (५) बुद्धि (६) मन (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) पुनर्जन्म (१०) फल (११) दुःख (१२) मोक्ष।

आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है पर इसका अनुमान इस तरह होता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न या व्यापार करने वाला, जानने वाला, सुख और दुःख का अनुभव करने वाला कोई अवश्य है। आत्मा अनेक तथा व्यापक है। संसार का रचने वाला आत्मा ईश्वर है। साधारण आत्मा और ईश्वर दोनों में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये आठ गुण हैं। ईश्वर में ये नित्य हैं और संसारी आत्माओं

में अनित्य। ईश्वर का ज्ञान नित्य और सर्व व्यापी है, दूसरों में अज्ञान, अधर्म, प्रमाद इत्यादि दोष भी हैं।

शरीर चेष्टा इन्द्रिय और अर्थ का आश्रय है। पृथ्वी के परमाणुओं से बना है। धर्म अधर्म या पाप पुण्य के अनुसार आत्मा तरह तरह के शरीर धारण करता है। इन्द्रियाँ पाँच हैं—नाक कान आँख जीभ और त्वचा जो उत्तरोत्तर पृथ्वी, आकाश, तेज, जल और वायु से बनी हैं और अपने उत्तरोत्तर गुण, गन्ध, शब्द, रूप, रस और स्पर्श का ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों के इन्हीं विषयों को अर्थ कहते हैं, जिसको चौथा प्रमेय माना है। आगे के नैयायिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय और अभाव को अर्थ में गिना है। पृथ्वी का प्रधान गुण गन्ध है पर इसमें रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार भी हैं। परमाणुओं में नित्य और स्थूल पदार्थों में अनित्य। इसी तरह जल, तेज, वायु और आकाश में अपने अपने प्रधान गुण क्रमशः मधुर रस, उष्णस्पर्श, अनुष्णाशीत स्पर्श और शब्द के सिवाय और गुण भी हैं। परमाणुओं में नित्य और अवयवी में अनित्य। आकाश के नित्य होने पर भी उसका गुण शब्द अनित्य है।

पाँचवाँ प्रमेय बुद्धि है जिसे ज्ञान भी कहते हैं। इससे वस्तुएँ जानी जाती हैं। यह परतःप्रकाश है अर्थात् अपने को जानने के लिए इसे दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होती है। यह अनित्य है किन्तु ईश्वर का ज्ञान नित्य माना गया है।

छठे प्रमेय मन को बहुत से नैयायिकों ने इन्द्रिय माना है। स्मरण, अनुमान, संशय, प्रतिभा, शाब्दज्ञान, स्वप्नज्ञान और

सुखदुःखज्ञान मन से होते हैं। मन प्रत्येक शरीर में एक है और अणु के बराबर है। एक क्षण में एक ही पदार्थ को जानता है।

सातवाँ प्रमेय प्रवृत्ति है जो इन्द्रिय, मन या शरीर का व्यापार है। जिससे ज्ञान या क्रिया उत्पन्न होती है। आगामी नैयायिकों के मत से प्रवृत्ति दस तरह की है—शरीर की तीन प्रवृत्तियाँ (१) जीवों की रक्षा (२) सेवा और (३) दान। वाणी की चार प्रवृत्तियाँ (४) सत्य बोलना (५) प्रिय बोलना (६) हित बोलना और (७) वेद पढ़ना। मन की तीन प्रवृत्तियाँ (८) दया (९) लोभ रोकना और (१०) श्रद्धा। ये दस पुण्य प्रवृत्तियाँ हैं। इन से विपरीत दस पाप प्रवृत्तियाँ हैं। प्रवृत्तियों से ही धर्म अधर्म होता है

आठवें प्रमेय दोष में राग, द्वेष और मोह सम्मिलित हैं। राग पाँच तरह का है—काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा और लोभ। द्वेष भी पाँच तरह का है—क्रोध, ईर्ष्या अर्थात् दूसरे के लाभ पर डाह, असूया अर्थात् दूसरे के गुणों पर डाह, द्रोह और अमर्ष अर्थात् जलन। मोह चार तरह का है—मिथ्या ज्ञान, संशय, मान और प्रमाद।

नवाँ प्रमेय पुनर्जन्म या प्रेत्यभाव है। दसवाँ प्रमेय फल अर्थात् कर्मफल और ग्यारहवाँ दुःख है। बारहवाँ प्रमेय मोक्ष या अपवर्ग है। राग द्वेष, व्यापार, प्रवृत्ति, कर्म आदि छूट जाने से, मन को आत्मा में लगाकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करने से जन्म मरण की शृङ्खला टूट जाती है और मोक्ष हो जाता है।

तीसरा पदार्थ संशय है जो वस्तुओं या सिद्धान्तों के विषय में होता है। चौथा पदार्थ प्रयोजन है जो मन वचन या काया के व्यापार या प्रवृत्ति के सम्बन्ध में होता है। पाँचवाँ पदार्थ

दृष्टान्त है जो समानता या विषमता का होता है और आ विचार या तर्क की बात है। वह चार तरह का हो सकता है (१) सर्वतन्त्रसिद्धान्त जो सब शास्त्रों में माना गया है। (२) प्रतितन्त्रसिद्धान्त जो कुछ शास्त्रों में माना गया है कुछ में नहीं। (३) अधिकरणसिद्धान्त जो माने हुए सिद्धान्तों से निकलता है। (४) अभ्युपगमसिद्धान्त जो असङ्गवश माना जाता है। या आगामी सूत्रकारों के अनुसार जो सूत्र में न होते हुए भी शास्त्रकारों द्वारा माना गया है। सातवाँ पदार्थ अवयव वाक्य का अंश है, आठवाँ है तर्क, नवाँ है निर्णय अर्थात् तर्क के द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धान्त। बाकी पदार्थ तर्क शास्त्रार्थ या विचार के अङ्ग प्रत्यङ्ग या बाधाएँ हैं।

नैयायिक दर्शन शैव नाम से भी कहा जाता है। इस मत के साधु दण्डधारी होते हैं। लँगोट बांधते हैं। कम्बल ओढ़ते हैं और जटा रखते हैं। ये लोग शरीर पर भस्म रमाते हैं और नीरस आहार का सेवन करते हैं। भुजा पर तुम्बा धारण किये रहते हैं। प्रायः जङ्गल में रहते हैं और कन्द मूल का आहार करते हैं। अतिथि का सत्कार करने में सदा तत्पर रहते हैं। कोई साधु स्त्री का त्याग करते हैं और कोई उसे साथ में रखते हैं। स्त्री त्यागी साधु उत्तम माने जाते हैं। ये लोग पञ्चाग्नि तपते हैं। दतौन करके, हाथ पैर धोकर शिव का ध्यान करते हुए तीन बार शरीर पर राख लगाते हैं। भक्त लोग नमस्कार करते समय 'ॐ नमः शिवाय' कहते हैं और ये उत्तर में 'शिवाय नमः' कहते हैं। इनके मत में सृष्टि और संहार का कर्ता शंकर माना गया है। शंकर के १८ अवतार माने गए हैं। इनका गुरु अक्षपाद है इसलिये ये आक्षपाद भी कहलाते हैं।

दुःखों से अत्यन्त छुटकारा होना ही इस मत में मोक्ष है। शैवी दीक्षा का महत्त्व बताते हुए ये लोग कहते हैं कि इस दीक्षा को बारह वर्ष सेवन करके जो छोड़ भी दे तो वह चाहे दासी दास ही क्यों न हो, मुक्ति को प्राप्त करता है। इन लोगों का कहना है कि जो शिव को वीतराग रूप से स्मरण करता है वह वीतराग भाव को प्राप्त होता और जो सराग शिव का ध्यान करता है वह सरागभाव को प्राप्त करता है।

वैशेषिक दर्शन

प्राचीन भारत में और अब भी संस्कृत पाठशालाओं में न्यायदर्शन के साथ साथ वैशेषिक दर्शन भी पढ़ाया जाता है। वैशेषिक दर्शन के चिह्न बुद्ध और महावीर के समय में अर्थात् ई० पूर्व ६ ५ सदी में मिलते हैं। पर इसकी व्यवस्था दो तीन सदी पीछे काश्यप, औलूक्य, कणाद, कणभुज या कणभक्ष ने वैशेषिक सूत्र के दस अध्यायों में की है। चौथी ई० सदी के लगभग प्रशस्तपाद ने पदार्थधर्मसंग्रह में और १० ११ ई० सदी में इसके टीकाकार व्योमशेखर ने व्योमवती में, श्रीधर ने न्यायकन्दली में, उदयन ने किरणावली में और श्रीवत्स ने लीलावती में वैशेषिक का कथन किया है। कणाद ने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा से अपना मूल ग्रन्थ आरम्भ किया है। धर्म वह है जिससे पदार्थों का तत्त्वज्ञान होने से मोक्ष होता है। पदार्थ छः हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इनमें संसार की सब चीजें शामिल हैं। द्रव्य नौ हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के लक्षण या गुण वैशेषिक

में न्याय की तरह बताए हैं। पृथ्वी आदि द्रव्यों की उत्पत्ति प्रशस्तपादभाष्य में इस प्रकार वर्णित है। जीवों का जब कर्म फलभोग करने का समय आता है तब महेश्वर को उस भोग के अनुकूल सृष्टि रचने की इच्छा होती है। इस इच्छा के अनुसार जीवों के अदृष्ट बल से वायु के परमाणुओं में हलचल होती है। इससे परमाणुओं में परस्पर संयोग होता है। दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक उत्पन्न होते हैं। तीन द्व्यणुक मिलने से त्रसरेणु। इसी क्रम से एक महान् वायु उत्पन्न होता है। उसी वायु में परमाणुओं के परस्पर संयोग से जलद्व्यणुक त्रसरेणु आदि क्रम से महान् जलनिधि उत्पन्न होता है। जल में पृथ्वी परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से महापृथ्वी उत्पन्न होती है। फिर उसी जलनिधि में तैजस परमाणुओं के परस्पर संयोग से तैजस द्व्यणुकादि क्रम से महान् तेजोराशि उत्पन्न होती है। इस प्रकार चारों महाभूत उत्पन्न हो जाते हैं। यही संक्षेप से वैशेषिकों का 'परमाणुवाद' है। यहां इस बात पर जोर दिया गया है कि किसी भी चीज के टुकड़े करते जाइये, बहुत ही छोटे अदृश्य अणु पर पहुँच कर उसके भी टुकड़ों की कल्पना कीजिए, इसी तरह करते जाइए, जहाँ अन्त हो वहीं आप परमाणु पर पहुँच गए। परमाणुओं के तरह तरह के संयोगों से सब चीजें उत्पन्न हुई हैं। पाँचवें द्रव्य आकाश का प्रधान गुण है शब्द और दूसरे गुण हैं संख्या, परिमाण, पृथक्त्व और संयोग। शब्द एक है आकाश भी एक है, परम महत् है, सब जगह व्यापक है, नित्य है। छठा द्रव्य काल भी परम महत् है, सब जगह व्यापक है, अमूर्त और अनुमानगम्य है।

सातवाँ द्रव्य दिक् भी सर्वव्यापी, परम महत्, नित्य और

अनुमानगम्य है। आठवाँ द्रव्य आत्मा अनुमानगम्य है, और अमूर्त है, ज्ञान का अधिकरण है, जैसा कि कणादरहस्य में शंकर मिश्र ने कहा है कि जीवात्मा मनपर है, सुख है अर्थात् इस शरीर में होने वाले ज्ञान का मानता है। परमात्मा सर्वज्ञ है। अनुमान और वेद से सिद्ध होता है कि परमात्मा ने संसार का रचना की है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये जीवात्मा के गुण हैं। नवाँ द्रव्य मन अन्तःकरण (भीतरी इन्द्रिय) है जिसका इन्द्रियों के साथ संयोग होना ज्ञान के लिए आवश्यक है।

दूसरा पदार्थ गुण वह चीज है जो द्रव्य में रहता है जिसका अपना कोई गुण नहीं है, जो संयोग या विभाग का कारण नहीं है, जिसमें किसी तरह की क्रिया नहीं है। गुण १७ हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा और प्रयत्न इनके अलावा प्रशस्तपादभाष्य में ७ और गुण पाये जाते हैं गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द। अदृष्ट धर्म और अधर्म दोनों शामिल हैं। इस तरह कुल मिला २४ गुण हुए। इनमें से कुछ गुण मूर्त हैं अर्थात् मूर्त में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और मन में पाए जाते हैं। मूर्त का अर्थ है अपकृष्ट अर्थात् परम महत् से छोटे परिमाण वाला होना। जैन दर्शन में प्रतिपादित रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श होना रूप मूर्तत्व यहाँ नहीं लिया जाता। मन में रूप रस आदि न होने पर भी छोटे परिमाण वाला होने से ही मूर्त है। गुण अमूर्त हैं जो आत्मा और आकाश में ही पाए जाते हैं कुछ मूर्त और अमूर्त दोनों हैं अर्थात् मूर्त तथा अमूर्त।

तरह के द्रव्यों में पाए जाते हैं। संयोग, विभाग और पृथक्त्व सदा अनेक द्रव्यों में ही हो सकते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये विशेष या वैशेषिक गुण हैं अर्थात् ये एक चीज़ का दूसरी चीज़ से भेद करते हैं। गुरुत्व, धर्म, अधर्म और संस्कार का ज्ञान अनुमान से होता है इन्द्रियों से नहीं। कुछ गुणों का ज्ञान केवल एक इन्द्रिय से होता है, कुछ का अनेक इन्द्रियों से हो सकता है। वैशेषिक ग्रन्थों में प्रत्येक गुण की व्याख्या विस्तार से की है जिससे इस दर्शन में अनेक भौतिक शास्त्र तथा मानस शास्त्रों के अंश आगए हैं। अदृष्ट अर्थात् धर्म और अधर्म की व्याख्या करते समय बहुत सा आध्यात्मिक ज्ञान भी कहा गया है।

तीसरा पदार्थ कर्म क्षणिक है, गुणहीन है और पाँच तरह का है (१) उत्क्षेपण–ऊपर जाना। (२) अपक्षेपण–नीचे जाना। (३) आकुञ्चन–सङ्कुचित होना। (४) प्रसारण–फैलना (५) गमन–चलना। प्रत्येक प्रकार का कर्म तीन तरह का हो सकता है (१) सत्प्रत्यय जो ज्ञानपूर्वक किया जाय (२) असत्प्रत्यय जो अज्ञान से किया जाय और (३) अप्रत्यय चेतनहीन वस्तुओं का कर्म। कर्म मूर्त्त वस्तुओं में ही होता है। अमूर्त्त आकाश, काल, दिक् और आत्मा में नहीं।

चौथा पदार्थ सामान्य जाति है जो अनेक पदार्थों में एकत्व का भाव कराती है, जैसे अनेक मनुष्यों का एक सामान्य गुण हुआ मनुष्यत्व। जाति द्रव्य, गुण और कर्म में ही हो सकती है। यह दो तरह की होती है पर और अपर अर्थात् बड़ी और छोटी जैसे मनुष्यत्व और ब्राह्मणत्व। सब से बड़ी

जाति है सत्ता जिसमें सब कुछ अन्तर्हित है।

पाँचवाँ पदार्थ विशेष सामान्य से उलटा है अर्थात् एक जाति की चीजों को विशेषताएँ बनाकर एक दूसरे से अलग करता है। विशेष की व्याख्या प्रशस्तपाद ने की है।

छठा पदार्थ समवाय है-नित्यसम्बन्ध। यह द्रव्य में ही रहता है और कभी नष्ट नहीं होता। वैशेषिक मत का दूसरा नाम पाशुपत है। इस मत के साधुओं के लिङ्ग, वेष और दण्ड आदि का स्वरूप नैयायिकों की तरह ही है। उलूक रूपधारी शिव ने कणाद ऋषि के आगे यह मत कहा था इसलिए यह औलूक्य मत भी कहा जाता है। कणाद के नाम से यह मत काणाद भी कहा जाता है।

सांख्य दर्शन

सांख्य के बहुतेरे सिद्धान्त उपनिषदों में और यत्र तत्र महाभारत में भी मिलते हैं। इसके प्रवर्तक अथवा यों कहिये व्यवस्थापक कपिल, ब्रह्मा विष्णु या अग्नि के अवतार माने जाते हैं। वे ईसा पूर्व ६-७ सदी में हुए होंगे। सांख्य दर्शन का पहिला माप्य ग्रन्थ ईश्वरकृष्णकृत 'सांख्यकारिका' तीसरी ई॰ सदी की रचना है। ८वीं ई॰ सदी के लगभग गौड़पाद ने कारिका पर प्रधान टीका लिखी जिस पर फिर नारायण ने सांख्यचन्द्रिका लिखी। नवीं ई॰ सदी के लगभग वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी लिखी। अन्य हिन्दूदार्शनिकों की तरह सांख्य दार्शनिक भी बड़े निर्भय और स्वतन्त्र विचारक होते हैं, अपनी विचार पद्धति या परम्परा के परिणामों से नहीं झिझकते। अन्य दर्शनों की तरह उन पर भी दूसरे दर्शनों

का प्रभाव पड़ा है।

सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी है। संसार का कर्त्ता हर्त्ता किसी को नहीं मानता। सारा जगत् और जगत् की सारी वस्तुएँ प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा और उनके संयोग प्रतिसंयोग से उत्पन्न हुई हैं। पुरुष एक नहीं है जैसा कि वेदान्ती मानते हैं किन्तु बहुत से हैं। सब को अलग अलग सुख दुःख होता है जिससे प्रगट है कि अनुभव करने वाले अलग अलग हैं। पुरुष जिसे आत्मा, पुमान्, पुंगुणजन्तुजीव, नर, कवि, ब्रह्म, अक्षर, प्राण, य, क और सत् भी कह सकते हैं, अनादि है, अनन्त है और निर्गुण है। पदार्थों को पुरुष उत्पन्न नहीं करता, प्रकृति उत्पन्न करती है। पुरुष के सिवाय जो कुछ है प्रकृति है। प्रकृति के आठ प्रकार हैं-अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार, तथा शब्द, स्पर्श, वर्ण, रस और गंध की तन्मात्राएँ। अव्यक्त जिसे प्रधान ब्रह्म, पुर, ध्रुव, प्रधान, क, अक्षर, क्षेत्र, तमस् और प्रसूत भी कह सकते हैं, अनादि और अनन्त है। यह प्रकृति का अविकसित तत्त्व है, इसमें न रूप है, न गंध है, न रस है, न यह देखा जा सकता है और न किसी इन्द्रिय से ग्रहण किया जा सकता है। प्रकृति का दूसरा प्रकार है बुद्धि या अध्यवसाय। यहाँ बुद्धि शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है। बुद्धि एक महत् है और पुरुष पर प्रभाव डालती है। बुद्धि के आठ रूप हैं चार सात्त्विक और चार तामसिक। सात्त्विक रूप हैं-धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। इनके उल्टे चार तामसिक रूप हैं। तथा बुद्धि को मनस्, मति, महत् ब्रह्म, ख्याति, प्रज्ञा, श्रुति, धृति, प्रज्ञानसन्तति, स्मृति और धी भी कहा है।

अहंकार-अहंकार या अभिमान वह है जिससे "मैं सुनता

जाति है तथा जिसमें सब कुछ अन्तर्हित है।

पाँचवाँ पदार्थ विशेष सामान्य से उलटा है अर्थात् एक जाति की चीजों की विशेषताएँ बताकर एक दूसरे से अलग करता है। विशेष की व्याख्या प्रशस्तपाद ने की है।

छठा पदार्थ समवाय है–नित्यसम्बन्ध। यह द्रव्य में ही रहता है और कभी नष्ट नहीं होता। वैशेषिक मत का दूसरा नाम पाशुपत है। इस मत के साधुओं के लिङ्ग, वेष और देव आदि का स्वरूप नैयायिकों की तरह ही है। उलूक रूपधारी शिव ने कणाद ऋषि के आगे यह मत कहा था इसलिए यह औलूक्य मत भी कहा जाता है। कणाद के नाम से यह मत काणाद भी कहा जाता है।

सांख्य दर्शन

सांख्य के बहुतेर सिद्धान्त उपनिषदों में और यत्र तत्र महाभारत में भी मिलते हैं। इसके प्रवर्तक अथवा यों कहिये व्यवस्थापक कपिल, ब्रह्मा विष्णु या अग्नि के अवतार माने जाते हैं। वे ईसा पूर्व ६–७ सदी में हुए होंगे। सांख्य दर्शन का पहिला माध्य ग्रन्थ ईश्वरकृष्णकृत 'सांख्यकारिका' तीसरी ई॰ सदी की रचना है। ८वीं ई॰ सदी के लगभग गौड़पाद ने कारिका पर प्रधान टीका लिखी जिस पर फिर नारायण ने सांख्यचन्द्रिका लिखी। नवीं ई॰ सदी के लगभग वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी लिखी। अन्य हिन्दू दार्शनिकों की तरह सांख्य दार्शनिक भी बड़े निर्भय और स्वतन्त्र विचारक होते हैं, अपनी विचार पद्धति या परम्परा के परिणामों से नहीं झिझकते। अन्य दर्शनों की तरह इन पर भी दूसरे दर्शनों

का प्रभाव पड़ा है।

सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी है। संसार का कर्त्ता हर्त्ता किसी को नहीं मानता। सारा जगत् और जगत् की सारी वस्तुएँ प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा और उनके संयोग प्रतिसंयोग से उत्पन्न हुई हैं। पुरुष एक नहीं है जैसा कि वेदान्ती मानते हैं किन्तु बहुत से हैं। सब को अलग अलग सुख दुःख होता है जिससे प्रगट है कि अनुभव करने वाले अलग अलग हैं। पुरुष जिसे आत्मा, पुमान्, पुँगुणजन्तुजीव, नर, कवि, ब्रह्म, अक्षर, प्राण य , क' और सत् भी कह सकते हैं, अनादि है, अनन्त है और निर्गुण है। पदार्थों को पुरुष उत्पन्न नहीं करता, प्रकृति उत्पन्न करती है। पुरुष के सिवाय जो कुछ है प्रकृति है। प्रकृति के आठ प्रकार हैं-अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार, तथा शब्द, स्पर्श, वर्ण, रस और गंध की तन्मात्राएँ। अव्यक्त जिसे प्रधान ब्रह्म, पुर, ध्रुव, प्रधान, क, अक्षर, क्षेम, तमत् और अमृत भी कह सकते हैं, अनादि और अनन्त है। यह प्रकृति का अविकसित तत्त्व है, इसमें न रूप है, न गंध है, न रस है, न यह देखा जा सकता है और न किसी इन्द्रिय से ग्रहण किया जा सकता है। प्रकृति का दूसरा प्रकार है बुद्धि या अध्यवसाय। यहाँ बुद्धि शब्द का प्रयोग विशुद्ध अर्थ में किया गया है। बुद्धि एक महत् है और पुरुष पर प्रभाव डालती है। बुद्धि के आठ रूप हैं चार सात्त्विक और चार तामसिक। सात्त्विक रूप हैं-धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। इनके उल्टे चार तामसिक रूप हैं। तथा बुद्धि को मनस, मति, महत् ब्रह्म, ख्याति, प्रज्ञा, श्रुति, धृति, प्रज्ञानसन्तति, स्मृति और धी भी कहा है।

अहंकार-अहंकार या अभिमान वह है जिससे "मैं सुनता

हूँ, मैं देखता हूँ, मैं भोग करता हूँ" इत्यादि धारणा उत्पन्न होती है। सांख्यसिद्धान्त में अहंकार प्रकृति से बुद्धि द्वारा उत्पन्न होता है। इससे महत् का भाव निकलता है। अहंकार को तैजस, भूतादि, सानुमान और निरनुमान भी कहते हैं। अहंकार से पाँचों तन्मात्र निकलते हैं जिन्हें अविशेष, महाभूत, प्रकृति, अभोग्य, अणु, अशान्त, अपार और अमूढ भी कहते हैं।

पुरुष और इन आठ प्रकृतियों को मिलाने से भी जगत् के व्यापार स्पष्ट नहीं होते। पुरुष और प्रकृति के निकटतर सम्बन्धों के द्वार और मार्ग बताने की आवश्यकता है और प्रकृति का भी सरल ग्राह्य रूप बताने की आवश्यकता है। इसलिए सोलह विकारों की कल्पना की है अर्थात् पाँच बुद्धि इन्द्रिय, पाँच कर्म इन्द्रिय, मन और पाँच महाभूत। पाँच बुद्धि इन्द्रिय हैं-कान, आँख, नाक, जीभ और त्वचा। जो अपने अपने उपयुक्त पदार्थों का ग्रहण करती हैं। पाँच कर्म इन्द्रिय हैं—वाक्, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय और मलद्वार। मन अनुभव करता है। पाँच महाभूत हैं-पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। भूतों को भूतविशेष विकार, विग्रह, शान्त, घोर, मूढ, आकृति और तनु भी कह सकते हैं। पुरुष, आठ प्रकृति और सोलह विकार मिला कर पच्चीस तत्त्व कहलाते हैं।

अहंकार के कारण पुरुष अपने को कर्ता मानता है, पर वास्तव में पुरुष कर्ता नहीं है। यदि पुरुष स्वयं ही कर्ता होता तो सदा अच्छे ही कर्म करता। बात यह है कि कर्म तीन गुणों के कारण होते हैं-सत्त्व, रज और तम। यह केवल साधारण अर्थ में गुण नहीं है किन्तु प्रकृति के आभ्यन्तरिक भाग हैं। तीनों गुणों में सामञ्जस्य होने पर सृष्टि नहीं होती। किसी

और से विगमता अर्थात् किसी एक गुण की प्रधानता होने पर प्रकृति में संचलन होता है। इस तरह जगत् का आरम्भ होता है और इसके विपरीत क्रम से अन्त होता है। इस क्रम को संकर तथा प्रतिसंकर कहते हैं। संकर का क्रम इस तरह है— जब अव्यक्त का पुरुष से सम्बन्ध होता है तब बुद्धि प्रगट होती है, बुद्धि से अहंकार प्रगट होता है जो तीन तरह का है, वैकारिक अर्थात् सत्त्व से प्रभावित, तैजस् अर्थात् रज से प्रभावित जो बुद्धि इन्द्रियों को पैदा करता है और तामस जो भूतों को पैदा करता है। भूतों से तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं और तन्मात्राओं से भौतिक तत्त्व। इस प्रकार संकर का विकास चलता है। इससे उल्टा क्रम प्रतिसंकर का है जिसका अन्त प्रलय है। भौतिक तत्त्व तन्मात्राओं में भी विलीन हो जाते हैं, तन्मात्राएँ अहंकार में, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि अव्यक्त में। अव्यक्त का नाश नहीं हो सकता। उसका विकास और किसी चीज से नहीं हुआ है। प्रतिसंकर पूरा होने पर पुरुष और अव्यक्त रह जाते हैं। पुरुष अविवेक के कारण प्रकृति से सम्बन्ध करता है, विवेक होने पर सम्बन्ध टूट जाता है। सांख्य का यह प्रकृति-पुरुष विवेक वदान्त के आत्मविवेक से मिलता जुलता है किन्तु पुरुष का यह अविवेक कैसे पैदा होता है कि यह अपने को (आत्मा को) इन्द्रिय, मन या बुद्धि समझ लेता है? पुरुष स्वयं काम नहीं कर सकता तो त्रैगुण्य कहाँ से आ जाता है? बुद्धि कहाँ से पैदा हो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्य में नहीं मिलता। अन्य दर्शनों की तरह यहाँ भी यह सम्बन्ध अनादि मान कर छोड़ दिया जाता है। प्रकृति और पुरुष का अविवेक ही सब दुःखों की जड़ है। इसीसे जन्म मरण होता

रहता है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में सांख्य यह भी मानता है कि स्थूल शरीर के अलावा एक लिङ्गशरीर या आतिवाहिक शरीर है जो बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच तन्मात्राएँ और पाँच आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का बना है, जो दिखाई नहीं पड़ता, पर उसी के कारण एक पुरुष का दूसरे से भेद किया जा सकता है। यह कर्म के अनुसार बनता है और मरन पर पुरुष क साथ दूसरे जन्म में जाता है और फल भोगता है। इस बात पर सांख्यदर्शन बार बार जोर देता है कि इस अविवेक से ही पुरुष संसार के जंजाल में फंस गया है, परिमित होगया है, दुःख उठा रहा है। विवेक होते ही यह दुःख दूर हो जाता है। कृत्रिम सीमाएँ मिट जाती हैं। पुरुष को कैवल्य मिल जाता है। कैवल्य में कोई दुःख नहीं है, कोई परतन्त्रता नहीं है, कोई सीमा नहीं है। यही मोक्ष है।

सांख्य दर्शन में तीन प्रमाण माने गए हैं। प्रत्यक्ष, आप्तवचन और अनुमान। सांख्य के इन सब सिद्धान्तों पर आगामी लेखकों में बहुत सा मतभेद दृष्टिगोचर होता है। इन के अतिरिक्त सांख्यग्रन्थों में अभिबुद्धि (व्यवसाय, अभिमान, इच्छा, कर्तव्यता, क्रिया), कर्मयनि (धृति, श्रद्धा, सुखा, अवि विदिषा, विविदिषा) वायु (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) कर्मात्मा (वैकारिक तैजस् भूतादि, सानुमान, निरनुमान), अविद्या (तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र) तुष्टि, अतुष्टि, सिद्धि, असिद्धि, मूलिकार्थ, षष्टितन्त्र, अनुग्रहसर्ग, भूतसर्ग, दक्षिणा इत्यादि की भी विस्तृत व्याख्या की है।

सांख्य मत के साधु त्रिदंडी अथवा एक दंडी होते हैं। उस्तरे से सिर मुंडाते हैं। इनके वस्त्र भगवें होते हैं और आसन मृग चर्म का होता है। ये ब्राह्मणों के यहाँ ही भोजन करते

हैं। इनका आहार सिर्फ पाँच ग्रास होता है। ये बारह अक्षरों का जाप करते हैं। प्रणाम करते समय भक्त लोग 'ॐ नमो नारायणाय' कहते हैं और उत्तर में साधु लोग 'नारायणाय नमः' कहते हैं। मुख निःश्वास से जीवों की रक्षा करने के लिये ये लोग काष्ठ की मुखवस्त्रिका रखते हैं। जल जीवों की दया के लिए ये लोग गलना (छना) रखते हैं। सांख्य लोग निरीश्वरवादी और ईश्वरवादी भी होते हैं।

योग दर्शन

योग का प्रथम रूप वेदों में मिलता है उपनिषदों में बार बार उसका उल्लेख किया गया है, बौद्ध और जैन धर्मों ने भी योग को स्वीकार किया है, बुद्ध और महावीर ने योग किया था, गीता में कृष्ण ने योग का उपदेश दिया है और पद्धति का निर्देश किया है। योग की पूरी पूरी व्यवस्था ई० सन् से एक दो सदी पहिले पतञ्जलि ने योगसूत्र में की जिस पर व्यास ने चौथी ई० सदी में भाष्य नाम की बड़ी टीका रची। उस पर नवीं सदी में वाचस्पति ने तत्त्व वैशारदी टीका लिखी है। योग पर छोटे मोटे ग्रन्थ बहुत बने हैं और अब तक बन रहे हैं। भगवद्गीता में योग की परिभाषा समत्व से की है। योग का वास्तविक अर्थ यही है कि आत्मा को समत्व प्राप्त हो। बहुत से लेखकों ने योग का अर्थ संयोग अर्थात् परमात्मा में आत्मा का समा जाना माना है पर न तो गीता से और न पतञ्जलि के सूत्रों से इस मत का समर्थन होता है। योग सूत्र के भाष्य में योगसूत्र ने तो यहाँ तक कहा है कि योग वियोग है पुरुष और प्रकृति में विवेक का वियोग है। इस तरह

बौद्ध और जैन जो जगत्कर्त्ता को नहीं मानते योग को मानते हैं और कहीं कहीं तो उस पर बहुत जोर देते हैं। सांख्य से योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। योगसूत्र या योगसूत्रानुशासन को सांख्य प्रवचन भी कहते हैं। विज्ञानभिक्षु जिन्होंने कपिल के सांख्यसूत्र पर टीका की है, योगवार्तिक और योगसारसंग्रह के भी रचयिता हैं और दोनों तत्त्वज्ञानों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। योग ने सांख्य की बहुत सी बातें ले ली हैं पर कुछ नई बातें जोड़ दी हैं, जैसे परमेश्वर, परमेश्वर की भक्ति और चित्त की एकाग्रता। योग शास्त्र ने संयम की विस्तृत पद्धति बना दी है। इसी योग को सेश्वर सांख्य भी कहते हैं।

दूसरे सूत्र में पतञ्जलि कहते हैं कि चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है यदि मन एकाग्र करके आत्मा या परमात्मा के ध्यान में लगा दिया जाय, इन्द्रियों की चंचलता रोक दी जाय तो आत्मा को समत्व और शान्ति मिलती है, सब दुःख मिट जाते हैं और आध्यात्मिक आह्लाद प्रकट होता है। मन की चञ्चलता, बीमारी, सुस्ती, संशय, लापरवाही, मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न होती है। इन्हीं से दुःख भी उत्पन्न होता है। इन सब को दूर करने के लिए मन को तत्त्व पर स्थिर करना चाहिए। इसकी ब्यौरेवार व्यवस्था पतञ्जलि के योगसूत्र में है। योग सूत्र के चार पाद हैं-समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य। समाधिपाद में योग का उद्देश्य और रूप बताया है और दिखाया है कि समाधि कैसी होती है। समाधि के साधनों को दूसरे पाद में बताया है। समाधि से प्राप्त होने वाली अलौकिक शक्तियों तथा विभूतियों का वर्णन तीसरे पाद में है। इन भागों में योग के बहुत से अभ्यास (क्रियाएँ) भी बताए

हैं। योग की पराकाष्ठा होने पर आत्मा को कैवल्य प्राप्त होता है—अर्थात् जगत् के जञ्जाल से हटकर आत्मा आप में ही लीन हो जाता है। यह न समझना चाहिए कि योग मत में कैवल्य होने पर आत्मा परमेश्वर में मिल जाता है। ऐसा कथन योगसूत्रों में कहीं नहीं है और न विज्ञानभिक्षु का योगा सारसंग्रह ही इस धारणा का समर्थन करता है। यह अवश्य माना है कि यदि साधनों से पूरी सिद्धि न हो तो परमेश्वर की कृपा कैवल्य और मोक्ष तक पहुँचने में सहायता करती है। कैवल्य का यह विषय चौथे पाद में है। योग के अभ्यास बहुत से हैं जिनसे स्थिति में अर्थात् वृत्तियों के निरोध में और चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। अभ्यास या प्रयत्न बार बार करना चाहिए। वृत्तियों का निरोध होने पर वैराग्य भी हो जाता है जिसमें दृष्ट और आनुभविक पदार्थों की कोई अभिलाषा नहीं रहती। समाधि के उपायों में भिन्न भिन्न प्रकार के प्राणायामों का बहुत ऊँचा स्थान है। इस सम्बन्ध में हठ या क्रियायोग का भी विस्तृत वर्णन किया है जिससे आत्मा को शान्ति और प्रकाश की प्राप्ति होती है। पातञ्जलों में योग के आठ साधन हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। आसन बहुत से हैं जैसे पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, और स्वस्तिकासन इत्यादि। योगसाधन से विभूतियाँ प्राप्त करके मनुष्य सब कुछ देख सकता है, सब कुछ जान सकता है, भूख प्यास जीत सकता है, दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है। आकाश में गमन कर सकता है, सब तत्त्वों पर विजय कर सकता है और जैसे चाहे उनका प्रयोग कर सकता है। पर पतञ्जलि तथा अन्य लेखकों ने

जोर दिया है कि योग का सच्चा उद्देश्य कैवल्य या मोक्ष है।

पूर्व मीमांसा

पूर्व मीमांसा का विषय–यज्ञ और कर्मकाण्ड वेदों के बराबर पुराना है पर इसकी नियमानुसार व्यवस्था जैमिनि ने ई० पू० चौथी तीसरी सदी में मीमांसा सूत्र में की थी। इस सूत्र पर प्रधान टीका कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका ७ वीं ई० सदी में की। कुमारिल के आधार पर मण्डनमिश्र ने विधिविवेक और मीमांसानुक्रमण ग्रन्थ रचे। इनकी अन्य टीकाएं अब तक होती रही हैं। कुमारिल ने शबर के भाष्य का अनेक स्थानों पर खण्डन किया है पर इसके शिष्य प्रभाकर ने अपनी बृहती टीका में शबर का ही अधिक माना है।

वेद के दो भाग हैं–पूर्वभाग अर्थात् कर्मकाण्ड और उत्तर भाग अर्थात् ज्ञानकाण्ड। दूसरे भाग में ज्ञान की मीमांसा उत्तरमीमांसा या वेदान्त है। पहिले भाग की मीमांसा पूर्व मीमांसा कहलाती है। विषय का आरम्भ करते हुए जैमिनि कहते हैं–'अथातो धर्मजिज्ञासा' अर्थात् अब धर्म जानने की अभिलाषा। अभिप्राय है कि पूर्व मीमांसा धर्म की विवेचना करती है। यह धर्म मन्त्रों और ब्राह्मणों का है। मन्त्रों का माहात्म्य अपूर्व है। ब्राह्मणों में विधि और अर्थवाद हैं। विधियाँ कई तरह की हैं–उत्पत्तिविधि जिनसे सामान्य विधान होता है। विनियोगविधि जिनमें यज्ञ की विधि बताई है। प्रयोग विधि जिन में यज्ञों का क्रम है। अधिकारविधि जो यह बताती है कि कौन व्यक्ति किस यज्ञ के करने का अधिकारी है। इनके साथ साथ बहुत से निषेध भी हैं। इस सम्बन्ध में

जैमिनि ने नामधेय अर्थात् यज्ञ के अग्निहोम, उद्भिद् आदि नामों पर भी बहुत जोर दिया है। ब्राह्मणों के अर्थवादों में अर्थ समझाए गये हैं।

यज्ञों का विधान बहुत से मन्त्रों में, ब्राह्मण ग्रन्थों में और स्मृतियों में है, कहीं कहीं बहुत से क्रम और नियम बताए हैं। कहीं थोड़े और कहीं कुछ नहीं बताए हैं। बहुत सी जगह कुछ पारस्परिक विरोध दृष्टिगोचर होता है। बहुत स्थानों पर संशय होता है कि यहाँ क्या करना चाहिए? किस समय और किस तरह करना चाहिए? इन गुत्थियों को सुलझाना पूर्वमीमांसा का काम है। मीमांसकों ने पाँच तरह के प्रमाण माने हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति (एक वस्तु के आधार पर दूसरी वस्तु के होने या न होने का निश्चय करना) और शब्द। कुमारिल भट्ट ने एक छठा प्रमाण अभाव भी माना है जो वास्तव में अनुमान का ही एक भेद है। पाँच या छः प्रमाण मानते हुए भी मीमांसक प्रायः एक शब्द प्रमाण का ही प्रयोग करते हैं। शब्द अर्थात् ईश्वर वाक्य या ऋषिवाक्य के आधार पर ही ये यज्ञविधान की गुत्थियाँ सुलझाने की चेष्टा करते हैं। अतएव उन्होंने बहुत से नियम बनाए हैं कि श्रुति का अर्थ कैसे लगाना चाहिए? यदि श्रुति और स्मृति में विरोध मालूम हो तो स्मृति का अर्थ कैसे लगाना चाहिए? यदि दो स्मृतियों में विरोध हो तो श्रुति के अनुसार कौन सा अर्थ ग्राह्य है? यदि उस विषय में श्रुति में कुछ नहीं है तो क्या करना चाहिए? यदि स्मृति में कोई विधान है पर श्रुति में उस विषय पर कुछ नहीं है तो कहाँ यह मानना चाहिए कि इस विषय की श्रुति का लोप हो गया है? यह सारी मीमांसा माधव

ने 'न्यायमालाविस्तर' में बड़े विस्तार से की है। अर्थ लगाने के जो नियम यज्ञ विधान के बारे में बनाए गए हैं उनका प्रयोग अन्य विषयों में भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, राजकीय नियम जो शब्द के आधार पर स्थिर हैं इन्हीं नियमों के अनुसार स्पष्ट किए जाते हैं। पूर्वमीमांसा का यह विशेष महत्त्व है। उससे धर्म, आचार, यज्ञ, कानून इत्यादि स्थिर करने में सहायता मिलती है। वास्तव में पूर्वमीमांसा तत्त्वज्ञान की पद्धति नहीं है, यज्ञ और नियम विधान की पद्धति है लेकिन परम्परा से इसकी गणना षड्दर्शन में होती रही है। पूर्वमीमांसा का विषय ऐसा है कि मीमांसकों में मतभेद अवश्यम्भावी था। इसीलिए इनमें भट्ट, प्रभाकर और मुरारि नाम से तीन मत प्रचलित हैं। मुरारि का मत बहुत कम माना जाता है। भट्ट और प्रभाकर में भी प्रभाकर विशेष प्रचलित है।

उत्तरमीमांसा (वेदान्त)

उत्तरमीमांसा या वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदों में हैं पर इनका क्रम से वर्णन सब से पहिले बादरायण ने ई० पू० तीसरी चौथी सदी के लगभग वेदान्तसूत्र में किया। उन पर सब से बड़ा भाष्य शंकराचार्य का है। इनके कालनिर्णय के विषय में कई मान्यताएं हैं। ये सभी मान्यताएं इन्हें ई० ६ ठी सदी से लेकर ९ वीं तक बतलाती हैं। वेदान्त के सिद्धान्त पुराण और साधारण साहित्य में बहुतायत से मिलते हैं और उन पर ग्रन्थ आज तक बनते रहे हैं। वेदान्त का प्रधान सिद्धान्त है कि वस्तुतः जगत् में केवल एक चीज है और वह है ब्रह्म। ब्रह्म अद्वितीय है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है। तो फिर

जगत् में बहुत सी चीजें कैसे दिखाई पड़ती हैं ? वास्तव में एक ही चीज है पर अविद्या के कारण भ्रम हो जाता है कि बहुत सी चीजें हैं। अविद्या क्या है ? अविद्या व्यक्तिगत अज्ञान है, मानवी स्वभाव में ऐसी मिली हुई है कि बड़ी कठिनता से दूर होती है। अविद्या कोई अलग चीज नहीं है। यही माया है, मिथ्या है। यदि अविद्या या माया को पृथक् पदार्थ माना जाय तो ब्रह्म की अद्वितीयता नष्ट हो जायगी और जगत् में एक के बजाय दो चीजें हो जायेंगी। साथ में अविद्या को यदि स्वतन्त्र वस्तु माना जाय तो इसका नाश न हो सकेगा। इसलिए अविद्या भी मिथ्या है, अस्थायी है। प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक आत्मा ब्रह्म का ही अंश है, ब्रह्म से अलग नहीं है। जो कुछ हम देखते हैं या और किसी तरह का अनुभव करते हैं वह भी ब्रह्म का अंश है पर वह हमें अविद्या के कारण ठीक ठीक अनुभव नहीं होता। जैसे कोई दूर से रेगिस्तान को देख कर पानी समझे या पानी में परछाई देख कर समझे कि चन्द्रमा, तारे बादल आदि पानी के भीतर हैं और पानी के भीतर घूमते हैं, उसी तरह हम साधारण वस्तुओं को ब्रह्म न मान कर मकान, पेड़, शरीर या जानवर इत्यादि मानते हैं। ज्यों ही हमें ज्ञान होगा, विद्या प्राप्त होगी अथवा यों कहिए कि ज्यों ही हमारा शुद्ध ब्रह्मरूप प्रकट होगा त्यों ही हमें सब कुछ ब्रह्मरूप ही मालूम होगा। इस अवस्था को पहुंचते ही हमारे दु:ख दर्द की माया मिट जायगी, सुख ही सुख हो जायगा, हम ब्रह्म में मिल जाएँगे अर्थात् अपने असली स्वरूप को पा जाएँगे। आत्मा ब्रह्म है-तुम ही ब्रह्म हो-'तत्त्वमसि'। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, आत्मा ब्रह्म

है जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म है। ब्रह्म को छोड़ कर कोई चीज नहीं है। कुछ भी पाने, जानने या भोगने योग्य नहीं है। तत्त्वमसि में तत् ब्रह्म है त्वं आत्मा है। वास्तव में दोनों एक हैं। वेदान्ती मानते हैं कि यह सिद्धान्त वेदों में है। वेदों के दो भाग हैं– कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्ड। ज्ञान काण्ड विशेष कर उपनिषद् हैं। उपनिषदों में अद्वितीय ब्रह्म का उपदेश है। वेद को प्रमाण मानते हुए भी शंकराचार्य ने कहा है कि जिसने विद्या प्राप्त करली है उसने मोक्ष प्राप्त करली। वह ब्रह्म होगया, उस वेद की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे बाढ़ से लबालब भरे देश में छोटे तालाब का कोई महत्त्व नहीं है वैसे ही विद्या प्राप्त किए हुए आदमी के लिए वेद का कोई महत्त्व नहीं है।

विशुद्ध वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही ब्रह्म है, पर व्यवहार दृष्टि से वेदान्ती जगत् का अस्तित्व मानने को तैयार हैं। शंकर ने बौद्ध शून्यवाद या विज्ञानमात्र का खण्डन करते हुए साफ साफ स्वीकार किया है कि व्यवहार के लिए सभी वस्तुओं का अस्तित्व और उनकी भिन्नता माननी पड़ेगी। इसी तरह यद्यपि ब्रह्म वास्तव में निर्गुण ही है, व्यवहार में उसे सगुण मान सकते हैं। इस तरह ब्रह्म में शक्ति मानी गई है और शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। ब्रह्म से जीवात्मा प्रकट होता है। वह अविद्या के कारण कर्म करता है, कर्म के अनुसार जीवन, मरण, सुख, दुःख होता है, अविद्या दूर होते ही फिर शुद्ध रूप हो कर ब्रह्म में मिल जाता है। जब तक जीव संसार में रहता है तब तक स्थूल शरीर के अलावा एक सूक्ष्म शरीर भी रहता है। जब स्थूल शरीर पंचतत्त्व में मिल जाता है तब भी सूक्ष्म शरीर जीव के साथ रहता है। मुख्य प्राण मन

और इन्द्रियों का बना होता है। जड़ होने पर भी अवश्य रहता है और पुनर्जन्म में आत्मा के साथ जाकर कर्म फल भोगने में सहायक होता है। स्थूल शरीर में मुख्य प्राण के अलावा प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान प्राण भी हैं। पर यह सब व्यवहार बुद्धि से है। यह सब माया का रूप है, अविद्या का परिणाम है अविद्या या माया जो स्वयं मिथ्या है, मिथ्यात्व भी स्वयं कुछ नहीं है। एक ब्रह्म है, अद्वितीय है, बस और कुछ नहीं है।

वेदान्त इतना ऊँचा तत्त्वज्ञान है कि साधारण आत्माओं की पहुँच के परे है। अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म का समझना कठिन है, उसकी भक्ति करना और भी कठिन है अथवा यों कहिए कि विशुद्ध वेदान्त में भक्ति के लिए स्थान नहीं है, भक्ति की आवश्यकता ही नहीं है, ज्ञान विद्या ही एकमात्र उपयोगी साधन है। पर केवल ज्ञानवाद मानवी प्रकृति को सन्तोष नहीं देता, मनुष्य का हृदय भक्ति के लिए आतुर है। अत एव कुछ तत्त्वज्ञानियों ने वेदान्त के क्षेत्र में एक सिद्धान्त निकाला जो मुख्य वेदान्त सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी ब्रह्म को सगुण मानता है और भक्ति के लिए अवकाश निकालता है। अनुमान है कि वेदान्त में यह परिवर्तन भागवत धर्म, महायान बौद्ध धर्म या साधारण ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से हुआ, वेदान्त की इस शाखा को चलाने वाले बहुत से तत्त्वज्ञानी थे जैसे बोधायन, टंक, द्रमिड़ या द्रविड़, गुहदेव, कपर्दिन्, भरुचि। इनके समय का पता ठीक ठीक नहीं लगता पर बारहवीं ई० सदी में रामानुज ने इनका उल्लेख किया है। बोधायन और द्रविड़ शङ्कर से पहिले के मालूम होते हैं। स्वयं रामानुज ने

नए वेदान्तमत को पक्का किया और उसका प्रचार किया। रामानुज सम्प्रदाय के माम भी बहुत से अनुयायी हैं। शंकर अद्वैतवादी है, रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी है। शंकर की तरह रामानुज भी मानते हैं कि ब्रह्म सत्य है, सर्वव्यापी है पर वह ब्रह्म को प्रेम या करुणामय भी मानते हैं। ब्रह्म में चित् भी है, अचित् भी है, दोनों ब्रह्म के प्रकार हैं। आत्माएँ ब्रह्म के भाग हैं अतएव अनश्वर हैं, सदा रहेंगी। ब्रह्म अन्तर्यामी है अर्थात् सब आत्माओं के भीतर का हाल जानता है। मोक्ष होने पर भी, ब्रह्म में मिल जाने पर भी आत्माओं का अस्तित्व रहता है। ब्रह्म के भीतर होते हुए भी उनका पृथक्त्व रहता है। यह सच है कि कल्प के अन्त में ब्रह्म अपनी कारणावस्था को धारण करता है और आत्मा तथा अन्य सब पदार्थ संकुचित हो जाते हैं, अव्यक्त हो जाते हैं। पर दूसरे कल्प के प्रारम्भ में आत्माओं को अपने पुराने पाप पुण्य के अनुसार फिर शरीर धारण करना पड़ता है। यह क्रम मोक्ष तक चलता रहता है। जगत् ब्रह्म से निकला है पर बिल्कुल मिथ्या नहीं है। इस विचार शृङ्खला में ब्रह्म सगुण हो जाता है, उसमें विशेषताएँ आजाती हैं, अद्वैत की जगह विशिष्टाद्वैत आता है, यह ईश्वर प्रेम से भरा है। उसकी भक्ति करनी चाहिए। प्रसन्न होकर वह भक्तों को सब सुख देगा।

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के सिवाय वेदान्त में और भी कई विचार धाराएँ प्रचलित हैं। द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि की गणना भी वेदान्तदर्शन में ही की जाती है। उपनिषद्, बादरायण ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता का प्रमाण मान कर चलने वाले सभी दर्शन वेदान्त के अन्तर्गत हैं। इन तीनों को वेदान्त की प्रस्थान

त्रयी कहा जाता है। माध्व, रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने अपने अपने मत के अनुसार इन ग्रन्थों की व्याख्याएं लिखी हैं। कौनसी व्याख्या मूल ग्रन्थकार के अभिप्राय को विशेष स्पष्ट करती है यह अभी विवाद का विषय है। फिर भी शाङ्करभाष्य के प्रति विद्वानों का बहुमान है। इसका कारण है शङ्कराचार्य स्वयं बहुत बड़े विचारक और स्पष्ट लिखने वाले थे। उनके बाद भी शाङ्करपरम्परा में मण्डनमिश्र, सुरेश्वराचार्य वाचस्पतिमिश्र, श्रीहर्ष, मधुसूदन सरस्वती और गौड़ ब्रह्मानन्द सरीखे बहुत बड़े विद्वान् हुए। शाङ्करशाखा के विद्वानों ने अपने स्वतन्त्र विचार के अनुसार किसी किसी बात में शंकराचार्य से मतभेद भी प्रगट किया है। यह मत अन्त तक विद्वानों और स्वतन्त्र विचारकों के हाथ में रहा है। जब कि विशिष्टाद्वैत वगैरह भक्ति प्रधान मत भक्तों के हाथ में चले गए। यही कारण है कि शाङ्कर वेदान्त अन्त तक युक्तिवाद का पोषक रहा और दूसरे मत भावुकता में बह गए। मोड़ युक्तिवादी होने पर भी शङ्कराचार्य वेद को प्रमाण मान कर चलते हैं। श्रुति और युक्ति का सामञ्जस्य ही इस मत के विशेष प्रचार का कारण है। भक्ति सम्प्रदाय में आगे जाकर रूप गोस्वामी, चैतन्यमहाप्रभु आदि बड़े बड़े भक्त हुए हैं।

मत मतान्तरों की विपुलता और युक्ति तथा श्रुति की प्रौढ़ता के कारण सभी वैदिक दर्शनों में वेदान्त का ऊँचा स्थान है।

जैन दर्शन

अरिहन्त या जिन के अनुयायी जैन कहे जाते हैं। जिसने आत्मा के शत्रुओं को मार डाला है अथवा जीत लिया है उस

अरिहन्त या जिन कहा जाता है। जिन काम, क्रोध मद और लोभ आदि आत्मा के शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेते हैं। संसार की सारी वस्तुओं को प्रत्यक्ष जानते तथा देखते हैं। जो जिन समय समय पर धर्म में आई हुई शिथिलता को दूर करते हैं, धर्म संघ रूप तीर्थ की व्यवस्था करते हैं वे तीर्थंकर कहे जाते हैं। प्रत्येक संघ में साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका रूप चार तीर्थ होते हैं।

जैन साधुओं का प्राचीन नाम निगंथ (निर्ग्रन्थ) है। अर्थात् जिन्हें किसी प्रकार की गांठ या बन्धन नहीं है। निगंथों का निर्देश बौद्ध शास्त्रों में स्थान स्थान पर आता है। मथुरा तथा कई और स्थानों से कई हजार वर्ष पुराने जैन स्तूप (स्तंभ) निकले हैं। ऋग्वेद में जैन दर्शन का जिक्र है। इन सब प्रमाणों से यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि जैन दर्शन बौद्ध दर्शन की शाखा या कोई अर्वाचीन मत नहीं है। वैदिक संस्कृति के प्रारम्भ में भी इसका अस्तित्व था।

जैन संस्कृति, जैन विचारधारा और जैन परम्परा अपना स्वतन्त्र वास्तविक अस्तित्व रखती हैं। प्रसिद्ध विद्वान् हर्मन जैकोबी ने कहा है 'सच कहा जाय तो जैन दर्शन का अपना निजी आध्यात्मिक आधार है। बौद्ध और ब्राह्मण दोनों दर्शनों से भिन्न इसका एक स्वतन्त्र स्थान है।' भारतीय प्राचीन इतिहास को समुज्ज्वल बनाने में इसका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

जैन दर्शन के अनुसार सत्य अनादि है और अनन्त भी। संसार दो प्रकार के द्रव्यों से बना है, जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। सभी द्रव्य अनादि और अनन्त हैं किन्तु सांख्य-योग की तरह कूटस्थ नित्य नहीं हैं। उनमें निरन्तर परिवर्तन होता

रहता है। उनकी पर्याय प्रति-क्षण बदलती रहती है। पर्यायों का बदलना ही संसार की अनित्यता है। यह परिवर्तन करना काल द्रव्य का काम है। उत्थान और पतन, उन्नति और अवनति, वृद्धि और ह्रास काल द्रव्य के परिणाम हैं। जैन दर्शन में काल को एक बारह आरों वाले चक्र के समान बताया जाता है घूमते समय चक्र में आधे आर नीचे की ओर जाते हैं और आधे ऊपर की ओर। काल चक्र के छ आरों में क्रमिक उत्थान होता है और छ में क्रमिक पतन। इन दो विभागों को क्रमशः उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कहा जाता है। उत्सर्पिणी काल में क्रमशः सभी वस्तुओं की उन्नति होती जाती है जब वह अपनी सीमा को पहुँच जाती है तब ह्रास होना प्रारम्भ होता है। उसी को अवसर्पिणी कहते हैं। उत्सर्पिणी का अर्थ है चढ़ाव और अवसर्पिणी का अर्थ है उतार। चढ़ाव और उतार संसार का अटल नियम है जब संसार अपनी क्रमिक उन्नति और अवनति के एक घेरे को पूरा कर लेता है तब एक कालचक्र पूरा होता है। जैन दर्शन के अनुसार संसार के इस परिवर्तन में बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का समय लगता है। सागरोपम का स्वरूप बोल नं० १०६, प्रथम भाग में है।

एक कालचक्र में ४८ तीर्थङ्कर होते हैं। २४ उत्सर्पिणी में और २४ अवसर्पिणी में। उत्सर्पिणी का पाँचवाँ और छठा आरा तथा अवसर्पिणी का पहला और दूसरा आरा भोगभूमि माना जाता है। अर्थात् उस समय जनता वृक्षों से प्राप्त फलों पर निर्वाह करती है। सेना, लिखाई पढ़ाई या खेती वगैरह किसी प्रकार उद्योग नहीं होता। लोग बहुत सरल होते हैं। धर्म अधर्म या पुण्य पाप से अनभिज्ञ होते हैं। उत्सर्पिणी

का चौथा और अवसर्पिणी का तीसरा आरा समाप्त होने से कुछ पहले खाद्य सामग्री कम हो जाती है और उनमें झगड़ा खड़ा हो जाता है। धीरे धीरे लोग इस बात को समझने लगते हैं कि अब वृक्षों से प्राप्त फलों पर निर्वाह नहीं होगा। किसी ऐसे महा पुरुष की आवश्यकता है जो आजीविका के कुछ नए साधन बताए तथा समाज को व्यवस्थित करे।

उसी समय प्रथम तीर्थङ्कर का जन्म होता है। वे आग जलाना खेती करना, भोजन बनाना, बर्तन बनाना आदि गृहस्थोपयोगी बातों को बताते हैं। समाज के नियम बांध कर जनता को परस्पर सहयोग से रहना सिखाते हैं। अन्तिम अवस्था में वे स्वयं दीक्षा लेकर कठोर तपस्या द्वारा कैवल्य प्राप्त करते हैं और जनता को धर्म का उपदेश देते हैं। उनके बाद दो आरों में क्रमशः तईस तीर्थङ्कर होते हैं। शेष दो आरों में पाप बहुत अधिक बढ़ जाता है। ये दोनों इकीस इकीस हजार वर्ष के होते हैं। उत्सर्पिणी के पहले आरे सरीखा अवसर्पिणी का छठा आरा होता है। इसी प्रकार व्यत्यय(उल्टे) क्रम से सभी आरों को जान लेना चाहिए।

वर्तमान समय अवसर्पिणी काल है। इसमें तीसरे आरे के तीसरे भाग की समाप्ति में पल्योपम का आठवाँ भाग शेष रहने पर कल्पवृक्षों की शक्ति कालदोष से न्यून हो गई। खाद्य सामग्री कम पड़ने लगी। युगलियों में द्वेष और कषाय की मात्रा बढ़ी और आपस में विवाद होने लगा। उन विवादों का निपटारा के लिए युगलियों ने सुमति नाम के एक बुद्धिमान तथा प्रतापी पुरुष को अपना स्वामी चुन लिया। इस प्रकार चुने जाने के बाद उनका नाम कुलकर पड़ा। सुमति के बाद

क्रमशः चौदह कुलकर हुए। पहले पाँच कुलकरों के समय 'हा' दण्ड था। अर्थात् अपराधी को 'हा' कह देना ही पर्याप्त था। छठे से दसवें कुलकर तक मकार अर्थात् 'मत करो' यह देना दण्ड था। ग्यारहवें से पन्द्रहवें कुलकर तक धिक्कार दण्ड था। इनसे यह जाना जा सकता है कि जनता किस प्रकार अधिकाधिक कुटिल परिणामी होती गई और उसके लिए उत्तरोत्तर कठोर दण्ड की व्यवस्था करनी पड़ी।

पन्द्रहवें कुलकर भगवान् ऋषभदेव हुए। ये चौदहवें कुलकर नाभि के पुत्र थे। माता का नाम था मरुदेवी। जम्बूद्वीप पण्णत्ति में लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणी के प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थङ्कर और प्रथम धर्म चक्रवर्ती थे। इनके समय युगल धर्म विच्छिन्न हो गया। आजीविका के लिए नए नए साधनों का आविष्कार हुआ। भगवान् ऋषभदेव ने लोगों को रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न कर्मों की व्यवस्था की। आवश्यकतानुसार अधिक अन्न पैदा करने के लिए खेती का आविष्कार किया। जङ्गली पशु तथा हिंसक प्राणियों से खेती तथा अपनी रक्षा के लिए असि अर्थात् शस्त्र विद्या को सिखाया। जमीन जायदाद तथा राज्य कार्यों की व्यवस्था के लिए लिखापढ़ी का तरीका निकाला। भगवान् ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्णों की कर्मानुसार व्यवस्था की। ब्राह्मण वर्ण उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने निकाला।

अपने जीवन के अन्तिम समय में भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थाश्रम छोड़कर मुनिव्रत ले लिया। कठोर तपस्या के बाद कैवल्य प्राप्त किया। माघ कृष्णा एकादशी को यह संसार

-

छोड़ कर अनन्त सुखमय मोक्ष में पदार्पण कर गए। भगवान् ऋषभदेव के बाद तेईस तीर्थङ्कर हुए। इनमें इक्कीस वर्तमान इतिहास से पहले हो चुके। बाईसवें नेमीनाथ महाभारत के समय हुए। ये यदुवंशी क्षत्रिय तथा कृष्ण वासुदेव की भूआ के पुत्र थे। इनका समय ई० पू० ८४५०० वर्ष माना जाता है।

ईसा के पहले आठवीं सदी में भगवान् पार्श्वनाथ हुए। ये तेईसवें तीर्थङ्कर थे। भगवान् पार्श्वनाथ के समय चातुर्याम धर्म था अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह ये चार ही महाव्रत थे। ब्रह्मचर्य नामक चतुर्थ व्रत का अन्तर्भाव अपरिग्रह में कर लिया जाता था, क्योंकि बिना ममत्व या परिग्रह के अब्रह्मसेवन नहीं होता। उस समय साधु रंगीन वस्त्र पहिनते थे। आवश्यकता पड़ने पर प्रतिक्रमण करते थे। द्वितीय तीर्थङ्कर भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक बीच के बाईस तीर्थङ्करों में इसी प्रकार का चातुर्याम धर्म कहा गया है। कहा जाता है, प्रथम तीर्थङ्कर के समय जनता सरल ज्ञान के कारण वस्तुस्वरूप को कठिनता से नहीं समझती है और अन्तिम तीर्थङ्कर के समय कुटिल ज्ञान के कारण धार्मिक नियमों में गलियाँ निकालती रहती है। इसलिए दो तीर्थङ्करों के समय पञ्चयाम धर्म, नियमप्रतिक्रमण तथा बहुत से दूसरे कड़े नियम होते हैं। बीच के बाईस तीर्थङ्करों के समय जनता सरल भी होती है और चतुर भी। वह धर्म के रहस्य को ठीक ठीक समझती है और उसका हृदय से पालन करती है।

भगवान् पार्श्वनाथ के ढाई सौ वर्ष बाद अर्थात् ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में भगवान् महावीर हुए। बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले में जहाँ आजकल 'बसाढ़' नाम का गाँव सा

गाँव है वहाँ वैशाली नाम की विशाल नगरी थी। यानी यात्री योन चोंना के अनुसार इसकी परिधि २० मील थी। उसके पास कुण्डलपुर नाम का नगर था। कुण्डलपुर के समीप ही क्षत्रियकुण्ड नामक ग्राम में लिच्छवि वंश के सिद्धार्थ नामक राजा रहते थे। उनकी रानी का नाम था त्रिशला देवी।

चौथा आरा समाप्त होने से ७५ वर्ष और विक्रम सम्वत् से ५४२ वर्ष पहले चैत्र शुक्ला त्रयोदशी मङ्गलवार को, उत्तरफाल्गुनी नक्षत्र में सिद्धार्थ के घर अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीमहावीर प्रभु का जन्म हुआ। उन्होंने ३० वर्ष गृहस्थावास में रहकर मिगसर बदी दशमी को दीक्षा ली। साढ़े बारह वर्ष तक घोर तपस्या की। भयङ्कर कष्टों का सामना किया। साढ़े बारह वर्ष में केवल ३४६ दिन आहार किया। शेष दिन निराहार ही रहे।

उग्र तपस्या के द्वारा कर्ममल खपा देने पर उन्हें केवलज्ञान हो गया। उन्होंने संसार के सत्य स्वरूप को जान लिया। आत्मकल्याण के बाद जगत्कल्याण के लिए उपदेश देना शुरू किया। संसार सागर में भटकते हुए जीवों को सुख प्राप्ति का सच्चा मार्ग बताना आरम्भ किया। उन्होंने कहा —

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'

अर्थात्–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग है। उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्ययन में आया है:—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

अर्थात्–दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता, बिना ज्ञान के चारित्र नहीं होता। चारित्र के बिना मोक्ष और मोक्ष के बिना परम

सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी किसी जगह ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों को मोक्ष का मार्ग बताया गया है। तप वास्तव में चारित्र का ही भेद है, इसलिए इन वाक्यों में परस्पर भेद न समझना चाहिए।

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'

वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धान अर्थात् विश्वास रखना या वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन होने से जीव आत्मा को शरीर से अलग समझने लगता है। सांसारिक भोगों को दुःखमय और निवृत्ति को सुखमय मानता है। सम्यग्दर्शन से जीव में ये गुण प्रकट होते हैं- प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। इन गुणों से सम्यग्दर्शन वाला जीव पहिचाना जा सकता है।

आवश्यकसूत्र में सम्यक्त्व का स्वरूप नीचे लिखे अनुसार बताया गया है। जिन्होंने राग, द्वेष, मद, मोह आदि आदि आत्मा के शत्रुओं को जीत लिया है तथा आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले चार घाती कर्मों को नष्ट कर दिया है ऐसे वीतराग को अपना देव अर्थात् पूज्य परमात्मा समझना। पाँच महाव्रत पालन वाले सच्चे साधुओं को अपना गुरु समझना और राग द्वेष से रहित सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए पदार्थों को सत्य समझना। परमार्थ वस्तुओं को जानने की रुचि रखना। जिन्होंने परमार्थ को जान लिया है ऐसे उत्तम पुरुषों की सेवा तथा सत्संग करना और अपने मत का मिथ्या आग्रह करने वाले कुदर्शनी का त्याग करना। सम्यग्दर्शन सम्पन्न व्यक्ति के लिए उपर लिखी बातें आवश्यक हैं।

दृढ़ श्रद्धा या श्रद्धा सफलता की कुञ्जी है। आधिभौतिक

या आध्यात्मिक सभी प्रकार की सिद्धियों के लिये आत्मविश्वास आवश्यक है। मोक्ष के लिए भी यह जरूरी है कि मोक्ष के उपाय में दृढ़ विश्वास हो। इसी को सम्यग्दर्शन कहते हैं। जो व्यक्ति डाँवाडोल रहता है वह कभी सफलता या कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता। इसी लिए सम्यग्दर्शन के पाँच दोष बताए गए हैं। (१) शङ्का-मोक्ष मार्ग में सन्देह करना। (२) कांक्षा-मोक्ष के निश्चित मार्ग को छोड़ कर इधर उधर भटकना या परमसुख रूप मोक्ष प्राप्ति के परमध्येय से विचलित होकर दूसरी बातों की इच्छा करने लग जाना। (३) विचिकित्सा-धर्माराधन के फल में सन्देह करना। (४) परपाषण्डप्रशंसा-धर्महीन किसी ढोंगी या इन्द्रजालिक की लौकिक ऋद्धि को देख कर उसकी प्रशंसा करने लग जाना तथा उसके मार्ग की ओर झुक जाना। (५) परपाषण्डसंस्तव-ऐसे ढोंगी का परिचय करना तथा उसके पास अधिक बैठना उठना।

सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व का अर्थ अन्धविश्वास नहीं है। अन्धविश्वास का अर्थ है हित अहित, सत्य असत्य या सदोष निर्दोष का ख्याल किए बिना किसी बात को पकड़ कर बैठ जाना। समझाने पर भी न समझना। सत्य को असत्य मानने के बदले असत्य मत को ही पूर्ण सत्य मानना। सम्यक्त्व का अर्थ है जो वस्तु सत्य हो उस पर दृढ़ विश्वास करना।

वास्तव में देखा जाय तो एकान्त तर्क का अवलम्बन करके मनुष्य किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकता। प्रत्येक बात में उसे सन्देह हो सकता है कि अमुक बात ठीक है या गलत। युक्ति या तर्क द्वारा यथास्थित ज्ञान होने पर भी वह सन्देह कर सकता है कि अमुक तर्क ठीक है या गलत। ऐसा सन्देहशील व्यक्ति

को कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसी लिए मुमुक्षु के लिये केवल तर्क निषिद्ध है। वेदान्त दर्शन में भी कहा है— 'तर्काप्रतिष्ठानात्' अर्थात् तर्क अप्रतिष्ठित है। उससे किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। जिस वस्तु को आज एक तार्किक युक्ति से सिद्ध करता है, दूसरे दिन वही बात दूसरे तार्किक द्वारा गलत साबित करदी जाती है। शङ्कराचार्य ने लिखा है कि संसार में जितने तार्किक हुए हैं, जो हैं और जो होंगे वे सब इकट्ठे होकर अगर एक फैसला करलें कि अमुक बात ठीक है तभी यह कहा जा सकता है कि तर्क निर्णय पर पहुँचता है। जैसे तीन काल के तार्किकों का एक जगह बैठ कर विचार करना असम्भव है उसी प्रकार तर्क के द्वारा निर्णय होना भी असम्भव है। इसी लिए प्रायः सभी शास्त्रों ने तर्क की अपेक्षा आगम या श्रुति को प्रबल माना है। जो तर्क आगम या श्रुति से विरुद्ध चलता हो उसे हेय कहा है। वास्तविक निर्णय तो सर्वज्ञ होने पर ही हो सकता है। उससे पहले सर्वज्ञ और वीतराग के वचनों पर विश्वास करना चाहिए। एक बात पर विश्वास करके आगे बढ़ता चला जाए दूसरी बातों का पता अपने आप लग जायगा।

सम्यग्ज्ञान

नय और प्रमाण से होने वाला जीवादि तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ज्ञान जीव मात्र में पाया जाता है। ऐसा कोई समय नहीं आता जब जीव ज्ञान रहित अर्थात् जड़ हो जाय। वह ज्ञान चाहे मिथ्या ज्ञान हो या सम्यक्। शास्त्रों में अज्ञानी शब्द का व्यवहार मिथ्याज्ञानी के लिए होता

है। निर्जीव पत्थर को अज्ञानी भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए सामान्य ज्ञान से सभी जीव परिचित हैं। किन्तु सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का भेद समझना जरूरी है। सम्यग्दर्शन होने के बाद सामान्यज्ञान ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यग्ज्ञान और असम्यग्ज्ञान का यही भेद है कि पहला सम्यग्दर्शन सहित है और दूसरा उससे रहित।

शङ्का–सम्यक्त्व का ऐसा क्या प्रभाव है कि उसके बिना ज्ञान कितना ही प्रामाणिक और अभ्रान्त हो तो भी वह मिथ्या गिना जाता है और सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान कैसा ही अस्पष्ट, भ्रमात्मक या थोड़ा हो वह सम्यग्ज्ञान माना जाता है। मिथ्याज्ञान सम्यग्दर्शन के होते ही सम्यग्ज्ञान क्यों मान लिया जाता है ?

उत्तर–'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र में मोक्ष का मार्ग बताया गया है। मोक्ष का दूसरा अर्थ है आत्मा की शक्तियों का पूर्ण विकास। अर्थात् आत्मशक्ति के बाधकों का नष्ट करके पूर्ण विकास कर लेना। इसलिए यहाँ सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का विवेक आध्यात्मिक दृष्टिकोण से करना चाहिए। प्रमाण शास्त्र की तरह विषय की दृष्टि से यहाँ सम्यक् और मिथ्या का निर्णय नहीं होता। न्याय शास्त्र में जिस ज्ञान का विषय सत्य है उसे सम्यग्ज्ञान और जिसका विषय असत्य है उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है। अध्यात्म शास्त्र में यह विभाग गौण है। यहाँ सम्यग्ज्ञान से वही ज्ञान लिया जाता है जिससे आत्मा का विकास हो और मिथ्याज्ञान से वह ज्ञान लिया जाता है जिससे आत्मा का पतन हो या संसार की वृद्धि हो। यह सम्भव है कि सामग्री कम होने के कारण सम्यक्त्वी जीव को किसी विषय में संशय हो जाय, भ्रम हो जाय या उसका

ज्ञान अल्प हो किन्तु वह हमेशा सत्य को खोजने में लगा रहता है। अपने आग्रह को छोड़ कर वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है। अपने से अधिक ज्ञान वाले यथार्थवादी पुरुष के पास जाकर अपने भ्रम को दूर कर लेता है। वह कभी अपनी बात के लिए जिद नहीं करता। आत्महित के लिए उपयोगी समझ कर सत्य को अपनाने के लिए वह सदा उत्सुक रहता है। अपने ज्ञान का उपयोग सांसारिक वासनाओं के पोषण में नहीं करता। वह उसे आध्यात्मिक विकास में लगाता है। सम्यक्त्व रहित जीव इससे बिल्कुल उल्टा होता है। सामग्री की अधिकता के कारण उसे निश्चयात्मक या अधिक ज्ञान हो सकता है फिर भी वह अपने मत का दुराग्रह करता है। अपनी बात को सत्य मान कर किसी विशेषदर्शी के विचारों को तुच्छ मानता है। अपने ज्ञान का उपयोग आत्मा के विकास में न करते हुए वासनापूर्ति में करता है। सम्यक्त्वधारी का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति होता है। वह सांसारिक तथा आध्यात्मिक सभी शक्तियों का इसी ओर लगा देता है जब कि मिथ्यात्वी जीव आध्यात्मिक शक्तियों को भी सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में लगाता है। इस प्रकार उद्देश्यों की भिन्नता के कारण ज्ञान सम्यक् और मिथ्या कहलाता है।

प्रमाण और नय

पहले कहा जा चुका है कि प्रमाण और नय के द्वारा वस्तुस्वरूप को जानना सम्यग्ज्ञान है। यहाँ संक्षेप से दोनों का स्वरूप बताया जायगा।

जो ज्ञान शब्दों में उतारा [illegible] जिसमें वस्[illegible] एक

और विशेष रूप से कहा जा सके उसे नय कहते हैं। उद्देश्य और विधेय के विभाग के बिना ही जिसमें अविभक्त रूप से वस्तु का भान हो उसे प्रमाण कहा जाता है। अर्थात् जो ज्ञान वस्तु के अनेक अंशों को जान वह प्रमाण ज्ञान है और अपनी विवक्षा से किसी एक अंश को मुख्य मान कर व्यवहार करना नय है। नय और प्रमाण दोनों ज्ञान हैं किन्तु वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला नय है और अनेक धर्मों वाली वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करना प्रमाण है। जैसे दीप में नित्य धर्म भी रहता है और अनित्यत्व भी। यहाँ अनित्यत्व का निषेध न करते हुए अपेक्षावशात् दीपक को नित्य कहना नय है। प्रमाण की अपेक्षा नित्यत्व अनित्यत्व दोनों धर्मों वाला होने से इसे नित्यानित्य कहा जायगा।

ज्ञान के पाँच भेद हैं– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये पाँचों ज्ञान दो विभागों में विभक्त हैं– प्रत्यक्ष और परोक्ष। पहले के दो परोक्ष हैं, शेष तीन प्रत्यक्ष हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की स्वाभाविक योग्यता से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष कहते हैं। दूसरे दर्शनों में इन्द्रियजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना है। जैन दर्शन में इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। किन्तु वास्तव में वह परोक्ष ही है। पाँच ज्ञानों का स्वरूप प्रथम भाग के बोल नं० ३७५ में दे दिया गया है।

नय

किसी विषय के सापेक्ष निरूपण को नय कहते हैं। किसी एक या अनेक वस्तुओं के विषय में अलग अलग मनुष्यों के

या एक ही व्यक्ति के भिन्न भिन्न विचार होते हैं। अगर प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो ये विचार अपरिमित हैं। उन सब का विचार प्रत्येक को लेकर करना असम्भव है। अपने प्रयोजन के अनुसार अतिविस्तार और अतिसंक्षेप दोनों को छोड़ कर किसी विषय का मध्यम दृष्टि से प्रतिपादन करना ही नय है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार में आया है—

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्त दितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः।

अर्थात् जिसके द्वारा श्रुत प्रमाण के द्वारा विषय किए पदार्थ का एक अंश जाना जाय उस वक्ता के अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं।

नयों के निरूपण का अर्थ है विचारों का वर्गीकरण। नयवाद अर्थात् विचारों की मीमांसा। इस वाद में विचारों के कारण, परिणाम या विषयों की पर्यालोचना मात्र नहीं है। वास्तव में परस्पर विरुद्ध दीखने वाले, किन्तु यथार्थ में अविरोधी विचारों के मूल कारणों की खोज करना ही इसका मूल उद्देश्य है। इसलिए नयवाद की संक्षिप्त परिभाषा है, परस्पर विरुद्ध दीखने वाले विचारों के मूल कारणों की खोज पूर्वक उन सब में समन्वय करने वाला शास्त्र। दृष्टान्त के तौर पर आत्मा के विषय में परस्पर विरोधी मन्तव्य मिलते हैं। किसी का कहना है कि 'आत्मा एक है'। किसी का कहना है 'आत्मा अनेक हैं'। एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरोधी हैं। ऐसी दशा में यह वास्तविक है या नहीं और अगर वास्तविक नहीं है तो उसकी संगति कैसे हो सकती है? इस बात की खोज नयवाद ने की और कहा कि व्यक्ति की दृष्टि से आत्मा अनेक

है और शुद्ध चैतन्य की दृष्टि से एक। इस प्रकार समन्वय करके नयवाद परस्पर विरोधी मालूम पड़ने वाले वाक्यों में एकवाक्यता सिद्ध कर देता है। इसी प्रकार आत्मा के विषय में नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व आदि विरोधी भी नयवाद द्वारा शान्त किए जा सकते हैं।

सामान्य रूप से मनुष्य का ज्ञानदृष्टि अधूरी होती है और अस्मिता अभिनिवेश अर्थात् अहंकार या अपने को ठीक मानने की भावना बहुत अधिक होती है। इससे जब वह किसी विषय में किसी प्रकार का विचार करता है तो उसी विचार को अन्तिम, सम्पूर्ण तथा सत्य मान लेता है। इस भावना से वह दूसरों के विचारों को समझने के धैर्य को खो बैठता है। अन्त में अपने अल्प तथा आंशिक ज्ञान को सम्पूर्ण मान लेता है। इस प्रकार की धारणाओं के कारण ही सत्य होने पर भी मान्यताओं में परस्पर झगड़ा खड़ा हो जाता है और पूर्ण तथा सत्यज्ञान का द्वार बन्द हो जाता है।

एक दर्शन आत्मा आदि के विषय में अपने माने हुए किसी पुरुष के एकदेशीय विचार को सम्पूर्ण सत्य मान लेता है। उस विषय में उसका विरोध करने वाले सत्य विचार को भी झूठा समझता है। इसी प्रकार दूसरा दर्शन पहले को और दोनों मिल कर तीसरे को झूठा समझते हैं। फल स्वरूप समता की जगह विषमता और विवाद खड़े हो जाते हैं अतः सत्य और पूर्णज्ञान का द्वार खोलने के लिए तथा विवाद दूर करने के लिए नयवाद की स्थापना की गई है और उसके द्वारा यह बताया गया है कि प्रत्येक विचारक अपने विचार को आप्तवाक्य करने से पहले यह तो सोचे कि उसका विचार

प्रमाण की गिनती में भान सापक सर्वांश है या नहीं ? इस प्रकार की सूचना करना ही जैन दर्शन की नयवाद रूप विशेषता है।

नय के भेद

नय के संक्षेप में दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। संसार में छोटी बड़ी सब वस्तुएँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं और सर्वथा एक रूप भी नहीं हैं। समानता और भिन्नता दोनों अंश सभी में विद्यमान हैं। इसीलिए वस्तुमात्र को सामान्यविशेष–उभयात्मक कहा जाता है। मानवी बुद्धि भी कभी सामान्य की ओर झुकती है और कभी विशेष की ओर। जब वह सामान्यांशगामी होती है उस समय किया गया विचार द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है और जब विशेषगामी हो उस समय किया गया विचार पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। सारी सामान्य दृष्टियाँ और सारी विशेष दृष्टियाँ भी एक सरीखी नहीं होतीं उनमें भी फरक होता है। यह बताने के लिए इन दो दृष्टियों में भी अवान्तर भेद किए गए हैं। द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार इस प्रकार कुल सात भेद हैं। ये ही सात नय हैं। द्रव्यार्थिक नय पर्यायों का या पर्यायार्थिक नय द्रव्यों का खण्डन नहीं करता किन्तु अपनी दृष्टि को प्रधान रख कर दूसरी को गौण समझता है।

सामान्य और विशेष दृष्टि को समझने के लिए नीचे एक उदाहरण दिया जाता है। कहीं पर बैठे बैठे सहसा समुद्र की ओर दृष्टि गई। पहले पहल ध्यान पानी के रंग, स्वाद या समुद्र की लम्बाई, चौड़ाई, गहराई आदि की तरफ न जाकर सिर्फ पानी पर गया। इसी दृष्टि को सामान्य दृष्टि कहा जाता है। और इस पर विचार करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय।

उसके बाद पानी के रंग, स्वाद, हलचल आदि अवस्थाओं पर दृष्टि जाना, उसकी विशेषताओं पर ध्यान जाना विशेष दृष्टि है। इसी को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। इसी तरह सभी वस्तुओं पर घटाया जा सकता है। आत्मा के विषय में भी सामान्य और विशेष दोनों दृष्टियाँ कई प्रकार से हो सकती हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमान पर्यायों का ख्याल किए बिना केवल सामान्य रूप से भी इसे सोचा जा सकता है और पर्यायों के भेद डाल कर भी। इस तरह सभी पदार्थों का विचार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों के अनुसार होता है।

विशेष भेदों का स्वरूप

(१) जो विचार लौकिक रूढि और लौकिक संस्कार का अनुसरण करे उसे नैगम नय कहते हैं।

(२) जो विचार भिन्न भिन्न वस्तु या व्यक्तियों में रहे हुए किसी एक सामान्य तत्त्व के आधार पर सब में एकता बतावे उसे संग्रह नय कहते हैं।

(३) जो विचार संग्रह नय के अनुसार एक रूप से ग्रहण की हुई वस्तुओं में व्यवहारिक प्रयोजन के लिए भेद डाले उसे व्यवहार नय कहते हैं। इन तीनों नयों की मुख्य रूप से सामान्य दृष्टि रहती है। इसलिए ये द्रव्यार्थिक नय कहे जाते हैं।

(४) जो विचार भूत और भविष्यत् काल की अपेक्षा करके वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करे उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

(५) जो विचार शब्द प्रधान हो और लिङ्ग, कारक आदि शाब्दिक धर्मों के भेद से अर्थ में भेद माने उसे शब्द नय कहते हैं।

(६) जो विचार शब्द के रूढ अर्थ पर निर्भर न रह कर व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार समान अर्थ वाले शब्दों में भी भेद माने

उसे समभिरूढ नय कहते हैं।

(७) जो विचार शब्दार्थ के अनुसार क्रिया होने पर ही उस वस्तु को तद्रूप स्वीकारे उसे एवंभूत नय कहते हैं।

देश, काल और लोकस्वभाव की विविधता के कारण लोक रूढियाँ और उनसे होने वाले संस्कार अनेक प्रकार के होते हैं। इसलिए नैगम नय भी कई प्रकार का होता है और उसके दृष्टान्त भी विविध हैं। किसी कार्य का संकल्प करके जाते हुए किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि तुम कहाँ जा रहे हो? उत्तर में वह कहता है कि मैं कुल्हाड़ा लेने जा रहा हूँ। वास्तव में उत्तर देने वाला कुल्हाड़े का हाथा बनाने के लिए लकड़ी लेने जा रहा है। ऐसा होने पर भी वह ऊपर लिखा उत्तर देता है और सुनने वाला उसे ठीक समझ कर स्वीकार कर लेता है यह एक लोक रूढि है। साधु होने पर किसी की जात पाँत नहीं रहती फिर भी गृहस्थ दशा में ब्राह्मण होने के कारण साधु को ब्राह्मण श्रमण कहा जाता है। भगवान् महावीर को हुए ढाई हजार वर्ष बीत गए। फिर भी प्रति वर्ष चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को उनका जन्मदिवस मनाया जाता है। युद्ध में जब भिन्न भिन्न देशों के मनुष्य लड़ते हैं तो कहा जाता है 'हिन्दुस्तान लड़ रहा है। चीन लड़ रहा है।' इस प्रकार तरह तरह की लोकरूढियों के कारण जमे हुए संस्कारों से जो विचार पैदा होते हैं वे सब नैगम नय की श्रेणी में आ जाते हैं।

जड़, चेतन रूप अनेक व्यक्तियों में सद्रूप सामान्य तत्त्व रहा हुआ है। उसी तत्त्व पर दृष्टि रख कर बाकी सब विशेषताओं की ओर उपेक्षा रखते हुए सभी वस्तुओं को, सारे विश्व को एक रूप समझना संग्रह नय है। इसी प्रकार घट पट आदि

पदार्थों में अनेक विशेष धर्मों की तरफ उपेक्षा करते हुए सामान्य घटत्व या पटत्व रूप धर्म से सभी घटों को एक समझना और सभी पटों को एक समझना भी संग्रह नय है। सामान्य धर्म के अनुसार संग्रह नय भी अनेक प्रकार का है। सामान्य धर्म जितना विशाल होगा संग्रह नय भी उतना ही विशाल होगा। सामान्य धर्म का विषय जितना संक्षिप्त होगा संग्रह नय भी उतना ही संक्षिप्त होगा। जो विचार किसी सामान्य तत्त्व को लेकर विविध वस्तुओं का एकीकरण करने की तरफ प्रवृत्त हो उसे संग्रह नय कहा जाता है।

विविध वस्तुओं को एक रूप से ग्रहण कर लेने पर भी जब उनके विशेषों में विशेष समझने की इच्छा होती है, उनका व्यावहारिक उपयोग करने का मौका आता है तब उनका विशेष रूप से भेद कर पृथक्करण किया जाता है। केवल वस्त्र कह देने से भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्रों की समझ नहीं पड़ती। जिस को खद्दर या मखमल किसी विशेष प्रकार का वस्त्र लेना है वह उसमें बिना विभाग डाले अपनी इच्छानुसार वस्त्र नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए कपड़े में खादी, मिल का बना हुआ, रेशमी आदि अनेक भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वों में सद्रूप वस्तु चेतन और जड़ दो प्रकार की है, चेतन भी संसारी और मुक्त दो प्रकार का है इत्यादि भेद पड़ जाते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से पृथक्करण करने वाले सभी विचार व्यवहार नय के अन्तर्गत हैं।

नैगम नय का विषय सब से अधिक विशाल है क्योंकि वह लोकरूढि के अनुसार सामान्य और विशेष दोनों को कभी मुख्य कभी गौण भाव से ग्रहण करता है। संग्रह केवल

सामान्य को ग्रहण करता है। इसलिए उसका विषय नैगम से कम है। व्यवहार नय का विषय संग्रह से भी कम है क्योंकि वह संग्रह नय से गृहीत वस्तु में भेद डालता है। इस प्रकार तीनों का विषय उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है। नैगम नय से सामान्य, विशेष और उभय का ज्ञान होता है। संग्रह नय से सामान्यमात्र का बोध होता है। व्यवहार नय लौकिक व्यवहार का अनुसरण करता है।

इसी प्रकार आगे के चार नयों का विषय भी उत्तरोत्तर संकुचित है। ऋजुसूत्र भूत और भविष्यत् काल को छोड़कर वर्तमान काल की पर्याय को ही ग्रहण करता है। शब्द वर्तमान काल में भी लिंग, कारक आदि के कारण भेद डाल देता है। समभिरूढ़ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के कारण भेद डालता है और एवम्भूत तत् तत् क्रिया में लगी हुई वस्तु को ही वह नाम देता है। ऋजुसूत्र आदि सभी नय वर्तमान पर्याय से आरम्भ होकर उत्तरोत्तर संक्षिप्त विषय वाले हैं इसलिए ये पर्यायार्थिक नय कहे जाते हैं।

नयदृष्टि, विचारसरणी और सापेक्ष अभिप्राय इन सभी शब्दों का एक अर्थ है। नयों के वर्णन से यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि किसी भी विषय को लेकर उसका विचार अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। विचारसरणियों के अनेक होने पर भी संक्षेप से उन्हें सात भागों में बांट दिया गया है। इनमें उत्तरोत्तर अधिक सूक्ष्मता है। एवम्भूत नय सब से अधिक सूक्ष्म है। ये सातों नय दूसरी तरह भी विभक्त किए जा सकते हैं व्यवहार नय और निश्चयनय। एवम्भूत निश्चय नय की पराकाष्ठा है। तीसरा विभाग है–शब्द नय और अर्थ नय।

जिस विचार में अर्थ की प्रधानता हो वह अर्थ नय और जिस में शब्द की प्रधानता हो वह शब्द नय है। ऋजुसूत्र तक पहले चार अर्थ नय हैं और बाकी तीन शब्द नय।

इसी प्रकार ज्ञान नय और क्रिया नय ये दो विभाग भी हो सकते हैं। ऊपर लिखी विचारसरणियों से पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का जानना ज्ञान नय है और उस अपने जीवन में उतारना क्रिया नय। भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से नयों के और भी अनेक तरह से भेद किए जा सकते हैं। इनका विस्तार सातवें बोल संग्रह बोल नं० ५६२ में दिया जायगा।

स्याद्वाद

स्याद्वाद का सिद्धान्त जैन दर्शन की सब से बड़ी विशेषता है। इसी को अनेकान्तवाद या सप्तभङ्गीवाद कहा जाता है। वास्तव में देखा जाय तो स्याद्वाद जैन दर्शन की आत्मा है। इसी के द्वारा जैन दर्शन संसार के सभी झगड़ों को निपटाने का दावा कर सकता है।

दुनियाँ के सभी झगड़ों का कारण एकान्तवाद है। दूसरे पर क्रोध करते समय या दूसरे को अपराधी ठहराते समय हमारी दृष्टि प्रायः उस व्यक्ति के दोषों पर ही जाती है। इसी प्रकार जो वस्तु हमें प्रिय मालूम होती है उसमें गुण ही गुण दिखाई पड़ते हैं। इस तरह द्वेष और राग के कारण हम अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा समझने लगते हैं। फलस्वरूप सत्य से वञ्चित हो जाते हैं और उत्तरोत्तर असत्य की ओर बढ़ते चले जाते हैं। धीरे धीरे एकान्त धारणा के इतने गुलाम बन जाते हैं कि विरोधी विचारों के सुनने से दुःख होता है।

सांसारिक और आध्यात्मिक सभी बातों में मतान्धता का यही एक मुख्य कारण है। किसी एक घटना को लेकर हम एक व्यक्ति को अपना शत्रु मान लेते हैं, दूसरे को अपना मित्र मान लेते हैं। उस माने हुए शत्रु का नुकसान पहुँचाने में अपना हित समझते हैं चाहे उस से हानि ही उठानी पड़े। मित्र व्यक्ति का हित करना चाहते हैं किन्तु उनकी दृष्टि से चाहे स्वार्थ साधा हुआ हित वास्तव में उस व्यक्ति के लिए अहित ही हो। जो हम पर क्रोध कर रहा है सम्भव है उसकी परिस्थिति में हम होते तो उस से भी अधिक क्रोध करते किन्तु फिर भी हम उसे बुरा समझते हैं और अपने को ठीक। दूसरे को बुरा मानने से पहले यदि हम अनेकान्त दृष्टि को अपनाकर सब तरह से विचार करें तो दूसरे पर क्रोध करने की गुञ्जाइश न रहे।

दार्शनिक झगड़ों का भी स्याद्वाद अच्छी तरह निपटारा करता है। दूसरे दर्शनों के प्रति उपेक्षा रखते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में ही जैन सिद्धान्त अपना कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझता। इसने दूसरे सिद्धान्तों की गहराई में घुस कर पता लगाया है कि वे सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हैं और वे गलत क्यों बन गए। समन्वय की दृष्टि से की गई इस खोज का नतीजा यह हुआ कि सभी दर्शन किसी अपेक्षा से ठीक निकले। सर्वथा मिथ्या कोई न जान पड़ा। अगर प्रत्येक मत जिस प्रकार अपने दृष्टिकोण से अपने मत का प्रतिपादन करता है उसी प्रकार दूसरे दृष्टिकोण से विरोधी मत पर भी विचार करे तो उनमें किसी प्रकार का झगड़ा खड़ा न हो। दोनों में एकवाक्यता हो जाय। अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त बड़े ही सरल ढंग से सभी मतभेदों का अन्त कर देता है।

अपेक्षावाद के इस सिद्धान्त को बौद्ध और वैदिक दार्शनिकों ने भी माना है। बौद्ध दर्शन के 'उदान सुत्त' नामक पाली ग्रन्थ में एक कथा आती है-एक मरे हुए हाथी के पास सात जन्मान्ध पहुँचे। किसी ने उसका पैर पकड़ लिया, किसी ने पूँछ, किसी ने कान, किसी ने दांत और किसी ने धड़। जिसने जिस अङ्ग को पकड़ा उसी को लेकर वह हाथी का वर्णन करने लगा। पैर पकड़ने वाले ने हाथी को स्तम्भ सरीखा बताया, पूँछ पकड़ने वाले ने रस्सी सरीखा। इसी प्रकार सभी अन्धे अपनी अपनी अपेक्षा से एक एक बात को पकड़ कर बैठ गये और आपस में विवाद करने लगे। उसी समय एक देखने वाला आया। उसने सब को समझा कर विवाद शान्त किया। यहाँ एकान्तवादियों को अन्धा कहा है। इसी प्रकार ब्राह्मण दर्शनों में अपेक्षावाद का कहीं कहीं जिक्र आता है। लेकिन व अपने विचारों का स्वयं ही अच्छी तरह नहीं समझ सके हैं। ब्रह्मसूत्र के 'नैकस्मिन्नसंभवात्' सूत्र में तथा उसके शाङ्कर भाष्य में स्याद्वाद का खण्डन किया गया है किन्तु उससे यही मालूम पड़ता है कि खण्डन कर्त्ता ने या तो सिद्धान्त को पूरी तरह समझा नहीं है, या समझ कर भी मताग्रहवश वास्तविकता को छिपाया है।

आचार्य आनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव के शब्दों में स्याद्वाद का सिद्धान्त बौद्धिक अहिंसा है अर्थात् बुद्धि या विचारों से भी किसी को बुरा न कहना। स्याद्वाद का यह सिद्धान्त नयों पर आश्रित है। स्याद्वाद का अर्थ है- विरोधी मालूम पड़ने वाली बातों का किसी एक पूर्ण सत्य में सम्भावित करना। अनेकान्त और एकान्त की इसी दृष्टि को सकलादेश और विकलादेश कहते

हैं। अपेक्षावाद को लेकर ही जैन दर्शन में अस्ति, नास्ति वगैरह सात भङ्ग माने गए हैं। इनका स्वरूप विस्तारपूर्वक सातवें बोल संग्रह के बोल नं० ५६३ में दिया जायगा।

ज्ञेय

ज्ञान के बाद संक्षेप से ज्ञेय पदार्थों का निरूपण किया जाता है। जैन दर्शन में छः द्रव्य माने गये हैं। इनका विस्तृत वर्णन बोल नं० ४२४ में आ चुका है। मुमुक्षु के लिए ज्ञातव्य नौ तत्त्व हैं। इनका वर्णन भी नवें बोल संग्रह में दिया जायगा।

वस्तु का लक्षण

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"

जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों हों उसे सत् कहते हैं। वेदान्ती सत् अर्थात् ब्रह्म रूप पदार्थ को एकान्त ध्रुव अर्थात् नित्य मानते हैं। बौद्ध वस्तु को निरन्वय क्षणिक (उत्पाद विनाश शील) मानते हैं। सांख्य दर्शन चेतन रूप सत् को कूटस्थ नित्य और प्रकृतिस्वरूप सत् को परिणामिनित्य (नित्यानित्य) मानता है। न्याय दर्शन परमाणु आत्मा, आकाश वगैरह कुछ पदार्थों को नित्य और घट पटादि को अनित्य मानता है।

जैन दर्शन का मानना है कि कोई सत् अर्थात् वस्तु एकान्त नित्य या अनित्य नहीं है। चेतन अथवा जड़, मूर्त अथवा अमूर्त, सूक्ष्म अथवा बादर सत् कहलाने वाली सभी वस्तुएं उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों रूप वाली हैं।

प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं। एक अंश तीनों कालों में स्थिर रहता है और दूसरा अंश हमेशा बदलता रहता है।

स्थायी अंश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रुव (स्थिर) और परिणामी अंश के कारण उत्पादव्ययात्मक (अस्थिर) कही जाती है। इन दो अंशों में से किसी एक ही की तरफ ध्यान देने से वस्तु को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य कहा जाता है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप दोनों तरफ दृष्टि डालने पर ही निश्चित किया जा सकता है।

प्रश्न– 'बिना किसी परिवर्तन के वस्तु का सदा एक सरीखा रहना नित्यत्व है। जो वस्तु नित्य है उसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकता। उसमें उत्पाद या व्यय भी नहीं हो सकते। इसलिये एक ही वस्तु में इन विरोधी धर्मों का कथन करना कैसे संगत हो सकता है?

उत्तर–नित्य का अर्थ यह नहीं है कि जिस में किसी तरह का परिवर्तन न हो, किन्तु वस्तु का अपने भाव अर्थात् जाति से च्युत न होना ही उसकी नित्यता है। इसी प्रकार उत्पाद या विनाश का अर्थ नई वस्तु का उत्पन्न होना या विद्यमान का एक दम नाश हो जाना नहीं है। किन्तु नवीन पर्याय का उत्पन्न होना और प्राचीन पर्याय का नाश होना ही उत्पाद और विनाश है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु द्रव्य या जाति की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा क्षणिक। वस्तु के इसी नित्यत्व अनित्यत्व आदि आपेक्षिक धर्मों का स्वरूप सप्तभङ्गी का अवतरण होता है। यदि वस्तु को एकान्त नित्य मान लिया जाय तो उसमें कोई कार्य नहीं हो सकता। यदि क्षणिक मान लिया जाय तो पूर्वापर पर्याय का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। इत्यादि कारणों से एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य दोनों पक्ष युक्ति के विपरीत हैं।

सम्यक्चारित्र

कर्मबन्ध के वास्तविक कारणों को जान कर नवीन कर्मों के आगमन को रोकना तथा सञ्चित कर्मों के क्षय के लिए प्रयत्न करना सम्यक्चारित्र है। चारित्र के दो भेद हैं- सर्वविरति चारित्र और देशविरति चारित्र। सर्वविरति चारित्र साधुओं के लिए है और देशविरति चारित्र श्रावकों के लिए।

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का मन, वचन और काया से सर्वथा त्याग कर देना सर्वविरति चारित्र है। सर्वथा त्याग का सामर्थ्य न होने पर स्थूल हिंसा आदि का त्याग करना देशविरति चारित्र है।

व्रतों में मुख्य अहिंसा ही है। झूठ, चोरी आदि का त्याग इसी की रक्षा के लिए किया जाता है। अहिंसा का स्वरूप विस्तृत रूप से आगे बताया जायगा।

व्रतों की रक्षा के लिए व्रतधारी को उन सब नियमों का पालन करना चाहिए जो व्रतरक्षा में सहायक हों तथा उन बातों को छोड़ देना चाहिए जिनसे व्रत में दोष लगने की सम्भावना हो। व्रतों की स्थिरता के लिए आचाराङ्ग, समवायाङ्ग और आवश्यक सूत्र में प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनाएँ बताई हैं—

अहिंसाव्रत

(१) ईर्यासमिति- यतनापूर्वक गति करना जिससे स्व या पर को क्लेश न हो। (२) मनोगुप्ति- मन को अशुभ ध्यान से हटाना और शुभ ध्यान में लगाना। (३) एषणासमिति- किसी वस्तु की गवेषणा, ग्रहण और उपभोग तीनों में उपयोग रखना जिससे कोई दोष न आने पावे, एषणासमिति है। (४) आदान

निक्षेपणासमिति- वस्तु को उठाने और रखने में अवलोकन, प्रमार्जन आदि द्वारा यतना रखना आदाननिक्षेपणासमिति है।
(५) आलोकितपानभोजन- खान पान की वस्तु बराबर देखभाल कर लेना और उसके बाद अच्छी तरह उपयोगपूर्वक देखते हुए खाना आलोकितपानभोजन है।

दूसरे सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ--

(१) अनुवीचिभाषण- विचारपूर्वक बोलना।
(२) क्रोधप्रत्याख्यान- क्रोध का त्याग करना।
(३) लोभप्रत्याख्यान- लोभ का त्याग करना।
(४) निर्भयता- सत्यमार्ग पर चलते हुए किसी से न डरना।
(५) हास्यप्रत्याख्यान- हँसी दिल्लगी का त्याग करना।

तीसरे अस्तेय महाव्रत की पाँच भावनाएँ--

(१) अनुवीचि अवग्रहयाचन- अच्छी तरह विचार करने के बाद जितनी आवश्यकता मालूम पड़े उतने ही अवग्रह अर्थात् स्थान या दूसरी वस्तुओं की याचना करना तथा राजा, कुटुम्ब पति, शय्यातर (साधु को रहने के लिए स्थान देने वाला) या साधर्मिक आदि अनेक प्रकार के स्वामियों में जिससे जो स्थान माँगना उचित समझा जाय उसी के पास से वह स्थान माँगना अनुवीचि अवग्रहयाचन है।

(२) अभीक्ष्णावग्रहयाचन- जो अवग्रह आदि एक बार देने पर भी मालिक ने वापिस ले लिए हों, बीमारी आदि के कारण अगर उनकी फिर आवश्यकता पड़े तो मालिक से आवश्यकतानुसार बार बार माँगना अभीक्ष्णावग्रहयाचन है।

(३) अवग्रहावधारण- मालिक के पास से लेते समय अवग्रह के परिमाण का निश्चय कर लेना अवग्रहावधारण है।

(४) साधर्मिक अवग्रहयाचन– अपने से पहले किसी समान धर्म वाले ने कोई स्थान प्राप्त कर रक्खा हो, उसी स्थान को उपयोग करने का अवसर आवे तो साधर्मिक से मांग लेना साधर्मिक अवग्रहयाचन है।

(५) अनुज्ञापितपानभोजन– विधिपूर्वक अन्न पान आदि लाने के बाद गुरु को दिखाना तथा उनकी आज्ञा प्राप्त होने के बाद उपयोग में लाना अनुज्ञापितपानभोजन है।

चौथे ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ—

(१) स्त्रीपशुपंडकसहित शयनासनवर्जन– ब्रह्मचारी पुरुष या स्त्री को विजातीय (दूसरे लिङ्ग वाले) व्यक्ति द्वारा काम में लाए हुए शय्या तथा आसन का त्याग करना चाहिए।

(२) स्त्रीकथावर्जन– ब्रह्मचारी को रागपूर्वक कामवर्द्धक बातें नहीं करनी चाहिए।

(३) मनोहर इन्द्रियावलोकनवर्जन– ब्रह्मचारी को अपने से विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अङ्गों को न देखना चाहिए।

(४) स्मरणवर्जन– ब्रह्मचर्य स्वीकार करने से पहले भोगे हुए कामभोगों को स्मरण न करना चाहिए।

(५) प्रणीतरसभोजनवर्जन– कामोद्दीपक, रसीले और गरिष्ठ भोजन तथा ऐसी ही पेय वस्तुओं का त्याग करना चाहिए।

पाँचवें अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ—

(१) मनोज्ञामनोज्ञ स्पर्शसमभाव– अच्छे या बुरे लगने के कारण राग या द्वेष पैदा करने वाले स्पर्श पर समभाव रखना। इसी प्रकार सभी तरह के रस, गन्ध, रूप और शब्द पर समभाव रखना रूप अपरिग्रह व्रत की चार और भावनाएँ हैं।

जैन दर्शन में त्याग को प्रधानता दी गई है। इसीलिए

पञ्चमहाव्रतधारी साधुओं का स्थान सब से ऊँचा है। ऊपर लिखी भावनाएँ मुख्य रूप से साधुओं को लक्ष्य करके कही गई हैं। अपने अपने त्याग के अनुरूप दूसरी भी बहुत सी भावनाएँ हो सकती हैं, जिनसे व्रतपालन में सहायता मिले। पाप की निवृत्ति के लिए नीचे लिखी भावनाएँ भी विशेष उपयोगी हैं–

(१) हिंसा आदि पापों में ऐहिक तथा पारलौकिक अनिष्ट देखना। (२) अथवा हिंसा आदि दोषों में दुःख ही दुःख है, इस प्रकार बार बार चित्त में भावना करते रहना। (३) प्राणीमात्र में मैत्री, अधिक गुणों वाले को देख कर प्रमुदित होना, दुःखी को देख कर करुणा लाना और जड़, कदाग्रही या अविनीत को देखकर मध्यस्थ भाव रखना। (४) संवेग और वैराग्य के लिए जगत् और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना।

जिस बात का त्याग किया जाता है उसके दोषों का सम्यक् ज्ञान होने से त्याग की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती है। बिना उस के त्याग में शिथिलता आजाती है। इसलिए अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता के लिए हिंसा आदि से होने वाले दोषों का देखते रहना आवश्यक माना गया है। दोषदर्शन यहाँ दो प्रकार का बताया गया है– ऐहिक दोषदर्शन और पारलौकिक दोष दर्शन। हिंसा करने, झूठ बोलने आदि से मनुष्य को जो नुकसान इस लोक में उठाना पड़ता है, अशान्ति वगैरह जो आपत्तियाँ आ पड़ती हैं उन सब को देखना ऐहिक दोषदर्शन है। हिंसा आदि से जो नरकादि पारलौकिक अनिष्ट होता है उसे देखना पारलौकिक दोषदर्शन है। इन दोनों संस्कारों का आत्मा में दृढ़ करना भावना है।

इसी प्रकार हिंसा आदि त्याज्य बातों में दुःख ही दुःख

देखने का अभ्यास हो जाय तो वह त्याग विशेष स्थायी तथा दृढ़ होता जाता है। इसी लिए दूसरी भावना है, इन सब पाप कर्मों में दुःख ही दुःख देखना। जिस प्रकार दूसरे द्वारा दी गई पीड़ा से हमें दुःख होता है इसी प्रकार हिंसा आदि से दूसरा को भी दुःख होता है इस प्रकार समझना भी दूसरी भावना है।

मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएँ तो प्रत्येक सद्गृहस्थ जीवन के लिए आवश्यक हैं। अहिंसा आदि व्रतों के लिए भी ये बहुत उपकारक हैं। इन्हें जीवन में उतारना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति इन्हें जीवन में उतार लेता है वह जगत्प्रिय बन जाता है। उस का कोई शत्रु नहीं रहता। इन चारों भावनाओं में प्रत्येक का विषय भिन्न भिन्न है। इन विषयों के अनुसार ही भावना होने से वास्तविक फल की प्राप्ति होती है। प्रत्येक का विषय संक्षेप से स्पष्ट किया जाता है —

(१) मित्रता का अर्थ है आत्म्य या आत्मीयता की बुद्धि। यह भावना प्राणिमात्र के प्रति होनी चाहिए अर्थात् प्रत्येक प्राणी को अपने सरीखा और अपना ही समझे। ऐसा समझने पर ही एक व्यक्ति संसार के सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक तथा सत्यवादी बन सकता है। आत्मवत् समझ लेने पर दूसरों को दुखी करने की भावना उसके हृदय में आ ही नहीं सकती। इसके विपरीत जिस प्रकार पुत्र को दुखी देख कर पिता दुखी हो उठता है उसी प्रकार वह भी दुखी प्राणी को देख कर दुखी हो उठेगा और उसका कष्ट दूर करने की कोशिश करेगा। यही भावना मनुष्य को विश्वबन्धुत्व का पाठ सिखाती है।

(२) अपने से बड़े को देख कर प्रायः साधारण व्यक्ति के दिल में जलन सी पैदा होती है। जब तक यह जलन रहती

है तब तक कोई सच्चा अहिंसक नहीं बन सकता। इस भावना का नाश करने के लिए उसके विरुद्ध प्रमोद रूप भावना बताई गई है। प्रमोद का अर्थ है अधिक गुणवाले को देख कर प्रसन्न होना। उसके गुणों की प्रशंसा तथा आदर करना। सच्चे हृदय से गुणों का आदर करने से वे गुण आदर करने वाले में भी आ जाते हैं। इस भावना का विषय अधिक गुणी है क्योंकि उसी को देख कर ईर्ष्या होती है। अधिक गुणी से मतलब यहाँ विद्या, तप, यश, धन आदि किसी भी बात में बड़े से है।

(३) किसी को कष्ट में पड़ा देख कर जिस व्यक्ति के हृदय में अनुकम्पा नहीं आती उसका कष्ट दूर करने की इच्छा नहीं होती वह अहिंसाव्रत का पालन नहीं कर सकता। इसका पालन करने के लिए करुणा भावना मानी गई है। इस भावना का विषय दुखी प्राणी है क्योंकि दीन दुखी और अनाथ को ही कृपा या मदद की आवश्यकता होती है।

(४) हमेशा प्रत्येक स्थान पर प्रवृत्त्यात्मक भावनाओं से ही काम नहीं चलता। अहिंसा आदि व्रतों को निभाने के लिए कई बार उपेक्षाभाव भी धारण करना पड़ता है। इसी लिए माध्यस्थ्य भावना बताई गई है। माध्यस्थ्य का अर्थ है उपेक्षा या तटस्थता। अगर कोई जड़ संस्कार वाला, कुमार्गगामी, अयोग्य व्यक्ति मिल जाय और उसे सुधारने के लिए किया गया सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाय तो उस पर क्रोध न करते हुए तटस्थ रहना ही श्रेयस्कर है। इसलिए माध्यस्थ्य भावना का विषय अविनेय अर्थात् अयोग्य पात्र है।

संवेग और वैराग्य के बिना तो अहिंसा आदि व्रत हो ही नहीं सकते। व्रतों का पालन करने के लिए संवेग और वैराग्य

का पहले होना आवश्यक है। जगत्स्वभाव और शरीरस्वभाव के चिन्तन से संवेग और वैराग्य की उत्पत्ति होती है। इस लिए इन दोनों के स्वभाव का चिन्तन भावना रूप से बताया गया है। संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो दुखी न हो। किसी को कम दुःख है, किसी को अधिक। जीवन क्षणभङ्गुर है। संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। मनुष्य स्त्री पुत्र आदि परिवार तथा भोगों में जितना आसक्त होता है उतना ही अधिक दुखी होता है। इस प्रकार के चिन्तन से संसार का मोह दूर होता है। संसार से भय अर्थात् संवेग उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार शरीर में अस्थिर अशुचि और असारपन के चिन्तन से बाह्याभ्यन्तर विषयों से अनासक्ति अर्थात् वैराग्य उत्पन्न होता है।

हिंसा का स्वरूप

अहिंसा आदि पाँच व्रतों का निरूपण पहले किया जा चुका है। उन व्रतों को ठीक ठीक समझने तथा उनका भली प्रकार पालन करने के लिए उनके विरोधी दोषों का स्वरूप समझना आवश्यक है। नीचे क्रमशः पाँचों दोषों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र में दिया है– 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'। अर्थात् प्रमादयुक्त मन, वचन और काया से प्राणों का वध करना हिंसा है। प्रमाद का साधारण अर्थ होता है लापरवाही। दूसरे प्राणी के सुख दुःख का ख्याल न करते हुए मनमानी प्रवृत्ति करना और इस प्रकार उसे कष्ट पहुँचाना एक तरह की लापरवाही है। आत्मा के उत्थान या पतन की तरफ उपेक्षा रखते हुए क्रूर कार्यों में प्रवृत्ति करना भी लापरवाही है। शास्त्रों में इसी लापरवाही को उपयोगराहित्य या अपेक्षा का न होना

कहा जाता है। प्रमाद का अर्थ आलस्य भी है। आध्यात्मिक जगत में उसी व्यक्ति को जागृत कहा जाता है जो सदा आत्म विकास का ध्यान रक्खे। जिस समय वह कोई ऐसा कार्य कर रहा है जिससे आत्मा का पतन हो उस समय उसे आध्यात्मिक दृष्टि से जागृत नहीं कहा जायगा। वह निद्रित, सोया हुआ, आलसी या प्रमादयुक्त कहा जायगा। इसलिए प्रमत्त योग का अर्थ है मन, वचन या काया का किसी ऐसे कार्य से युक्त होना जिससे आत्मा का पतन हो। धर्मसंग्रह के तीसरे अधिकार में प्रमाद के आठ भेद बताए गए हैं—

प्रमादोऽज्ञानसंशयविपर्ययरागद्वेषस्मृतिभ्रंशयोग
दुष्प्रणिधानधर्मानादरभेदादष्टविधः।

अर्थात् अज्ञान, संशय, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, योग दुष्प्रणिधान और धर्म में अनादर के भेद से प्रमाद आठ तरह का है।

हिंसा के लक्षण में दूसरा शब्द प्राणव्यपरोपण है। व्यपरोपण का अर्थ है विनाश करना या मारना। प्राण दस हैं—

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता, स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ मन, वचन, काया उच्छ्वास निःश्वास और आयु ये दस प्राण हैं, इनका नाश करना हिंसा है। आठ प्रकार के प्रमाद में से किसी तरह के प्रमाद वाले योग से दस प्राणों में से किसी प्राण का विनाश करना हिंसा है। अगर कोई किसी के मन का वध करता है तो वह भी हिंसा है। वचन का वध करता है तो वह भी हिंसा है। विचारों पर या भाषण पर नियन्त्रण करना ही मन और वचन का वध है। केवल किसी के साँस को रोक देना ही हिंसा नहीं है। पाँच

ज्ञानेन्द्रियाँ, तीन योग, श्वासोच्छ्वास और आयु जो वस्तुएं जीव को जन्म लेते ही प्राप्त होती हैं, उनकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र रूप से न होने देना हिंसा है।

यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है, क्या बालक को जिसे अपने भले बुरे का ज्ञान नहीं है स्वतन्त्र रूप से चलने देना चाहिए? इसी का उत्तर देने के लिए लक्षण में 'प्रमत्तयोगात्' लगा हुआ है। अगर बालक की स्वतन्त्र वृत्ति को रोकने में उद्देश्य बुरा नहीं है तो वह हिंसा नहीं है। अपने किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए, राग या द्वेष से प्रेरित होकर या लापरवाही से अगर ऐसा किया जाता है तो वह वास्तव में हिंसा है। बालक को अच्छी बातें सिखाने के लिए, उसका विकास करने के उद्देश्य से अगर कुछ किया जाय तो वह हिंसा नहीं है।

हिंसा दो तरह की होती है- द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। किसी को कष्ट देना या मार डालना द्रव्यहिंसा है। दूसरे को मारने या कष्ट पहुँचाने के भाव हृदय में लाना भावहिंसा है। लौकिक शान्ति के लिए साधारणतया द्रव्यहिंसा को रोकना आवश्यक समझा जाता है। एक व्यक्ति दूसरे के प्रति बुरे भाव रखता हुआ भी जब तक उन्हें कार्यरूप में परिणत नहीं करता तब तक उन भावों से विशेष नुकसान नहीं समझा जाता किन्तु धार्मिक जगत् में भावों की ही प्रधानता है। एक डाक्टर रोगी को बचाने की दृष्टि से उसका ऑपरेशन करता है। डाक्टर के पूर्ण सावधान रहने पर भी ऑपरेशन करते समय रोगी के प्राण निकल गए। ऐसे समय भावना शुद्ध होने के कारण डाक्टर को हिंसा का दोष नहीं लगेगा। दूसरी तरफ एक वैद्य किसी रोगी से शत्रुता निकालने के लिए उसे बुरी

दवाई दे देता है किन्तु रोगी के शरीर पर उस दवाई का उल्टा असर हुआ। मरने के बदले वह रोगमुक्त हो गया। ऐसी हालत में रोगी को लाभ पहुँचने पर भी डाक्टर को हिंसा का दाप लगेगा क्योंकि इसके परिणाम बुरे हैं।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' अर्थात् कर्म बन्ध और कर्मों से छुटकारा दोनों का कारण मन ही है। हिंसा का मुख्य आधार भी मन ही है। मन से दूसरे का या अपना बुरा सोचना हिंसा है। जो मनुष्य अपने वास्तविक हित को नहीं जानता और सांसारिक भोगों में ही अपना हित मानता है वह आत्महिंसा कर रहा है। आत्मा को अधःपतन की ओर लेजाना या आत्मवञ्चना (अपनी आत्मा को ठगना) ही आत्महिंसा है।

पातञ्जल योगसूत्र के व्यास भाष्य में आया है– 'अहिंसा भूतानामनभिद्रोहः' भूत अर्थात् प्राणियों के साथ द्रोह न करना अहिंसा है। द्रोह का अर्थ है ईर्ष्या द्वेष द्रोह का न होना ही अहिंसा है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हिंसा का अर्थ है द्वेष।

अहिंसा और कायरता

किसी किसी का कहना है, जैनियों की अहिंसा कायरता है। किन्तु विचार करने से यह बात गलत साबित हो जाती है। वीरता का अर्थ अगर दूसरे से द्वेष करना हो तो कहा जा सकता है कि अहिंसा वीरता नहीं है। जो व्यक्ति युद्ध में लाखों आदमियों की जान लेता उसे भी वीर नहीं कहा जा सकता। अगर वह आदमी भयङ्कर अस्त्रशस्त्र इकट्ठे करके, आत्मरक्षा तथा परसंहार के लिए पूरी तरह तैयार हो कर लाखों असहाय दीन हीन दुखियों की जान लेता तो उसे वीर कहना

'वीर' शब्द का कलङ्कित करना है। उस पुरुष को नृशंस, क्रूर, हत्यारा कहा जा सकता है, वीर नहीं। अगर इस प्रकार अधिक पाप करने वाले को वीर कहा जाय तो सफलता पूर्वक अधिक झूठ बोलने वाला, चोरी करने वाला, व्यभिचारी तथा आडम्बरी भी वीर कहा जायगा।

वीर शब्द का असली अर्थ है उत्साहपूर्ण। जिस व्यक्ति में जितना अधिक उत्साह है वह उतना ही अधिक वीर कहा जायगा। वीर जो कार्य करता है अपना कर्तव्य समझ कर उत्साह पूर्वक करता है। युद्ध में शत्रुओं का नाश करना स्वाप रक्षा के लिए वह अपना कर्तव्य समझता है। अगर वह राज्य भूमि आदि किसी स्वार्थ को लेकर युद्ध करता है तो वह वीरों की कोटि से गिर जाता है। युद्ध करते समय उसके हृदय में द्वेष के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं रहता। द्वेष या क्रोध कायरता की निशानी है। इसी लिए प्राचीन वीर दिन भर युद्ध करके सायङ्काल अपने शत्रुओं से प्रेम पूर्वक मिलते थे। जो योद्धा अपने शत्रु पर क्रोध करता है, उससे द्वेष करता है उतनी ही उसमें कायरता है। यह सर्वमान्य बात है कि कमजोर को क्रोध अधिक होता है। द्वेष हिंसा, क्रूरता, क्रोध आदि दोष हैं और वीरता गुण है। इनमें अन्धकार और प्रकाश जितना अन्तर है।

जिस व्यक्ति का जिस तरफ अधिक उत्साह है वही उस विषय का वीर माना जाता है। इसीलिए युद्धवीर की तरह दानवीर, धर्मवीर और कर्मवीर भी माने गए हैं। हिंसा अर्थात् द्वेष या ईर्ष्या का न होना सभी तरह के वीरों के लिए आवश्यक है।

महात्मा गान्धी ने एक जगह लिखा है– मेरा अहिंसा का सिद्धान्त एक विधायक शक्ति है। कायरता या दुर्बलता के लिए

इसमें स्थान नहीं है। एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा की जा सकती है लेकिन कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता।

अहिंसा की व्यावहारिकता

किसी किसी का मत है अहिंसा का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। जिस बात की व्यावहारिकता प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हो उस अव्यावहारिक कहना उचित नहीं कहा जा सकता। विश्व की शान्ति के बाधक जितने कारण हैं सब का निवारण अहिंसा द्वारा होता प्रत्यक्ष दिखाई देता है। क्रोध कभी क्रोध से शान्त नहीं होता, क्षमा से शान्त होते हुए उसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं। इसी तरह द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुण प्रेम प्रमोद आदि से नष्ट होते हैं। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पूर्ण अहिंसा का पालन ही विश्वशान्ति का एकमात्र व्यावहारिक उपाय है।

अहिंसा व्रत को अङ्गीकार करने के लिए जीवन में नीचे लिखी बातें उतारना आवश्यक है—

(१) जीवन को सादा बनाते जाना तथा आवश्यकताओं को कम करते जाना। (२) प्रत्येक कार्य यतणा अर्थात् सावधानी से करना और जहाँ तक हो सके भूलों से बचते रहना। अगर भूल हो जाय तो उस की उपेक्षा न करके प्रायश्चित्त ले लेना तथा भविष्य में उस भूल के लिए सावधान रहना। (३) स्थूल जीवन की तृष्णा तथा उस से होने वाले राग द्वेष आदि घटाने के लिए सतत परिश्रम करना।

प्रश्न— हिंसा दोष क्यों है ?

उत्तर—जिस से चित्त की कोमलता घटे और कठोरता बढ़े तथा स्थूल जीवन में अधिकाधिक आसक्ति होती जाय उस

'वीर' शब्द को कलङ्कित करना है। उस पुरुष को नृशंस, क्रूर, हत्यारा कहा जा सकता है, वीर नहीं। अगर इस प्रकार अधिक पाप करने वाले को वीर कहा जाय तो सफलता पूर्वक अधिक झूठ बोलने वाला, चोरी करने वाला, व्यभिचारी तथा आडम्बरी भी वीर कहा जायगा।

वीर शब्द का असली अर्थ है उत्साहपूर्ण। जिस व्यक्ति में जितना अधिक उत्साह है वह उतना ही अधिक वीर कहा जायगा। वीर जो कार्य करता है अपना कर्तव्य समझ कर उत्साह पूर्वक करता है। युद्ध में शत्रुओं का नाश करना न्याय रक्षा के लिए वह अपना कर्तव्य समझता है। अगर वह राज्य प्राप्ति आदि किसी स्वार्थ को लेकर युद्ध करता है तो वह वीरों की कोटि से गिर जाता है। युद्ध करते समय उसके हृदय में द्वेष के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं रहता। द्वेष या क्रोध कायरता की निशानी है। इसी लिए प्राचीन वीर दिन भर युद्ध करके सायङ्काल अपने शत्रुओं से प्रेम पूर्वक मिलते थे। जो योद्धा अपने शत्रु पर क्रोध करता है, उससे द्वेष करता है उतनी ही उसमें कायरता है। यह सर्वमान्य बात है कि कमजोर को क्रोध अधिक होता है। द्वेष हिंसा, क्रूरता, क्रोध आदि दोष हैं और वीरता गुण है। इनमें अन्धकार और प्रकाश जितना अन्तर है।

जिस व्यक्ति को जिस तरफ अधिक उत्साह है वही उस विषय का वीर माना जाता है। इसीलिए युद्धवीर की तरह दानवीर, धर्मवीर और कर्मवीर भी माने गए हैं। हिंसा अर्थात् द्वेष या ईर्ष्या का न होना सभी तरह के वीरों के लिए आवश्यक है।

महात्मा गान्धी ने एक जगह लिखा है- मेरा अहिंसा का सिद्धान्त एक विधायक शक्ति है। कायरता या दुर्बलता के लिए

इसमें स्थान नहीं है। एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा की जा सकती है लेकिन कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता।

अहिंसा की व्यावहारिकता

किसी किसी का मत है अहिंसा का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। जिस बात की व्यावहारिकता प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हो उसे अव्यावहारिक कहना उचित नहीं कहा जा सकता। विश्व की शान्ति के बाधक जितने कारण हैं सब का निवारण अहिंसा द्वारा होता प्रत्यक्ष दिखाई देता है। क्रोध कभी क्रोध से शान्त नहीं होता, क्षमा से शान्त होते हुए उसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं। इसी तरह द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुण प्रेम प्रमोद आदि से नष्ट होते हैं। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पूर्ण अहिंसा का पालन ही विश्वशान्ति का एकमात्र व्यावहारिक उपाय है।

अहिंसा व्रत को अङ्गीकार करने के लिए जीवन में नीचे लिखी बातें उतारना आवश्यक है—

(१) जीवन को सादा बनाते जाना तथा आवश्यकताओं को कम करते जाना। (२) प्रत्येक कार्य जयणा अर्थात् सावधानी से करना और जहाँ तक हो सके भूलों से बचते रहना। अगर भूल हो जाय तो उस की उपेक्षा न करके प्रायश्चित्त व क्षमा तथा भविष्य में उस भूल के लिए सावधान रहना। (३) स्थूल जीवन की तृष्णा तथा उस से होने वाले राग द्वेष आदि घटाने के लिए सतत परिश्रम करना।

प्रश्न— हिंसा दोष क्यों है?

उत्तर—जिस से चित्त की कोमलता घटे और कठोरता बढ़े तथा स्थूल जीवन में अधिकाधिक आसक्ति होती जाए उस

दोष कहा जाता है। हिंसा से आत्मा में कठोरता आती है, स्वाभाविक कोमलता नष्ट हो जाती है, जीवन की प्रवृत्ति बाह्यमुखी हो जाती है। इसलिए यह दोष है। मुमुक्षु के लिए इस का त्याग करना आवश्यक है।

असत्य का स्वरूप

'असदभिधानमनृतम्' असत्कथन को अनृत अर्थात् असत्य कहते हैं। असत्कथन के मुख्य रूप से तीन अर्थ हैं- (१) जो वस्तु सत् अर्थात् विद्यमान हो उसका एक दम निषेध कर देना (२) एक दम निषेध न करते हुए भी उसका वर्णन इस प्रकार करना जिससे सुनने वाला भ्रम में पड़ जाय। (३) बुरा वचन जिसमें सुनने वाले को कष्ट हो या सत्य होने पर भी जिस कथन में दूसरे को हानि पहुँचाने की दुर्भावना हो।

यद्यपि सूत्र में असत्कथन को ही अनृत कहा है, किन्तु मन वचन और काया से असत्य का अर्थ लेने पर असद् चिन्तन, असत्कथन और असदाचरण भी ले लिए जाएँगे। किसी के विषय में अयथार्थ या बुरा सोचना, कहना या आचरण करना सभी इस दोष में सम्मिलित हैं।

हिंसा युक्त वचन यानी ऐसा वचन जिसके उच्चारण से दूसरे प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न हो तो वह वचन सत्य होते हुए भी आगम की दृष्टि से असत्य है। इसी प्रकार कठोर और मर्मकारी वचनों को भी असत्य के समान समझना चाहिए क्योंकि इनसे प्राणियों को पीड़ा होती है। इसी तरह दूसरों को छलने के लिए उच्चारण किये गये वचन भी असत्य के तुल्य हैं।

सत्य व्रत लेने वाले को नीचे लिखी बातों का अभ्यास

करना चाहिए । ममत्व योग का त्याग करना । मन, वचन और काया की प्रवृत्ति में एकरूपता लाने का अभ्यास करना । मन्द होने पर भी पूरे भावों से न किसी बात को सोचना, न चाहना और न करना । क्रोध आदि का त्याग करना क्योंकि इनके अधीन होने पर मनुष्य सब कुछ असत्य बोलता है ।

चोरी का स्वरूप

'अदत्तादानं स्तेयम्' बिना दिया हुआ लेना स्तेय अर्थात् चोरी है । जिस पर किसी दूसरे का अधिकार है वह वस्तु चाहे तृण सरीखी मूल्य रहित हो तो भी उसके मालिक की अनुमति के बिना चौर्यबुद्धि से लेना स्तेय है ।

अचौर्यव्रत का अङ्गीकार करने के लिए नीचे लिखी बातों का अभ्यास करना आवश्यक है- (१) किसी वस्तु के लिए ललचा जाने की वृत्ति दूर करना । (२) जब तक लालचीपना या लोभ दूर न हो तब तक प्रत्येक वस्तु को न्याय मार्ग से उपार्जन करने का प्रयत्न करना । (३) दूसरे की वस्तु को उसकी इजाजत के बिना लेने का विचार भी न करना ।

अब्रह्मचर्य का स्वरूप

'मैथुनमब्रह्म' मैथुन प्रवृत्ति को अब्रह्मचर्य कहते हैं । अर्थात् कामविकार से प्रेरित स्त्री और पुरुष की चेष्टाओं को अब्रह्म कहते हैं । यहाँ स्त्री और पुरुष उपलक्षण हैं । कामरागजनित कोई भी चेष्टा चाहे वह प्राकृतिक हो या अप्राकृतिक उसे अब्रह्मचर्य कहा जाता है । शास्त्रों में ब्रह्मचर्य पर बहुत जोर दिया गया है । इसके पालन के लिए विविध बाड़ लगाए गए हैं । जो

व्यक्ति ब्रह्मचर्य को नष्ट कर देता है उसका आत्मविकास बिल्कुल रुक जाता है।

परिग्रह का स्वरूप

'मूर्च्छा परिग्रहः' मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति परिग्रह है। किसी भी वस्तु में चाहे वह छोटी, बड़ी जड़, चेतन, बाह्य, आभ्यन्तर या किसी प्रकार की हो, अपनी हो या पराई हो उसमें आसक्ति रखना, उसमें बँध जाना या उसके पीछे पड़ कर अपने विवेक को खो बैठना परिग्रह है। धन, सम्पत्ति आदि वस्तुएँ परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा का कारण होने से परिग्रह कह दी जाती हैं, किन्तु वास्तविक परिग्रह उन पर होने वाली मूर्च्छा है। मूर्च्छा न होने पर चक्रवर्ती सम्राट् भी अपरिग्रही कहा जा सकता है और मूर्च्छा होने पर एक भिखारी भी परिग्रही है।

साधु के लिए ऊपर लिखे पाँच महाव्रत मुख्य हैं। इनकी रक्षा के लिए पाँच समिति तीन गुप्ति नव बाड़ ब्रह्मचर्य छोड़ने योग्य आहार के ४२ दोष, ५२ अनाचार, जीतने योग्य २२ परीषह आदि बताए गए हैं। इनका स्वरूप यथास्थान देखना चाहिए।

साधु के लिए आवश्यक बात

'निश्शल्यो व्रती'। जिसमें शल्य न हो उसे व्रती कहा जाता है। अहिंसा, सत्य आदि व्रत लेने मात्र से कोई सच्चा व्रती नहीं बन सकता। सच्चा त्यागी बनने के लिए छोटी से छोटी किन्तु सब से पहली शर्त है कि त्यागी को शल्य रहित होना चाहिए। संक्षेप में शल्य तीन हैं- (१) दम्भ अर्थात् ढोंग या ठगने की

वृत्ति। (२) भोगों की लालसा। (३) सत्य पर दृढ़ श्रद्धा न रखना अथवा असत्य का आग्रह। ये तीनों मानसिक दोष हैं। ये जब तक रहते हैं तब तक मन और शरीर अशान्त रहते हैं। आत्मा भी तब तक स्वस्थ नहीं रह सकता। शल्यवाला व्यक्ति किसी प्रकार व्रत अङ्गीकार कर लेता भी एकाग्रचित्त से उनका पालन नहीं कर सकता। जिस प्रकार शरीर में कांटा या कोई दूसरा तीक्ष्ण पदार्थ घुस जाने पर शरीर तथा मन अशान्त हो जाते हैं। आत्मा किसी भी कार्य में एकाग्र नहीं होने पाती। इसी प्रकार ऊपर कहे हुए मानसिक दोष भी आत्मा को व्रत पालन के लिए एकाग्र नहीं होने देते। इसी लिए व्रतों को अङ्गीकार करने से पहले इन्हें छोड़ देना जरूरी है।

चारित्र के भेद

आत्मविकास के मार्ग पर चलने वाले सब लोग समान शक्ति वाले नहीं होते। कोई ऐसा दृढ़ होता है जो मन, वचन और काया से सब पापों को छोड़ कर एकमात्र आत्मविकास को अपना ध्येय बना लेता है। दूसरा सांसारिक इच्छाओं को एक दम रोकने का सामर्थ्य न होने से धीरे धीरे त्याग करता है। इसी तारतम्य के अनुसार चारित्र के दो भेद हो गए हैं– (१) सर्वविरतिचारित्र (२) देशविरतिचारित्र। इन्हीं दोनों को अनगारधर्म और सागारधर्म या साधुधर्म और श्रावकधर्म भी कहा जाता है। साधु सदोष क्रियाओं का सम्पूर्ण रूप से त्याग करता है। पूर्ण होने से उसके व्रत महाव्रत कहे जाते हैं। पूर्ण त्याग की सामर्थ्य न होने पर भी त्याग की भावना होने से श्रावक अवस्थानुसार मर्यादित त्याग करता है। साधु की

अपेक्षा छोटे होने से श्रावक के व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं।

अणुव्रत भी पाँच हैं। मूल अर्थात् त्याग का प्रथम आधार रूप होने से ये मूलगुण या मूलव्रत कहलाते हैं। मूलगुणों की रक्षा, पुष्टि और शुद्धि के लिए जो व्रत स्वीकार किए जाते हैं, उन्हें उत्तरगुण या उत्तरव्रत कहा जाता है। ऐसे उत्तरव्रत सात हैं। इनमें तीन गुणव्रत हैं और चार शिक्षाव्रत। जीवन के अन्त में एक और व्रत लिया जाता है जिसे संलेखना कहते हैं। इन का स्वरूप संक्षेप में नीचे लिखे अनुसार है—

पाँच अणुव्रत

प्रत्येक व्यक्ति छोटे अथवा बड़े, सूक्ष्म अथवा बादर सब प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है। इसी प्रकार असत्य, चोरी, कामाचार और परिग्रह का भी अपनी अपनी शक्ति के अनुसार त्याग करना अथवा उन्हें मर्यादित करना क्रम से सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अणुव्रत हैं।

तीन गुणव्रत

अपनी त्याग भावना के अनुसार पूर्व पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित करना, उस से बाहर बादर पाप कार्य का त्याग करना दिक्परिमाणव्रत है। जिन वस्तुओं में बहुत अधिक पाप की सम्भावना हो ऐसे स्थान, पान, गहने, कपड़े आदि का त्याग करके कम आरम्भ वाली वस्तुओं की यथाशक्ति मर्यादा करना उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत है। अपने भोग रूप प्रयोजन के लिए होने वाले अपने व्यापार के सिवाय बाकी के सब पाप कार्यों से निवृत्ति लेना अर्थात्

निरर्थक कोई कार्य न करना अनर्थदण्डविरमणव्रत है।

चार शिक्षाव्रत

काल का अभिग्रह लेकर अर्थात् अमुक समय तक अधर्म प्रवृत्ति को त्याग कर धर्म प्रवृत्ति में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है। हमेशा के लिए रक्खी हुई दिशाओं की मर्यादा में से भी समय समय पर इच्छानुसार प्रति दिन के लिए दिशाओं की मर्यादा बाँधना और उसके बाहर आकर पाँच आश्रव सेवन का त्याग करना देशावकाशिकव्रत है। आठम चौदस आदि तिथियों पर सावद्य कार्य छोड़कर यथाशक्ति अशनादि का त्याग करके धर्म जागरणा करना पौषधोपवासव्रत है। न्याय से पैदा किए शुद्ध अशन, पान, वस्त्र आदि पदार्थों का भक्तिपूर्वक सुपात्र को देना अतिथिसंविभागव्रत है।

कषाय का अन्त करने के लिए कषाय के कारणों को घटाना तथा कषाय कम करते जाना संलेखना है। संलेखनाव्रत जीवन के अन्त तक के लिए स्वीकार किया जाता है। इसलिए यह व्रत मारणांतिक संलेखना कहा जाता है।

इन सब व्रतों को निर्दोष पालने के लिए यह जानना जरूरी है कि किस व्रत में कैसा दोष लगने की सम्भावना है। इन्हीं दोषों को जानने के लिए प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच अतिचार हैं। कुल अतिचार ९९ हैं। बारह व्रतों के ६०, सम्यक्त्व के ५, संलेखना के ५, ज्ञान के १४ तथा १५ कर्मादान। इन सब का स्वरूप यथा स्थान देखना चाहिए।

बन्ध

आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, और

अनन्त सुख रूप है किन्तु इसकी अनन्त शक्तियों को कर्मों ने आच्छादित कर रक्खा है। कर्मों के कारण ही आत्मा संसार में भटक रहा है। आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि है। पुराने कर्म छूटते जाते हैं और नए बँधते जाते हैं। नए कर्मों का सम्बन्ध होने के पाँच कारण हैं- मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्यादर्शन जो सम्यग्दर्शन से उल्टा है। मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है। (१) यथार्थ तत्त्वों में श्रद्धा न होना (२) अयथार्थ वस्तु पर श्रद्धा करना। पहला मूढ दशा में होता है और दूसरा विचार दशा में। विचार शक्ति का विकास होने के बाद भी मिथ्या अभिनिवेश के कारण जो व्यक्ति किसी एकान्त दृष्टि को पकड़ कर बैठ जाता है उस दूसरी प्रकार का सम्यग्दर्शन है। उपदेशजन्य होने के कारण इसे अभिगृहीत कहा जाता है। जब तक विचार दशा जागृत नहीं होती, अनादिकालीन आवरण के कारण मूढ दशा होती है, उस समय न तत्त्वों पर श्रद्धा होती है न अतत्त्वों पर। अज्ञानावस्था होने के कारण ही उस समय तत्त्वों पर अश्रद्धान कहा जाता है। यह नैसर्गिक- उपदेशनिरपेक्ष होने के कारण अनभिगृहीत कहा जाता है। दृष्टि, मत सम्प्रदाय आदि का आग्रह तथा सभी ऐकान्तिक विचारधाराएँ अभिगृहीत मिथ्यादर्शन हैं। यह प्रायः मनुष्य जाति में ही होता है दूसरा अनभिगृहीत मिथ्यात्व कीट पतङ्ग आदि असंज्ञी और मूर्छित चैतन्य वाली जातियों में होता है। अविकसित दशा में मनुष्यों के भी हो सकता है।

अविरति अर्थात् दोषों से विरत (अलग) न होना। जब तक प्रत्याख्यान नहीं होता तब तक मनुष्य अविरत रहता है। जब

तक मनुष्य यह निश्चय नहीं कर लेता कि मैं अमुक पापयुक्त कार्य नहीं करूँगा तब तक उसके लिए उस पाप से होने वाले कर्मबन्ध का द्वार खुला है। अतएव कर्मबन्ध को रोकने के लिए विरति अर्थात् प्रत्याख्यान आवश्यक है।

प्रमाद- प्रमाद अर्थात् आत्मविस्मरण। धर्मकार्यों में रुचि न होना, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को भूल जाना।

कषाय- समभाव की मर्यादा को छोड़ देना।

योग- मन, वचन, और काया की प्रवृत्ति।

यद्यपि बन्ध के पाँच कारण ऊपर बताए गए हैं इनमें भी कषाय प्रधान है। कर्मप्रकृतियों के बन्धने पर भी उनमें न्यूनाधिक काल तक ठहरने और फल देने की शक्ति कषाय द्वारा ही आती है। वास्तव में देखा जाय तो बन्ध के दो ही कारण हैं। योग और कषाय। योग के कारण आत्मा के साथ ज्ञानादि का आवरण करने वाले कर्मप्रदेशों का सम्बन्ध होता है और कषाय के कारण उनमें ठहरने और फल देने की ताकत आती है। कर्मों को निष्फल करने के लिए कषायों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

जैसे दीपक बत्ती के द्वारा तेल ग्रहण करके अपनी उष्णता रूप शक्ति से उसे ज्वाला रूप में परिणत कर देता है उसी प्रकार जीव कषाययुक्त मन, वचन और काया से कर्मवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण करके उन्हें कर्म अर्थात् तद् तद् फल देने वाली शक्ति के रूप में परिणत कर देता है। कर्म स्वयं जड़ है किन्तु जीव का सम्बन्ध पाकर उसमें फल देने की शक्ति आ जाती है। इस प्रकार कर्मवर्गणा के पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होना बन्ध कहा जाता है।

बन्ध के भेद

बन्ध के चार भेद हैं– (१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) अनुभागबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध।

जीव के द्वारा ग्रहीत होने पर कर्मपुद्गल जिस समय कर्मरूप में परिणत होते हैं उस समय उनमें चार बातें होती हैं, ये ही बन्ध के चार भेद हैं। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के द्वारा खाया गया घास दूध रूप में परिणत होने पर चार बातों वाला होता है– (१) प्रकृति (स्वभाव) अर्थात् मीठा, हल्का, भारी आदि होना। (२) अपने स्वाभाविक गुणों में अमुक काल तक स्थिर रहने की योग्यता। (३) मधुरता आदि गुणों की तीव्रता और मन्दता। (४) परिमाण। इसी प्रकार जीव के साथ सम्बन्धित होने से कर्मपुद्गलों में भी स्वभाव, कालमर्यादा, फल की तरतमता और परिमाण ये चार बातें होती हैं।

जीव के साथ सम्बन्ध होने से पहिले कर्मवर्गणा के सभी पुद्गल एक सरीखे होते हैं। ज्ञान का आवरण करने वाले, दर्शन का आवरण करने वाले, सुख दुःख देने वाले आदि अलग अलग नहीं होते। जीव के साथ सम्बन्ध होने के बाद वे आठ स्वभावों में परिणत हो जाते हैं। इन्हीं आठ स्वभावों के अनुसार कर्म आठ माने गए हैं। आठों के कुल मिला कर १४८ अवान्तर भेद हैं। इन्हीं को प्रकृतिबन्ध कहते हैं। इन सब का विस्तृत वर्णन आठवें बोल संग्रह में दिया जायगा। कर्मों के तद् तद् स्वभाव में परिणत होने के साथ ही उनकी स्थिति अर्थात् काल मर्यादा का निश्चित होना स्थितिबन्ध है। स्वभाव के साथ ही तीव्र या मन्द फल देने वाली विशेषताओं का होना अनुभाग

बन्ध है। ग्रहण किए हुए कर्मपुद्गलों का अलग अलग स्वभाव में परिणत होते समय निश्चित परिमाण में विभक्त हो जाना प्रदेशबन्ध है। बन्ध के इन चार भेदों में पहला और चौथा योग पर आश्रित हैं। दूसरा और तीसरा कषाय पर। आठ कर्मों का स्वरूप विस्तृत रूप से आठवें बोल में दिया जायगा।

आस्रव और संवर

ऊपर बताया जा चुका है कि जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के कारण होता है तथा कषाय की तरतमता के अनुसार उन बँधे हुए कर्मों की काल-मर्यादा तथा फलदान की तीव्रता या मन्दता निश्चित होती है। योगों में हलचल होते ही कर्मपुद्गलों में हलचल होती है वे जीव की ओर आने लगते हैं। कर्मों के इस आगमन को आस्रव कहते हैं। आगमन के बाद ही बन्ध होता है इसलिए पहले आस्रव होता है फिर बन्ध। शुभ योग से शुभ कर्मों का आस्रव होता है और अशुभ योग से अशुभ आस्रव। आस्रव के ४२ भेद हैं। आस्रव का निरोध करना अर्थात् कर्मों के आगमन को रोकना संवर है। आस्रव का जितना निरोध होता है संवर का उतना ही विकास होता है। आस्रवनिरोध जैसे जैसे अधिक होता जाता है वैसे ही जीव उत्तरोत्तर ऊँचे गुणस्थान में चढ़ता जाता है। आस्रवनिरोध तथा संवर की रक्षा के लिए तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस यतिधर्म, बारह भावनाएँ, २२ परिषहों पर विजय और पाँच प्रकार का चारित्र बताया गया है। इन सब का विस्तृत स्वरूप और विवेचन उस उस संख्या वाले बोलसंग्रह में देखना चाहिए।

निर्जरा

कर्मों का नाश करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं– नवीन कर्मों के आगमन का रोकना तथा संचित कर्मों का नाश। नवीन कर्मों का आगमन संवर से रुक जाता है। संचित कर्मों का नाश करने के लिए तपस्या करनी चाहिए। जैन शास्त्रों में तपस्या के बारह भेद बताए गए हैं। उनमें छः बाह्यतप हैं और छः आभ्यन्तर तप। इनका स्वरूप छठे बोल संग्रह के बोल नं० ४७६ और ४७८ में आ चुका है।

गुणस्थान

संवर और निर्जरा के द्वारा कर्मों का भार जैसे जैसे हल्का होता जाता है जीव के परिणाम अधिकाधिक शुद्ध होते जाते हैं। आत्मा उत्तरोत्तर विकसित होता है। आत्मगुणों के इसी विकास-क्रम को गुणस्थान कहते हैं। बौद्धों ने इसकी जगह १० भूमियाँ मानी हैं। गुणस्थान १४ हैं। इनका विस्तृत वर्णन १४ वें बोल संग्रह में दिया जायगा।

मोक्ष

क्रमिक विकास करता हुआ जीव जब तेरहवें गुणस्थान में पहुँचता है उस समय चार घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं। आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले होने से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय घाती कर्म कहे जाते हैं। इनमें पहले मोहनीय का क्षय होता है उसके बाद तीनों का एक साथ। ज्ञानावरणीय के नाश होने पर आत्मा के ज्ञान गुण पर पड़ा हुआ परदा हट जाता है। परदा हटते ही आत्मा अनन्त ज्ञान

वाला हो जाता है। दर्शनावरणीय का नाश होने पर आत्मा का अनन्तदर्शन रूप गुण प्रकट होता है। इस गुण के प्रकट होते ही आत्मा अनन्त-दर्शन वाला हो जाता है। मोहनीय के नाश होते ही आत्मा में अनन्त चारित्र प्रकट होता है। अन्तराय का नाश होने पर उसमें अनन्त शक्ति उत्पन्न होती है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तचारित्र और अनन्तवीर्य ये चार आत्मा के मूल गुण हैं।

तेरहवें गुणस्थान में योगों की प्रवृत्ति होती है इसलिए कर्मबन्ध होता है, किन्तु कषाय न होने से उन कर्मों में स्थिति या फल देने की शक्ति नहीं आती। कर्म आते हैं और बिना फल दिए अपने आप झड़ जाते हैं।

चौदहवें गुणस्थान में योगों की प्रवृत्ति भी रोक दी जाती है। उस समय न मन कुछ सोचता है, न वचन बोलता है, न काया में हलचल होती है। इस प्रकार योग निरोध होने पर कर्मों का आगमन सर्वथा रुक जाता है। साथ में बाकी बचे हुए चार अघाती कर्मों का नाश भी हो जाता है। उनका नाश होते ही जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। मुक्ति या मोक्ष का अर्थ है कर्मों से सर्वथा छुटकारा।

बाकी चार कर्मों के नाश से सिद्धों में नीचे लिखे गुण प्रकट होते हैं- वेदनीय के नाश से अनन्त या अव्याबाध सुख। आयुष्य के नाश से अक्षय स्थिति। नामकर्म के नाश से अरूपीपन। गोत्र के नाश से अगुरुलघुत्व। सिद्ध अर्थात् मुक्त आत्मा में चार पहले वाले मिला कर ये ही आठ गुण माने गए हैं।

संसार में जन्म मरण का कारण कर्म है। कर्मों का नाश होते ही जन्म मरण का चक्र दूर जाता है। सिद्ध आत्माओं

के कर्मों का अत्यन्त नाश हो जाने के कारण वे फिर संसार में नहीं आते। मुक्ति को प्राप्त करना ही जैनधर्म का अन्तिम लक्ष्य है।

जैन साधु

जैन दर्शन में भावों को प्रधानता दी गई है। जाति, कुल वेष या बाह्य क्रियाकाण्ड को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। जिस व्यक्ति के भाव पवित्र हैं। वह किसी जाति, किसी सम्प्रदाय या किसी वेष वाला हो उसके लिए धर्म और मोक्ष का द्वार खुला है। फिर भी पवित्र भावों की रक्षा के लिए जैनदर्शन में साधु तथा श्रावकों के लिए बाह्य नियम भी बताए हैं।

जैन साधु जीव रक्षा के लिए मुखवस्त्रिका और रजोहरण तथा भिक्षा के लिए काठ या मिट्टी के पात्र रखते हैं। अपरिग्रह व्रत का पालन करने के लिए वे सोना चाँदी लोहा आदि कोई धातु, उस से बनी हुई कोई वस्तु या रुपया पैसा नोट आदि कुछ भी अपने पास नहीं रखते। आवश्यकता पड़ने पर सुई वगैरह अगर गृहस्थ के घर से लाते हैं तो कार्य होते ही या सूर्यास्त होने से पहले पहले उसे वापिस कर देते हैं।

धर्माराधना तथा शरीरनिर्वाह के लिए जैन साधु जितने उप करण रख सकते हैं उनकी मर्यादा निश्चित है। वे तीन भिक्षापात्र और एक मात्रक (पड़गा) के सिवाय पात्र तथा ७२ हाथ से अधिक वस्त्र अपने पास नहीं रख सकते। इस ७२ हाथ में ओढ़ने, बिछाने, पहिनने आदि सब प्रकार के वस्त्र सम्मिलित हैं। साध्वियाँ अधिक से अधिक ९६ हाथ कपड़ा रख सकती हैं।

जीवहिंसा से बचने धर्मापालन तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सूर्यास्त के बाद न कुछ खाते हैं, न पीते हैं, न पानी कोर

वस्तु अपने पास रखते हैं। सदा पैदल विहार करते हैं। पैरों में जूते आदि कुछ नहीं पहिनते और न सिर पर पगड़ी, टोपी या छाता आदि लगाते हैं। जलती हुई धूप तथा कड़कड़ाती सरदी नंगे पैर और नंगे सिर ही बिताते हैं। स्वावलम्बी तथा निष्परिग्रह होने के कारण नाई आदि से बाल नहीं बनवाते। अपने ही हाथों से उन्हें उखाड़ डालते हैं अर्थात् लोच कर लेते हैं।

जैन साधु झूठ नहीं बोलते और ऐसा वचन भी नहीं बोलते जिससे दूसरे को पीड़ा पहुँचे किन्तु वे सदा सत्य और प्रिय वचन बोलते हैं। स्वामी की बिना आज्ञा एवं बिना दी हुई कोई चीज वे नहीं लेते। भोजन न किसी से बनवाते हैं और न अपने निमित्त से बने हुए को ग्रहण करते हैं। गृहस्थों के घरों से थोड़ा थोड़ा आहार लेकर, जिससे उन्हें न कष्ट हो, न दुबारा बनाना पड़े, अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इसी को गोचरी कहा जाता है। पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए तथा कर्मों का नाश करने के लिए विविध प्रकार की तपस्याएं करते रहते हैं। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्री को न छूते हैं और न अकेली अर्थात् गृहस्थ की अनुपस्थिति में उसके साथ वार्तालाप करते हैं।

दिगम्बर साधु बिल्कुल नग्न रहते हैं। रजोहरण के स्थान पर मयूरपिच्छ रखते हैं। श्वेताम्बरों में भी स्थानकवासी साधु मुखवस्त्रिका को मुख पर बाँधे रखते हैं और मूर्तिपूजक उसे हाथ में रखते हैं। स्थानकवासी मूर्तिपूजा को नहीं मानते।

जैन साधु छः काय के जीवों की रक्षा करते हैं। ऐसे किसी कार्य का उपदेश नहीं देते जिससे किसी प्रकार की जीवहिंसा हो। कच्चा पानी, कच्चे शाक, कच्चे फल, कच्चे धान या ऐसी किसी भी वस्तु को जिसमें जीव हों, नहीं छूते। भिक्षा के समय अगर कोई वस्तु इन्हें स्पर्श कर रही हो तो उसे नहीं लेते। प्रति दिन सुबह

और शाम को प्रतिक्रमण अर्थात् किए हुए पापों की आलोचना करते हैं। भूल या दोष के लिए प्रायश्चित लेते हैं।

संयम की रक्षा के लिए उन्हें कठिन परीषह सहने पड़ते हैं। अपने आचार के अनुसार निर्दोष आहार न मिलने पर भूखा रहना पड़ता है। निर्दोष पानी न मिलने पर प्यासे रह जाना पड़ता है। इसी प्रकार सरदी, गरमी, रोग तथा दूसरे के द्वारा दिए गए कष्ट आदि २२ परीषह हैं। इनको समभावपूर्वक सहने से आत्मा बलवान् होता है।

मुख्य विशेषताएँ

जैनधर्म की चार मुख्य विशेषताएँ हैं। भगवान् महावीर के उपदेशों में सब जगह इनकी झलक है। इन्हीं के कारण जैन धर्म विश्वधर्म बनने और विश्व में शान्ति स्थापित करने का दावा करता है। वे चार निम्नलिखित हैं—

अहिंसावाद

संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं। जिस प्रकार सुख हमें प्यारा लगता है उसी प्रकार वह दूसरों को भी प्यारा है। जब हम दूसरे का सुख छीनने की कोशिश करते हैं तो दूसरा हमारा सुख छीनना चाहता है। सुख की इसी छीना झपटी ने दुनियाँ को अशान्त तथा दुःखी बना रक्खा है। इस अशान्ति को दूर करने के लिए जैन दर्शन कहता है—

तुमसि नाम तं चेव, जं हन्तव्वं ति मन्नसि। तुमसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि। तुमसि नाम तं चेव, जं परितावेयव्वं ति मन्नसि। तुमसि नाम तं चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि। एवं तुमसि नाम तं चेव, जं

उद्दवेयव्वं ति मन्नसि। अंजू चेय पडिबुद्धजीवी तम्हा ण हंता, ण विघायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं, जं हंतव्वं णाभिपत्थए [आचारांग श्रुतस्कन्ध १ अध्ययन ५ उद्देशा ५ सूत्र १२]

'हे प्राणी ! तू जिसे मारने योग्य समझता है उसकी जगह स्वयं अपने को समझ। तू जिस पर हुक्म चलाना चाहता है उसके स्थान पर अपने को मान। तू जिसे कष्ट देना चाहता है उसके स्थान पर अपने को मान। तू जिसको कैद करना चाहता है उसकी जगह अपने को मान। तू जिसे मार डालना चाहता है उसकी जगह भी अपने को ही समझ। इस प्रकार की समझ को धारण करने वाला ऋजु अर्थात् सरल होता है। न किसी को कष्ट देना चाहिए न मारना चाहिए। कष्ट देने या मारने से पीछे स्वयं कष्ट उठाना पड़ता है ऐसा मान कर किसी को मारने का इरादा न करना चाहिए।' इस प्रकार जैनदर्शन में बताया गया है कि दूसरे के कष्ट को अपना ही दुःख समझना चाहिए। जो व्यक्ति दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझेगा वह दूसरे को कष्ट देने की इच्छा भी नहीं कर सकता। उल्टा दुःखी प्राणी के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार सभी प्राणी परस्पर सद्भाव सीखते हैं और इसी सद्भाव से विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है।

स्याद्वाद

जैन दर्शन की दूसरी विशेषता स्याद्वाद है। इसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। स्याद्वाद से सभी तरह के साम्प्रदायिक झगड़ों का निपटारा हो जाता है और वस्तु को पूर्ण रूप से समझने की शक्ति आती है जिससे मनुष्य वस्तु के सच्चे

स्वरूप को जान सकता है। एकान्त हठ का छोड़ते ही झगड़ों का अन्त और वस्तु का सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

कर्मवाद

जानते हुए अथवा बिना जाने जो मनुष्य कूए की तरफ बढ़ता है वह उसमें अवश्य गिरता है। उसके गिरने और गिरने से होने वाले कष्ट का कारण वह स्वयं है। इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी दुखी प्राणी पर दया करता है, दुखी प्राणी उसके भक्त बन जाते हैं, हर तरह से उसकी शुभ कामना करते हैं। इस शुभ कामना कीर्ति या भक्ति के प्राप्त होने का कारण वह दयालु मनुष्य स्वयं है। इसके लिए किसी बाह्य शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर या किसी दूसरी बाह्य शक्ति के हाथ में अपने भाग्य को सौंप देने से मनुष्य अकर्मण्य बन जाता है वह यह समझने लगता है कि ईश्वर जो कुछ करेगा वही होगा, मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। जैन दर्शन का कर्मवाद इस अकर्मण्यता को दूर करता है। वह कहता है अच्छे या बुरे अपने भाग्य का निर्माता पुरुष स्वयं है। पुरुष अपने आप ही सुखी और दुखी बनता है।

उत्तराध्ययन के २०वें अध्ययन में आया है—

> अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
> अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं॥
> अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
> अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

अर्थात्– आत्मा ही वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष के समान दुःखदायी है और आत्मा ही कामधेनु तथा नन्दन

वन के समान सुखदायी है। आत्मा ही सुख दुःखों का कर्ता तथा भोक्ता है। आत्मा ही सुमार्ग पर चले तो सब से बड़ा मित्र है और कुमार्ग पर चले तो आत्मा ही सब से बड़ा शत्रु है। जीव अपने ही पापकर्मों द्वारा नरक गति जैसे भयङ्कर दुःख उठाता है और अपने ही किए हुए सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग आदि के दिव्य सुख भोगता है

इस प्रकार जैन दर्शन जीव को अपने सुख दुःखों के लिए स्वयं उत्तरदायी बता कर परवशता को दूर कर कर्मण्यता का पाठ पढ़ाता है। यह जैन दर्शन की तीसरी विशेषता है।

साम्यवाद

जैन दर्शन की चौथी विशेषता साम्यवाद है। मोक्ष या आत्मविकास का सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा जाति पाँति के बन्धनों से परे है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति धर्म सुनने और आत्मविकास करने का अधिकारी है। चाहे वह ब्राह्मण हो या चाण्डाल हो आत्मविकास के मार्ग पर बढ़ने का दोनों को समान अधिकार है। कुलविशेष में पैदा होने मात्र से कोई धर्म का अधिकारी या अनधिकारी नहीं बनता।

इसी प्रकार मोक्ष का मार्ग किसी वेष, सम्प्रदाय या लिङ्ग से सम्बन्ध नहीं रखता। जो व्यक्ति राग और द्वेष पर विजय प्राप्त करता है, कषायों को मन्द करता है, कर्मों को खपा डालता है वह किसी वेष में हो, स्त्री अथवा पुरुष किसी भी लिङ्ग का हो, मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसी लिए जैन दर्शन में पन्द्रह प्रकार के सिद्ध बताए गए हैं। यह बात जैन दर्शन की विशालता और उदारता का परिचय देती है।

दर्शनों की परस्पर तुलना

दर्शनों के पारस्परिक भेद और समानता को समझने के लिए नीचे कुछ बातें लिखी जाती हैं। दर्शनों का संक्षिप्त स्वरूप समझने में ये बातें विशेष सहायक सिद्ध होंगी। इनमें सभी दर्शन उनके विकासक्रम के अनुसार रक्खे गए हैं। पहले बताया जा चुका है कि दर्शनों के विकासक्रम की दो धाराएं हैं। वेद को प्रमाण मान कर चलने वाली और युक्ति को मुख्यता देने वाली। पहले वैदिक परम्परा के अनुसार छहों दर्शनों का विचार किया जायगा।

प्रवर्तक

सांख्य दर्शन पर कपिल ऋषि के बनाए हुए सूत्र हैं। वे ही इस के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। योग दर्शन महर्षि पतञ्जलि से शुरू हुआ है। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। न्याय दर्शन के गौतम। मीमांसा के जैमिनि और वेदान्त के व्यास, किन्तु अद्वैतवेदान्त का आरम्भ शङ्कराचार्य से ही होता है।

मुख्य प्रतिपाद्य

सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय और वेदान्त ये पाँचों दर्शन ज्ञानवादी हैं अर्थात् ज्ञान को प्रधानता देते हैं। ज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं। प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान ही सांख्यमत में मोक्ष है। इसको वे विवेकख्याति कहते हैं। योगमत भी ऐसा ही मानता है। वैशेषिक और न्याय १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानते हैं। माया का आवरण हटने पर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाना वेदान्त दर्शन में मुक्ति है। इस प्रकार इन पाँचों दर्शनों में ज्ञान ही मात्र या मोक्ष का कारण है। इस

सिर्फ ज्ञान ही मुख्य रूप से प्रतिपाद्य है।

मीमांसा दर्शन क्रियावादी है। इनके मत में वेदविहित कर्म ही जीवन का मुख्य ध्येय है। वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों को छोड़ने से जीव को स्वर्ग अथवा सुख प्राप्त होता है। अच्छे या बुरे कर्मों के कारण ही जीव सुखी या दुखी होता है। कर्मों का विधान या निषेध ही मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है।

जगत्

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् प्रकृति का परिणाम है। मुख्य रूप से प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व हैं। पुरुष चेतन, निर्लिप्त निर्गुण तथा कूटस्थ नित्य है। प्रकृति जड़, त्रिगुणात्मिका तथा परिणामिनित्य है। सत्त्व, रजस्, और तमस् तीनों गुणों की साम्यावस्था में संसार प्रकृति में लीन रहता है। गुणों में विषमता होने पर प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार आदि क्रम से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, और मन की उत्पत्ति होती है। पाँच तन्मात्राओं से फिर पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। पाँच महाभूतों से फिर सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि होती है।

योग दर्शन का सृष्टिक्रम भी सांख्यदर्शन के समान ही है। इसमें ईश्वर को माना है किन्तु सृष्टि में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं होता।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार संसार परमाणु से शुरू होता है। परमाणु से द्व्यणुक तीन द्व्यणुकों से त्रसरेणु इसी क्रम से घटादि अवयवी द्रव्य बनते हैं। वे अवयवी द्रव्य ही संसार हैं। द्रव्य, गुण,

कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं। न्याय तथा मीमांसा दर्शन में सृष्टिक्रम वैशेषिकों के समान ही है।

वेदान्तदर्शन में संसार ब्रह्म का विवर्त और माया का परिणाम है। संसार पारमार्थिक सत् नहीं है किन्तु व्यावहारिक सत् अर्थात् मिथ्या है।

जगत्कारण

सांख्य और योग के मत से जगत् का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। नैयायिक और वैशेषिकों के अनुसार कार्य जगत् के प्रति परमाणु, ईश्वर, ईश्वर का ज्ञान, ईश्वर की इच्छा, ईश्वर का प्रयत्न, दिशा, काल, अदृष्ट (धर्म और अधर्म) प्रागभाव और विघ्नसंसर्गाभाव कारण हैं।

मीमांसकों के मत में जीव, अदृष्ट और परमाणु, जगत् के प्रति कारण हैं। वेदान्त के मत से ईश्वर अर्थात् अविद्या से युक्त ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और वही निमित्त कारण है।

ईश्वर

सांख्य दर्शन ईश्वर को नहीं मानता। योगदर्शन के अनुसार क्लेश कर्मविपाक और उनके फल आदि से अस्पृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर है। इनके मत में ईश्वर जगत्कर्ता नहीं है। वैशेषिक और नैयायिक मत में ईश्वर जगत् का कर्ता है। उसमें आठ गुण होते हैं—संख्या (एकत्व), परिमाण (परममहत्) पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न।

मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते। वेदान्ती मायावच्छिन्न चैतन्य को ईश्वर मानते हैं।

जीव

सांख्य दर्शन में पुरुष को ही जीव माना गया है यह अनेक तथा विभु अर्थात् सर्वव्यापक है। सुख दुःख आदि सब प्रकृति के धर्म हैं। पुरुष अज्ञानता के कारण उन्हें अपना समझ कर दुखी होता है। योग दर्शन में जीव का स्वरूप सांख्यों के समान ही है।

वैशेषिक तथा नैयायिकों के अनुसार शरीर, इन्द्रिय आदि का अधिष्ठाता आत्मा ही जीव है। इस में १४ गुण हैं—संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना नाम का संस्कार। इनके मत में भी जीव विभु तथा नाना है। मीमांसा दर्शन के अनुसार भी जीव विभु, नाना कर्त्ता तथा भोक्ता है।

वेदान्त के अनुसार अन्तःकरण से युक्त ब्रह्म ही जीव है।

बन्ध हेतु

सांख्य और योग दर्शन के अनुसार जीव संसार में अविवेक के कारण बंधा हुआ है। वास्तव में प्रकृति पुरुष से सर्वथा भिन्न है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। दोनों के सर्वथा भिन्न होने पर भी प्रकृति के कार्यों को अपने समझ कर जीव अपने को दुखी तथा संसार में फँसा हुआ मानता है। प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान होते ही मोक्ष हो जाता है। इसलिए इन दोनों का अविवेक अर्थात् भेदज्ञान का न होना ही संसार बन्ध का कारण है। नैयायिक और वैशेषिक भी अज्ञान को ही बन्ध का कारण मानते हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार निषिद्ध कर्म बन्ध के कारण हैं। वेदान्त में अविद्या को बन्ध का कारण माना गया है।

बन्ध

सांख्य मत में त्रिविध दुःख का सम्बन्ध ही बन्ध है। योग दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संयोग से पैदा होने वाले अविद्या आदि पाँच क्लेश। नैयायिक और वैशेषिक मत में इक्कीस प्रकार के दुःख का सम्बन्ध ही बन्ध है मीमांसा। दर्शन में नरकादि दुःखों का सम्बन्ध तथा वेदान्त दर्शन में शरीरादि के साथ जीव का अभेद ज्ञान बन्ध है।

मोक्ष

सांख्य, योग, वैशेषिक और न्यायदर्शन में दुःख का ध्वंस अर्थात् नाश हो जाना ही मोक्ष है। मीमांसा दर्शन मोक्ष नहीं मानता। यज्ञादि के द्वारा होने वाला स्वर्ग अर्थात् सुख उस मत में मोक्ष है। वेदान्त दर्शन के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य का साक्षात्कार हो जाना मोक्ष है।

मोक्ष साधन

सांख्य और योगदर्शन में प्रकृति पुरुष का विवेक तथा वैशेषिक और नैयायिक मत में तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। मीमांसा मत में स्वर्ग रूप मोक्ष का साधन वेदविहित कर्म का अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों का त्याग है। वेदान्तदर्शन में अविद्या, और उसके कार्य का निवृत्त हो जाना मोक्ष है।

अधिकारी

सांख्यदर्शन में संसार से विरक्त पुरुष को मोक्ष मार्ग का अधिकारी माना है। योगदर्शन में मोक्ष का अधिकारी विशिष्ट चित्त वाला है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में दुःखजिहासु

अर्थात् दुःख को छोड़ने की इच्छा वाला व्यक्ति मोक्षमार्ग का अधिकारी है। मीमांसा दर्शन में कर्मफलासक्त तथा वेदान्तदर्शन में साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति मोक्षमार्ग का अधिकारी है।

इस लोक तथा परलोक के भोगों से विरक्ति होना, शान्त, दान्त, उपरत तथा समाधि से युक्त होना, वैराग्य तथा मोक्ष की इच्छा होना ये चार साधन चतुष्टय हैं।

वाद

संसार में दो तरह के पदार्थ हैं- (१) नित्य जो कभी उत्पन्न नहीं होते और न कभी नष्ट होते हैं। (२) अनित्य, जो उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी होते रहते हैं।

अनित्य कार्यों की उत्पत्ति के प्रत्येक मत की प्रक्रियाएँ भिन्न भिन्न हैं। सांख्य और योगदर्शन परिणामवादी हैं। इस मत के अनुसार कार्य उत्पन्न होने से पहले भी कारण रूप में विद्यमान रहता है। इसी लिए इसे सत्कार्यवाद भी कहा जाता है। अर्थात् संसार में कोई वस्तु नई उत्पन्न नहीं होती। घट, पट आदि सभी वस्तुएँ पहले से विद्यमान हैं। कारण सामग्री के एकत्र होने पर अभिव्यक्त अर्थात् प्रकट हो जाती है। इसी अभिव्यक्ति को उत्पत्ति कहा जाता है। परिणाम का अर्थ है बदलना। अर्थात् कारण ही कार्य रूप में अभिव्यक्त होता है। सांसारिक सभी पदार्थों का कारण प्रकृति है। प्रकृति ही महान् आदि तत्त्वों के रूप में परिणत होती हुई घट पट आदि रूप में अभिव्यक्त होती है। इसी का नाम परिणामवाद है।

वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक आरम्भवादी हैं। इनके मत में घटादि कार्य परमाणुओं से आरम्भ होते हैं। उत्पत्ति से-

पहले से असत् रहते हैं। किसी भी कार्य के आरम्भ होने पर परमाणुओं में क्रिया होती है। दो परमाणु मिल कर द्वयणुक बनता है। तीन द्वयणुकों से त्रसरेणु। इसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए अवयवी बनता है यही आरम्भवाद है।

वेदान्ती विवर्तवाद को मानते हैं। इन के मत से संसार अविद्या युक्त ब्रह्म का कार्य है। अविद्या अनादि है। ब्रह्म परमार्थ सत् है और घट पटादि पदार्थ मिथ्या अर्थात् व्यावहारिक सत् है। सब पदार्थों के कारण दो हैं—अविद्या और ब्रह्म। संसार अविद्या का परिणाम है और ब्रह्म का विवर्त। कारण और कार्य की सत्ता एक हो तो उस परिणाम कहा जाता है। अगर कारण और कार्य दोनों की सत्ता भिन्न भिन्न हो तो उसे विवर्त कहा जाता है। माया और संसार दोनों व्यावहारिक सत् हैं इसलिए संसार माया का परिणाम है। ब्रह्म परमार्थ सत् है और संसार व्यावहारिक सत्, इसलिए संसार ब्रह्म का विवर्त है।

आत्मपरिणाम

बहुतों दर्शनों में आत्मा विभु है। वेदान्तदर्शन में आत्मा एक है और बाकी मतों में नाना।

ख्याति

ज्ञान दो तरह का है– प्रमाण और भ्रम। भ्रम के तीन भेद हैं– संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। संदेहात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। विपरीत ज्ञान को विपर्यय और अनिश्चित अभावात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। विपरीत ज्ञान के लिए दार्शनिकों में परस्पर विवाद है। अंधेरे में रस्सी देख कर साँप समझ लेना विपरीत ज्ञान है। यहाँ पर प्रश्न होता

है कि विपरीत ज्ञान कैसे होता है? नैयायिकादि प्रायः सभी मतों में ज्ञान के प्रति पदार्थ को कारण माना है रस्सी में साँप का भ्रम होने पर प्रश्न उठता है कि वहाँ साँप न होने पर भी उसका ज्ञान कैसे हुआ? इसी का उत्तर देने के लिए दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न ख्यातियाँ मानी हैं।

सांख्य, योग और मीमांसक अख्याति या विवेकाख्याति को मानते हैं इनका कहना है कि 'यह साँप है' इस में दो ज्ञान मिले हुए हैं। यह रस्सी है और वह साँप। 'यह रस्सी है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष है और 'वह साँप है' यह ज्ञान स्मरण। दोनों ज्ञान सच्चे हैं। सामने पड़ी हुई रस्सी का ज्ञान भी सच्चा है और पहले देखे हुए साँप का स्मरण भी सच्चा है। इन दोनों ज्ञानों में भी दो दो अंश हैं। एक सामान्यांश और दूसरा विशेषांश। रस्सी के ज्ञान में यह सामान्यांश है और रस्सी विशेषांश। 'वह साँप है' इस में वह सामान्यांश और साँप विशेषांश। 'यह साँप है' इस ज्ञान में इन्द्रियादि दोष के कारण एक ज्ञान का विशेष अंश विस्मृत हो जाता है और दूसरे का सामान्य अंश। इस प्रकार इन दोनों ज्ञानों का भेद करने वाले अंश विस्मृत होने से बाकी बचे दोनों अंशों का ज्ञान रह जाता है और वही 'यह साँप है' इस रूप में मालूम पड़ता है।

इन के मत में मिथ्याज्ञान होता ही नहीं। जितने ज्ञान हैं सब स्वयं सच्चे हैं। इसलिए 'यह साँप है' यह ज्ञान भी सच्चा है। असल में दो ज्ञान हैं और उन का भेद मालूम न पड़ने से भ्रम हो जाता है। भेद या विवेक का ज्ञान न होना ही विवेकाख्याति है।

नैयायिक और वैशेषिक अन्यथाख्याति मानते हैं। इन

का कहना है कि 'यह साँप है' इस ज्ञान में किसी दूसरी जगह देखा हुआ साँप ही मालूम पड़ता है। पहले देखा हुआ साँप 'वह-साँप' इस रूप में मालूम पड़ना चाहिए किन्तु दोष के कारण 'यह साँप' ऐसा मालूम पड़ने लगता है। इस प्रकार पूर्वानुभूत सर्प का अन्यथा (दूसरे) रूप में अर्थात् 'वह साँप' की जगह 'यह साँप' मालूम पड़ना अन्यथाख्याति है।

वेदान्ती अनिर्वचनीय ख्याति मानते हैं। अर्थात् 'यह साँप है' इस भ्रमात्मक ज्ञान में नया सर्प उत्पन्न हो जाता है। वह साँप वास्तविक सत् नहीं है क्योंकि वास्तविक होता तो उसके काटने का असर होता। आकाशकुसुम की तरह असत्य भी नहीं है, क्योंकि असत् होता तो मालूम ही न पड़ता। सदसत् भी नहीं है क्योंकि इन दोनों में परस्पर विरोध है। इसलिए सत्, असत्, और सदसत् तीनों से विलक्षण अनिर्वचनीय अर्थात् जिसके लिए कुछ नहीं कहा जा सकता ऐसा साँप उत्पन्न होता है। यही अनिर्वचनीय ख्याति है।

प्रमाण,

वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य तथा योग प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। मीमांसक तथा वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव।

सत्ता,

वेदान्त को छोड़कर सभी दर्शन सांसारिक पदार्थों को वास्तविक सत् अर्थात् परमार्थ सत् मानते हैं। न्याय, और वैशेषिक सत्ता को जाति मानते हैं तथा पदार्थों में इस का

रहना समवाय सम्बन्ध से मानते हैं। सांख्य, योग और मीमांसक जाति या समवाय सम्बन्ध को नहीं मानते। वेदान्त दर्शन में सत्ता तीन प्रकार की है। ब्रह्म में पारमार्थिक सत्ता रहती है। व्यवहार में मालूम पड़ने वाले घट पट आदि पदार्थों में व्यवहार सत्ता। स्वप्न या भ्रमात्मक ज्ञान के समय प्रतीत होने वाले पदार्थों में प्रातिभासिक सत्ता अर्थात् वे जितनी देर तक मालूम पड़ते हैं उतनी देर ही रहते हैं।

उपयोग

प्रत्येक दर्शन या उसका ग्रन्थ प्रारम्भ होने से पहले अपनी उपयोगिता बताता है। साधारण रूप से सभी दर्शन तथा उन पर लिखे गए ग्रन्थों का उपयोग सुखप्राप्ति और दुःखों से छुटकारा है। किन्तु सुख का स्वरूप सभी दर्शनों में एक नहीं है। इस लिए उपयोग में भी थोड़ा थोड़ा भेद पड़ जाता है। सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान करवाना ही अपना उपयोग मानता है। योग का उपयोग है चित्त की एकाग्रता। वैशेषिक और न्याय के अनुसार साधर्म्य वैधर्म्य आदि द्वारा तत्त्वज्ञान हो जाना ही उपयोग है। मीमांसा का उपयोग है यज्ञादि के विधानों द्वारा स्वर्ग प्राप्त करना। ब्रह्मरूप पारमार्थिक सत्ता का साक्षात्कार करना ही वेदान्त दर्शन का उपयोग है।

अवैदिक दर्शन

जो दर्शन या विचारधाराएँ वेद को प्रमाण नहीं मानतीं विकास की दृष्टि से उन का क्रम नीचे लिखे अनुसार है- चार्वाक,

वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक और जैन। बीच की चारों विचारधाराएँ बौद्धों में से निकली हैं। तुलनात्मक दृष्टि से समझाने के लिए इनके विषय में भी कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं।

प्रवर्तक

चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति माने जाते हैं किन्तु इनका कोई ग्रन्थ न मिलने से यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बृहस्पति नाम के कोई आचार्य वास्तव में हुए थे या नहीं।

बौद्धों के वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत तीन पिटकों में पाए जाते हैं। इसलिए इनका प्रारम्भ बुद्ध से माना जाता है। बाद में बहुत से आचार्यों ने इन मतों पर ग्रन्थ लिखे हैं। योगाचार मत के प्रवर्तक आचार्य असङ्ग और वसुबन्धु माने जाते हैं। माध्यमिक मत के प्रधान आचार्य नागार्जुन थे। वर्तमान जैन दर्शन के प्रवर्तक भगवान् महावीर स्वामी हैं।

प्रधान प्रतिपाद्य

चार्वाक दर्शन भौतिकवादी है। स्वर्ग नरक की सब बातों को ढोंग मानता है। वैभाषिकों का सर्वास्तिवाद है अर्थात् दुनियाँ की सभी वस्तुएँ वास्तव में सत् किन्तु क्षणिक हैं और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से जानी जाती हैं। सौत्रान्तिक मत में सब वस्तुएँ सत् होने पर भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं हैं। वे सब अनुमान से जानी जाती हैं। योगाचार ज्ञानाद्वैतवादी है अर्थात् संसार की सभी वस्तुएँ झूठी हैं, केवल ज्ञान ही सच्चा है। वह भी क्षणिक है। माध्यमिक शून्यवादी हैं। इनके मत में संसार न भावस्वरूप है, न अभावस्वरूप है, न भावाभाव

स्वरूप है, न अनिर्वचनीय है। इन चारों कोटियों से विनिर्मुक्त शून्य है। माध्यमिक का अर्थ है मध्यम मार्ग को मानने वाला अर्थात् जो भाव और अभाव दोनों के बीच में रहे। जैन दर्शन का मुख्य सिद्धान्त स्याद्वाद है। स्याद्वाद और मध्यमवाद में यही फर्क है कि स्याद्वाद में भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से एकान्त दृष्टियों का समन्वय किया जाता है, उनका निषेध नहीं किया जाता। मध्यमवाद दोनों अन्तों का निषेध करता है।

जगत्

चार्वाक संसार को पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से बना हुआ मानते हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक जगत् को क्षणिक तथा अनादिप्रवाह रूप मानते हैं। योगाचार ज्ञान के सिवाय मालूम पड़ने वाले सभी पदार्थों को मिथ्या मानते हैं। माध्यमिक संसार को शून्यरूप मानते हैं। जैन संसार को वास्तविक अनादि और अनेक धर्मात्मक मानते हैं।

जगत्कारण

चार्वाक मत से जगत् का कारण चार भूत हैं। बौद्ध संसार को प्रवाह रूप से अनादि मानते हैं। उनके मत से भिन्न भिन्न वस्तुओं के अलग अलग कारण हैं। जैन भी संसार को प्रवाह रूप से अनादि मानते हैं, किन्तु सारी वस्तुएँ छः द्रव्यों से बनी हुई हैं।

ईश्वर

चार्वाक, जैन या बौद्ध कोई भी आत्मा से अतिरिक्त ईश्वर को नहीं मानते। जैन और बौद्धदर्शन में पूर्ण विकसित आत्मा ही ईश्वर या परमात्मा माना गया है, किन्तु वह जगत्कर्ता नहीं है।

जीव

चार्वाक जीव को देहरूप, इन्द्रियरूप या मनरूप मानते हैं। बौद्धों के मत में जीव अनेक, क्षणिक और मध्यम परिमाण वाला है।

जैन दर्शन में भाव मनक, कर्त्ता, भोक्ता और देह परिमाण है।

बन्ध हेतु

चार्वाक मत में मोक्ष नहीं है, इसलिए बन्ध हेतु, बन्ध, मोक्ष उसके साधन और अधिकारी का प्रश्न ही नहीं होता। बौद्ध अस्मितामिनिवेश अर्थात् अहङ्कार को बन्ध का कारण मानते हैं। जैन मत में राग और द्वेष बन्ध के कारण हैं।

बन्ध

बौद्धमत में आत्मसन्तानपरम्परा का बना रहना ही बन्ध है। उसके टूटते ही मोक्ष हो जाता है। जैन दर्शन में कर्मपरमाणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बन्ध माना गया है।

मोक्ष

बौद्ध मत में सन्तानपरम्परा का विच्छेद ही मोक्ष है। जैन दर्शन में कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना मोक्ष है।

साधन

बौद्धदर्शन में संसार को दुःखमय, क्षणिक, शून्य आदि बताया गया है। इस प्रकार का चिन्तन ही मोक्ष का साधन है। तपस्या और विषयभोग दोनों से अलग रहकर मध्यम मार्ग को अपनाने से ही शान्ति प्राप्त होती है। जैनदर्शन में संवर और निर्जरा को मोक्ष का साधन माना है।

अधिकारी

बौद्ध और जैन दोनों दर्शनों में संसार से विरक्त मनुष्य तत्त्वज्ञान का अधिकारी माना गया है।

वाद

चार्वाकों में वस्तु की उत्पत्ति के विषय में कई वाद प्रचलित हैं उन में मुख्य रूप से स्वभाववाद है। अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति और विनाश स्वाभाविक रूप से अपने आप होते रहते हैं।

स्वभाववाद के सिवाय इन में आकस्मिकवाद, अहेतुवाद, अभूतिवाद स्वतःउत्पादवाद, अनुपाख्योत्पादवाद, यदृच्छावाद आदि भी सम्मिलित हैं।

बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद को मानते हैं। अर्थात् कार्य न तो उत्पत्ति से पहले रहता है और न बाद में। वस्तु का क्षणभङ्गर रहना ही उत्पाद है।

जैनदर्शन सदसत्कार्यवाद को मानता है। अर्थात् उत्पत्ति से पहले कार्य कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् रहता है।

आत्मा

चार्वाकदर्शन में आत्मा अनेक तथा शरीर रूप है। बौद्धदर्शन में आत्मा मध्यम परिमाण, अनेक तथा ज्ञानपरम्परा रूप है। जैनदर्शन में आत्मा शरीर परिमाण, अनेक तथा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों वाला है।

ख्याति

चार्वाकदर्शन में ख्याति विषयक कोई मान्यता नहीं मिलती। बौद्ध आत्मख्याति को मानते हैं, अर्थात् रस्सी में 'यह साँप'। इस भ्रम में साँप केवल ज्ञान स्वरूप आन्तरिक पदार्थ है। उस में बाह्यसत्ता नहीं है। वही साँप दोष के कारण बाह्य रूप से मालूम पड़ने लगता है। इस प्रकार आत्मा अर्थात् ज्ञानरूप आन्तरिक पदार्थ का बाह्यरूप से प्रतीत होना आत्मख्याति है। जैनदर्शन में सदसत्ख्याति मानी जाती है। अर्थात् रस्सी में मालूम पड़ने वाला साँप स्वरूप से सत् है और रस्सी के रूप में असत् है। उसी की प्रतीति होती है। असत् गगनकुसुम की तरह अभावरूप होने से मालूम नहीं पड़ सकता और रस्सी रूप में भी साँप का सत् मानने से वह ज्ञान भ्रमात्मक नहीं माना जासकता इसलिये सदसत्ख्याति को मानना चाहिए।

प्रमाण

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो को। कोई कोई बौद्ध केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। जैनदर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण माने गए हैं। परोक्ष के फिर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम पाँच भेद हैं।

सत्ता

चार्वाक, वैभाषिक, सौत्रान्तिक और जैन मत के अनुसार संसार की सभी वस्तुओं में पारमार्थिक सत्ता है। योगाचार ज्ञान में पारमार्थिक सत्ता और बाह्यवस्तुओं को मिथ्या मानता है। माध्यमिक सत्ता को नहीं मानते। उन के मत में सभी शून्य है।

उपयोग

चार्वाक दर्शन की शिक्षा मनुष्य को पक्का नास्तिक बनाती है। स्वर्ग, नरक और मोक्ष की चिन्ता छोड़ कर इसी जीवन को आनन्दमय बनाना चाहिए यही बात सिखाने में चार्वाक मत की उपयोगिता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार जब तक आत्मा का अस्तित्व है तब तक दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता। इसलिए दुःख मिटाने के लिए अपने अस्तित्व को ही मिटा देना चाहिए। इस प्रकार दुःख से छुटकारा पाने की शिक्षा देना ही बौद्ध दर्शन का उपयोग है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त गुणों का भण्डार है। जैनदर्शन उन आत्मगुणों के विकास का मार्ग बताता है। आत्मा का पूर्ण विकास हो जाना ही मोक्ष है और यही परम पुरुषार्थ है। ([illegible] हि. फि. आदि ग्रन्थों के आधार से)

सातवां बोल संग्रह

[बोल नं० ४९८—५११ तक]

४९८- विनय के सात भेद

व्युत्पत्त्यर्थ- विनीयते क्षिप्यतेऽष्टप्रकारं कर्मानेनेति विनयः। अर्थात् जिस से आठ प्रकार का कर्ममल दूर हो वह विनय है।

स्वरूप- दूसरे को उत्कृष्ट समझ कर उस के प्रति श्रद्धा भक्ति दिखाने और उस की प्रशंसा करने को विनय कहते हैं। विनय के सात भेद हैं—

(१) ज्ञानविनय- ज्ञान तथा ज्ञानी पर श्रद्धा रखना, उन के प्रति भक्ति तथा बहुमान दिखाना, उन के द्वारा प्रतिपादित वस्तुओं पर अच्छी तरह विचार तथा मनन करना और विधिपूर्वक ज्ञान का ग्रहण तथा अभ्यास करना ज्ञानविनय है। मतिज्ञान आदि के भेद से इस के पाँच भेद हैं।

(२) दर्शनविनय- इस के दो भेद हैं शुश्रूषा और अनाशातना। दर्शनगुणाधिकों की सेवा करना, स्तुति वगैरह से उन का सत्कार करना, सामने आते देख कर खड़े हो जाना, वस्त्रादि के द्वारा सन्मान करना, पधारिए, आसन अलंकृत कीजिए इस प्रकार निवेदन करना, उन्हें आसन देना, उनकी प्रदक्षिणा करना, हाथ जोड़ना, आते हों तो सामने जाना, बैठे हों तो उपासना करना, जाते समय कुछ दूर पहुँचाने जाना शुश्रूषा विनय है। अनाशातनाविनय- यह पैंतालीस तरह का है। अरिहन्त, अर्हत्प्रतिपादित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, अस्तिवादरूप क्रिया, सांभोगिकक्रिया, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन पन्द्रह स्थानों की

आशातना न करना, भक्तिबहुमान करना तथा गुणों का कीर्तन करना। धर्म संग्रह में भक्ति, बहुमान और वर्णवाद ये तीन बातें हैं। हाथ जोड़ना वगैरह बाह्य आचारों को भक्ति कहते हैं। हृदय में श्रद्धा और प्रीति रखना बहुमान है। गुणों को ग्रहण करना वर्णवाद है।

(३) चारित्रविनय– सामायिक आदि चारित्रों पर श्रद्धा करना काय से उनका पालन करना तथा भव्यप्राणियों के सामने उनकी प्ररूपणा करना चारित्रविनय है। सामायिक चारित्र विनय, छेदोपस्थापनिक चारित्र विनय, परिहारविशुद्धि चारित्र विनय, सूक्ष्मसंपराय चारित्रविनय और यथाख्यात चारित्रविनय के भेद से इसके पाँच भेद हैं।

(४) मनविनय– आचार्यादि की मन से विनय करना, मन की अशुभप्रवृत्ति को रोकना तथा उसे शुभ प्रवृत्ति में लगाना मन विनय है। इस के दो भेद हैं–प्रशस्त मनविनय तथा अप्रशस्त मनविनय। इन में भी प्रत्येक के सात सात भेद हैं।

(५) वचनविनय– आचार्यादि की वचन से विनय करना, वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उसे शुभ व्यापार में लगाना वचनविनय है। इसके भी मन की तरह दो भेद हैं। फिर प्रत्येक के सात सात भेद हैं जो आगे लिखे जायेंगे।

(६) कायविनय– आचार्यादि की काय से विनय करना, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उसे शुभ व्यापार में प्रवृत्त करना कायविनय है। इसके भी मनविनय की तरह भेद हैं।

(७) उपचारविनय–दूसरे को सुख प्राप्त हो, इस तरह की बाह्य क्रियाएँ करना उपचारविनय है। इस के भी सात भेद हैं।

(उववाई सू. [illegible])(भगवती श० २५ उ० ७)(ठा० ७ सू० ५८५)

(धर्मसंग्रह अधि० ३ [illegible] श्लो० [illegible])

४९९-प्रशस्तमनविनय के सात भेद

मन को सदोष क्रियावाले, कर्कश, कटु, निष्ठुर, परुष, पाप कर्मों का बन्ध करने वाले, छेदकारी, भेदकारी, दूसरे को कष्ट पहुँचाने वाले, उपद्रव खड़ा करने वाले और प्राणियों का घात करने वाले व्यापार से बचाए रखना प्रशस्तमनविनय है। अर्थात् मन में ऐसे व्यापारों का न सोचना तथा इनके विपरीत शुभ बातों को सोचना प्रशस्तमनविनय है। इसके सात भेद हैं-

(१) अपावए- पाप रहित मन का व्यापार।

(२) असावज्जे- क्रोधादि दोष रहित मन की प्रवृत्ति।

(३) अकिरिए- कायिकी आदि क्रियाओं में आसक्ति रहित मन की प्रवृत्ति।

(४) निरुवक्केसे- शोकादि उपक्लेश रहित मन का व्यापार।

(५) अणण्हयकर- आश्रव रहित।

(६) अच्छविकर- अपने तथा दूसरे को पीड़ित न करने वाला।

(७) अभूयाभिसंकण- जीवों को भय न उत्पन्न करने वाला मन का व्यापार।

(भगवती श. २५ उ. ७ सू. ८०२) (ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५८५) (उववाई सू. २०)

५००-अप्रशस्तमनविनय के सात भेद

ऊपर लिखे हुए सदोष क्रिया वाले आदि अशुभ व्यापारों में मन का लगाना अप्रशस्तमनविनय है। इसके सात भेद हैं-

(१) पावए- पाप वाले व्यापार में मन का लगाना।

(२) सावज्जे- दोष वाले व्यापार में मन का लगाना।

(३) सकिरिए- कायिकी आदि क्रियाओं में आसक्तिसहित मन का व्यापार।

(४) सउवक्केसे- शोकादि उपक्लेश सहित मन का व्यापार।

(५) आश्रवकरे– आश्रव वाले कार्यों में मन की प्रवृत्ति।

(६) छविकरे– अपने तथा दूसरों को आयास (परेशानी) पहुँचाने वाले व्यापार में मन को प्रवृत्त करना।

(७) भूयाभिसंकरण– जीवों को भय उत्पन्न करने वाले व्यापार में मन प्रवृत्त करना।

(भगवती श. २५ उ. ७ सू. ८ २) (ठा. ७ उ ३ सू. ५८५) (उववाई सू.)

५०१– प्रशस्तवचनविनय के सात भेद

वचन की शुभ प्रवृत्ति को प्रशस्तवचनविनय कहते हैं। अर्थात् कठोर, सावद्य, छेदकारी, भेदकारी आदि भाषा न बोलना तथा हित, मित, प्रिय, सत्य वचन बोलना तथा वचन से दूसरों का सन्मान करने को प्रशस्तवचनविनय कहते हैं। इसके भी प्रशस्तमनविनय की तरह सात भेद हैं। वहाँ पापरहित आदि मन की प्रवृत्ति है, यहाँ पापयुक्त वचन से रहित होना है। बाकी स्वरूप मन की तरह है।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७ सूत्र ८ २) (ठाणांग ७ उ ३ सू. ५८५)

५०२– अप्रशस्तवचनविनय के सात भेद

वचन को अशुभ व्यापार में लगाना अप्रशस्तवचनविनय है। इसके भी अप्रशस्तमनविनय की तरह सात भेद हैं।

(भगवती शतक २५ उ ७सू. ८ २) (ठा ७उ. ३ सू ५८५)

५०३– प्रशस्तकायविनय के सात भेद

काया अर्थात् शरीर से आचार्य्य आदि की भक्ति करने और शरीर की यतनापूर्वक प्रवृत्ति को प्रशस्तकायविनय कहते हैं। इसके सात भेद हैं—

(१) आउत्तं गमणं– सावधानतापूर्वक जाना।

(२) आउत्तं ठाणं– सावधानतापूर्वक ठहरना।

(३) आउत्तं निसीयणं– सावधानतापूर्वक बैठना।

(४) आउत्तं तुयट्टणं-सावधानतापूर्वक सोना।
(५) आउत्तं उल्लंघणं-सावधानतापूर्वक उल्लंघन करना।
(६) आउत्तं पल्लंघणं-सावधानतापूर्वक बार बार लांघना।
(७) आउत्तं सव्विंदियजोगजुंजणया-सावधानतापूर्वक सभी इन्द्रिय और योगों की प्रवृत्ति करना।

(भगवती शतक २५ उ ७ सूत्र ८०२)(उवाई सूत्र २०)(ठाणांग ७ उ ३ सूत्र ५८५)

५०४-अप्रशस्तकायविनय के सात भेद

शरीर का असावधानी से अशुभ व्यापारों में लगाना अप्रशस्तकायविनय है। इसके भी सात भेद हैं-
(१) अणाउत्तं गमणं-असावधानी से जाना।
(२) अणाउत्तं ठाणं-असावधानी से ठहरना।
(३) अणाउत्तं निसीयणं-असावधानी से बैठना।
(४) अणाउत्तं तुयट्टणं-असावधानी से सोना।
(५) अणाउत्तं उल्लंघणं-असावधानी से उल्लंघन करना।
(६) अणाउत्तं पल्लंघणं-असावधानी से इधर उधर बार बार उल्लंघन करना।
(७) अणाउत्तं सव्विंदियजोगजुंजणया-असावधानी से सभी इन्द्रिय और योगों की प्रवृत्ति करना।

(भगवती शतक २५ उ ७ सूत्र ८०२)(ठाणांग ७ उ ३ सूत्र ५८५)(उवाई सूत्र २०)

५०५-लोकोपचारविनय के सात भेद

दूसरे को सुख पहुँचाने वाले बाह्य आचार को लोकोपचार विनय कहते हैं अथवा लोक अर्थात् जनता के उपचार (व्यवहार) को लोकोपचार विनय कहते हैं। इसके सात भेद हैं-
(१) अब्भासवत्तियं-गुरु वगैरह अपने से बड़ों के पास रहना और अभ्यास में प्रेम रखना।
(२) परच्छन्दाणुवत्तियं-उनकी इच्छानुसार चलना।

(३) कृतप्रतिकृति–उनके द्वारा किए हुए ज्ञान दानादि कार्य के लिए उन्हें विशेष मानना।

(४) कार्यप्रतिकृतिता–दूसरे के द्वारा अपने ऊपर किए हुए उपकार का बदला देना अथवा भोजन आदि के द्वारा गुरु की सुश्रूषा करने पर 'ये प्रसन्न होंगे और उसके बदले में ये मुझे ज्ञान सिखायेंगे' ऐसा समझ कर उनकी विनय भक्ति करना।

(५) आर्तगवेषणता–आर्त (दुखी साथियों) की रक्षा के लिए उनकी गवेषणा करना।

(६) देशकालज्ञता–अवसर देखकर चलना।

(७) सर्वार्थेष्वप्रतिलोमता–सब कार्यों में अनुकूल रहना।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७ सूत्र ८०१)(ठा० ७ उ० ३ सूत्र ५८५) (उववाईसूत्र २०)

५०६–सूत्र सुनने के सात बोल

जो थोड़े अक्षरों वाला हो, सन्देह रहित हो, सारगर्भित हो, विस्तृत अर्थवाला हो, गम्भीर तथा निर्दोष हो उसे सूत्र कहते हैं। सूत्र को सुनने तथा आगम की विधि के सात अंग हैं–

(१) मूर्क–मूक रहना (मौन रखना)

(२) हुंकार–हुंकारा देना (जी, हाँ, ऐसा कहना)

(३) बाढंकार–आपने जो कुछ कहा है, ठीक है ऐसा कहना।

(४) परिपृच्छा–प्रतिपृच्छा करना।

(५) मीमंसा–मीमांसा अर्थात् युक्ति से विचार करना।

(६) प्रसंगपारायण–पूर्वापर प्रसंग समझ कर बात को पूरी तरह समझना।

(७) परिनिष्ठा–दृढ़तापूर्वक बात का धारण करना।

पहिले पहल सुनते समय शरीर को स्थिर रख कर तथा मौन रह कर एकाग्र चित्त से सूत्र का श्रवण करना चाहिए।

दूसरी बार हुँ, अर्थात् तहत्ति कार करना चाहिए। तीसरी बार बारंबार करना चाहिए, अर्थात् यह कहना चाहिए कि आपने जो कुछ कहा वही सत्य है। चौथी बार सूत्र का पूर्वापर अभिप्राय समझ कर कोई संदेह हो तो पृच्छा करनी चाहिए। यह बात कैसे है ? मेरी समझ में नहीं आई, इस प्रकार नम्रता से पूछना चाहिए। पांचवीं दफे उस बात को प्रमाण से पर्यालोचना करनी चाहिए अर्थात् युक्ति से उस बात को सचाई देखनी चाहिए। छठी दफे उत्तरोत्तर प्रमाण प्राप्त करके उस विषय की पूरी बातें मान लेनी चाहिएं। सातवीं बार ऐसा दृढ़ज्ञान हृदय में जमा लेना चाहिए जिससे गुरु की तरह अच्छी तरह दूसरे से कहा जा सके, शिष्य को इस विधि से सूत्र का श्रवण करना चाहिए।

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५६२)

५०७–चिन्तन के सात फल

श्रावक को प्रात:काल उठकर वीतराग भगवान् का स्मरण करके नीचे लिखी बातें सोचनी चाहिएँ।

संसार के प्राणियों में द्वीन्द्रियादि त्रस जीव उत्कृष्ट हैं। उन में भी पञ्चेन्द्रिय सर्वश्रेष्ठ हैं। पंचेन्द्रियों में मनुष्य तथा मनुष्यों में आर्यक्षेत्र प्रधान है। आर्यक्षेत्र में भी उत्तम कुल तथा उत्तम जाति दुष्प्राप्य हैं। उत्तम कुल तथा जाति में जन्म प्राप्त करके भी शरीर का पूर्णाङ्ग होना, उसमें भी धर्म करने की सामर्थ्य होना, सामर्थ्य होने पर भी धर्म के प्रति उत्साह होना कठिन है। उत्साह होने पर भी तत्त्वों का जानना मुश्किल है। जान कर भी सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा होने पर भी शील की प्राप्ति अर्थात् सुशील अच्छे स्वभाव और चारित्र वाला होना दुर्लभ है। शील प्राप्ति होने पर भी क्षायिकभाव

उस समय मृदंगांग, दीप और ज्योति नाम के कल्पवृक्ष नहीं थे।
(ठा० ७ उ० ३ सू० ५५६) (सम० १५७) (प्रवचनसारोद्धार भा० २ उत्तरार्द्ध पृ० ३६२)

५०९–वर्तमान कुलकरों को भार्याओं के नाम

वर्तमान अवसर्पिणी के सात कुलकरों की भार्याओं के नाम इस प्रकार हैं– (१) चन्द्रयशा, (२) चन्द्रकान्ता, (३) सुरूपा, (४) प्रतिरूपा, (५) चक्षुष्कान्ता, (६) श्रीकान्ता और (७) मरुदेवी। इन में मरुदेवी भगवान् ऋषभदेव की माता थीं और उसी भव में सिद्ध हुई हैं। (ठाणांग ७ उ० ३ सू० ५५६) (समवायांग १५७)

५१०–दण्डनीति के सात प्रकार

अपराधी को दुबारा अपराध से रोकने के लिए कुछ कहना या कष्ट देना दण्डनीति है। इसके सात प्रकार हैं–
हक्कारे–'हा'! तुमने यह क्या किया? इस प्रकार कहना।
मक्कारे–'फिर ऐसा मत करना' इस तरह निषेध करना।
धिक्कारे– किए हुए अपराध के लिए उसे फटकारना।
परिभासे– क्रोध से अपराधी को 'मत जाओ' इस प्रकार कहना।
मण्डलबंधे– नियमित क्षेत्र से बाहर जाने के लिए रोक देना।
चारित्ते– कैद में डाल देना।
छविच्छेद– हाथ पैर नाक वगैरह काट डालना।

इनमें से प्रथम विमलवाहन नामक कुलकर के समय 'हा' नाम की दण्डनीति थी। अपराधी को 'हा' तुमने यह क्या किया?' इतना कहना ही पर्याप्त था। इतना कहने के बाद अपराधी भविष्य के लिए अपराध करना छोड़ देता था। दूसरे कुलकर चक्षुष्मान के समय भी यही एक दण्डनीति थी। तीसरे और चौथे कुलकर के समय थोड़े अपराधों के लिए 'हा' और बड़े अपराधों के लिए 'मकार' का दण्ड था। अपराधी को कह दिया

जाता था 'ऐसा काम मत करो'। पाँचवें छठे और सातवें कुल कर के समय हाकार, मकार और धिक्कार तीनों प्रकार की दण्डनीतियाँ थीं। छोटे अपराध के लिए हाकार, मध्यम के लिए मकार और बड़े अपराध के लिए धिक्कार रूप दण्ड दिया जाता था।

भरत चक्रवर्ती के समय बाकी के चार दण्ड प्रवृत्त हुए। कुछ लोगों का मत है, परिभाषा और मण्डलबन्ध रूप दो दण्ड ऋषभदेव के समय प्रवृत्त हो गए थे, शेष दो भरत चक्रवर्ती के समय हुए। (ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५५७)

५११ आनेवाले उत्सर्पिणीकाल के सात कुलकर

आने वाले उत्सर्पिणी काल में सात कुलकर होंगे। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मित्रवाहन, (२) सुभौम, (३) सुप्रभ, (४) स्वयम्प्रभ, (५) दत्त, (६) सूक्ष्म और (७) सुबन्धु।

(ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५५६) (समवायांग १५८)

५१२–गत उत्सर्पिणीकाल के सात कुलकर

गत उत्सर्पिणीकाल में सात कुलकर हुए थे। उनके नाम नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) मित्रदाम, (२) सुदाम (३) सुपार्श्व, (४) स्वयम्प्रभ, (५) विमलघोष, (६) सुघोष और (७) महाघोष।

(ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५५६) (समवायांग १५७)

५१३–पदवियाँ सात

गच्छ, गण या संघ की व्यवस्था के लिए योग्य व्यक्ति को दिए जाने वाले विशेष अधिकार को पदवी कहते हैं। जैन संघ में साधुओं की योग्यतानुसार सात पदवियाँ निश्चित की गई हैं।

(१) आचार्य– चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, द्रव्यानु योग और गणितानुयोग इन चारों अनुयोगों के ज्ञान का धारण

करने वाला, चतुर्विध संघ के सञ्चालन में समर्थ तथा छत्तीस गुणों का धारक साधु आचार्य पदवी के योग्य समझा जाता है।

(२) उपाध्याय– जो साधु विद्वान् हो तथा दूसरे साधुओं को पढ़ाता हो उसे उपाध्याय कहते हैं।

(३) प्रवर्तक– आचार्य के आदेश के अनुसार वैयावच्च आदि में साधुओं को ठीक तरह से प्रवृत्त करने वाला प्रवर्तक कहलाता है।

(४) स्थविर– संयम से गिरते हुए या दुखी होते हुए साधुओं को जो स्थिर करे उसे स्थविर कहते हैं। स्थविर साधु दीक्षा, वय शास्त्र ज्ञान आदि में बड़ा होता है।

(५) गणी– एक गच्छ (कुछ साधुओं का समूह) के मालिक को गणी कहते हैं।

(५)* गणधर– जो आचार्य की आज्ञा में रहते हुए गुरु के कथनानुसार कुछ साधुओं को लेकर अलग विचरता है उसे गणधर कहते हैं।

(७) गणावच्छेदक–गण की सारी व्यवस्था तथा कार्यों का ख्याल करने वाला गणावच्छेदक कहलाता है।

ठाणांग सूत्र में इनकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार है—

(१) आचार्य– प्रतिबोध, दीक्षा या शास्त्रज्ञान आदि देने वाला।

(२) उपाध्याय– सूत्रों का ज्ञान देने वाला।

(३) प्रवर्तक– जो आचार्य द्वारा बताए गए वैयावच्च आदि धर्म कार्यों में साधुओं को प्रवृत्त करे।

तवसंजमजोगेसु जो जोग्गो तत्थ तं पवट्टेइ ।
असहुं च नियत्तेइ गणतत्तिल्लो पवत्ती उ ॥

अर्थात् तप संयम और शुभयोग में से जो साधु जिसके

---

* यद्यपि गणधर शब्द से तीर्थंकर के प्रधान शिष्य ही लिए जाते हैं किन्तु सम-[illegible] में गणधर शब्द का उपरोक्त अर्थ किया गया है।

लिए योग्य हो उसे उसी में प्रवृत्त करने वाला, अयोग्य या कष्ट सहन करने की सामर्थ्य से हीन को निवृत्त करने वाला तथा हमेशा गण की चिन्ता में लगा हुआ साधु प्रवर्तक कहा जाता है।

(४) स्थविर- प्रवर्तक के द्वारा धर्मकार्यों में लगाए हुए साधुओं के शिथिल या दुःखी होने पर जो उन्हें संयम या शुभयोग में स्थिर करे उसे स्थविर कहते हैं।

थिरकरणा पुण थेरो पवत्तिवावारिएसु अत्थेसु।
जो जत्थ सीयइ जई संतबलो तं थिरं कुणइ॥

अर्थात् जो प्रवर्तक के द्वारा बताए गए धर्मकार्यों में साधुओं को स्थिर करे वह स्थविर कहा जाता है। जो साधु जिस कार्य में शिथिल या दुःखी होता है स्थविर उसे फिर स्थिर कर देता है।

(५) गणी- गण अर्थात् साधुओं की टोली का आचार्य जो कुछ साधुओं को अपने शासन में रखता है।

(६) गणधर या गणाधिपति- तीर्थङ्करों के प्रधान शिष्य गणधर कहे जाते हैं। अथवा साधुओं की दिनचर्या आदि का पूरा ध्यान रखने वाला साधु गणधर कहा जाता है।

पियधम्मे दढधम्मे संविग्गो उज्जुओ य तेयंसी।
संगहुवग्गहकुसलो, सुत्तत्थविऊ गणाहिवई॥

अर्थात् जिसे धर्म प्यारा है जो धर्म में दृढ़ है जो संवेग वाला है सरल तथा तेजस्वी है, साधुओं के लिए वस्त्र पात्र आदि का संग्रह तथा अनुचित बातों के लिए उपग्रह अर्थात् रोकथाम करने में कुशल है और सूत्रार्थ को जानने वाला है वही गणाधिपति होता है।

(७) गणावच्छेदक- जो गण के एक भाग को लेकर गच्छ की रक्षा के लिए आहार पानी आदि की सुविधानुसार अलग विचरता है उसे गणावच्छेदक कहते हैं।

उद्दवणापहावण खेत्तोवहिमग्गणासु अविसाई।
सुत्तत्थतदुभयविऊ गणवच्छो एरिसो होइ॥

अर्थात्– दूर विहार करने, शीघ्र चलने तथा क्षेत्र और दूसरी उपधियों का खोजने में जो घबराने वाला न हो, सूत्र अर्थ और तदुभय रूप आगम का जानकार हो ऐसा साधु गणावच्छेदक होता है। (ठाणांग ३ उ. ३ सूत्र १७७ टीका)

५१४–आचार्य तथा उपाध्याय के सात सग्रहस्थान

आचार्य और उपाध्याय सात बातों का ध्यान रखने से ज्ञान अथवा शिष्यों का सग्रह कर सकते हैं, अर्थात् इन सात बातों का ध्यान रखने से व संघ में व्यवस्था कायम रख सकते हैं, दूसरे साधुओं को अपने अनुकूल तथा नियमानुसार चला सकते हैं।

(१) आचार्य तथा उपाध्याय को आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग करना चाहिए। किसी कार्य के लिए विधान करने को आज्ञा कहते हैं, तथा किसी बात से रोकने को अर्थात् नियन्त्रण को धारणा कहते हैं। इस तरह के नियोग (आज्ञा) या नियन्त्रण के अनुचित होने पर साधु आपस में या आचार्य के साथ कलह करने लगते हैं और व्यवस्था टूट जाती है। अथवा देशान्तर में रहा हुआ गीतार्थ साधु अपने अतिचार को गीतार्थ आचार्य से निवेदन करने के लिए अगीतार्थ साधु के सामने जो कुछ गूढार्थ पदों में कहता है उसे आज्ञा कहते हैं। अपराध की बार बार आलोचना के बाद जो प्रायश्चित्त विशेष का निश्चय किया जाता है उसे धारणा कहते हैं। इन दोनों का प्रयोग यथारीति न होने से कलह होने का डर है, इसलिए शिष्यों के संग्रहार्थ इन का सम्यक् प्रयोग होना चाहिए।

(२) आचार्य और उपाध्याय को रत्नाधिक की वन्दना वगैरह का सम्यक् प्रयोग कराना चाहिए। दीक्षा के बाद ज्ञान, दर्शन

और चारित्र में बड़ा साधु छोटे साधु द्वारा वन्दनीय समझा जाता है। अगर कोई छोटा साधु रत्नाधिक को वन्दना न करे तो आचार्य और उपाध्याय का कर्तव्य है कि वे उसे वन्दना के लिए प्रवृत्त करें। इस वन्दना व्यवहार का लोप होने से व्यवस्था टूटने की सम्भावना है। इसलिए वन्दनाव्यवहार का सम्यक्प्रकार पालन करवाना चाहिए। यह दूसरा संग्रहस्थान है।

(३) शिष्यों में जिस समय जिस सूत्र के पढ़ने की योग्यता हो अथवा जितनी दीक्षा के बाद जो सूत्र पढ़ाना चाहिए उस का आचार्य हमेशा ध्यान रक्खे और समय आने पर उचित सूत्र पढ़ावे। यह तीसरा संग्रहस्थान है।

ठाणांग सूत्र की टीका में सूत्र पढ़ाने के लिए दीक्षापर्याय की निम्नलिखित मर्यादा की गई है—

तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले साधु को आचारांग पढ़ाना चाहिए। चार वर्ष वाले को सूयगडांग। पाँच वर्ष वाले को दशाश्रुतस्कन्ध बृहत्कल्प और व्यवहार। आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को ठाणांग और समवायांग। दस वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवती सूत्र पढ़ाना चाहिए। ग्यारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को खुड्डियविमाणपविभत्ति (क्षुद्रक-विमानप्रविभक्ति), महल्लियाविमाणपविभत्ति (महद्विमानप्रविभक्ति), अंगचूलिया, वंगचूलिया और विवाहचूलिया ये पाँच सूत्र पढ़ाने चाहिए। बारह वर्ष वाले को अरुणोववाए (अरुणोपपात), वरुणोववाए (वरुणोपपात), गरुलोववाए (गरुडोपपात), धरणोववाए (धरणोपपात) और वेसमणोववाए (वैश्रमणोपपात)। तेरह वर्ष वाले को उत्थानश्रुत, समुत्थान श्रुत, नागपरियावलिआओ और निरयावलिआओ ये चार सूत्र। चौदह वर्ष वाले को आशीविषभावना और पन्द्रह वर्ष

वाले को दृष्टिविषभावना । सोलह सत्रह और अठारह वर्ष वाले को क्रम से चारणभावना, महास्वप्नभावना और तेजोनिसर्ग पढ़ाना चाहिए । उन्नीस वर्ष वाले को दृष्टिवाद नाम का बारहवाँ अंग और बीस वर्ष पूरे हो जाने पर सभी शास्त्रों को पढ़ने का वह अधिकारी हो जाता है । इन सभी को पढ़ाने के लिए यह नियम नहीं है कि इतने वर्षों की दीक्षापर्याय के बाद ये सूत्र अवश्य पढ़ाये जायँ किन्तु योग्य साधु को इतने समय के बाद ही विहित सूत्र पढ़ाना चाहिए‡ ।

(४) आचार्य तथा उपाध्याय को बीमार, तपस्वी तथा विद्याध्ययन करने वाले साधुओं की वैयावच्च का ठीक प्रबन्ध करना चाहिए । यह चौथा संग्रहस्थान है ।

(५) आचार्य तथा उपाध्याय को दूसरे साधुओं से पूछकर काम करना चाहिए बिना पूछे नहीं । अथवा शिष्यों से दैनिक कृत्य के लिए पूछते रहना चाहिए । यह पाँचवाँ संग्रहस्थान है ।

(६) आचार्य तथा उपाध्याय को अप्राप्त आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति के लिए सम्यक् प्रकार व्यवस्था करनी चाहिए । अर्थात् जो वस्तुएं आवश्यक हैं और साधुओं के पास नहीं हैं उनकी निर्दोष प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए । यह छठा संग्रहस्थान है ।

(७) आचार्य तथा उपाध्याय को पूर्वप्राप्त उपकरणों की रक्षा का ध्यान रखना चाहिए । उन्हें ऐसे स्थान में न रखने देना चाहिए जिससे वे खराब हो जायँ या चोर वगैरह ले जायँ । यह सातवाँ संग्रहस्थान है ।

(ठाणांग ५ उ. १ सूत्र ३९९ तथा ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५४४)

५१५— गणापक्रमण सात

कारणविशेष से एक गण या संघ को छोड़कर दूसरे गण

‡ आचार्य या उपाध्याय किसी साधु को विशेष बुद्धिमान् और योग्य समझ कर पहले भी पढ़ा सकते हैं।

में चले जाने या एक साथ व्यवहार करने को गणापक्रमण कहते हैं। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर या अपने से किसी बड़े साधु की आज्ञा लेकर ही दूसरे गण में जाना कल्पता है। इस प्रकार एक गण को छोड़ कर जाने की आज्ञा मांगने के लिए तीर्थङ्करों ने सात कारण बताए हैं—

(१) निर्ग्रन्थ के हेतु सभी धर्मों को मैं पसन्द करता हूँ। सूत्र और अर्थरूप श्रुत के नए भेद सीखना चाहता हूँ। भूले हुए को याद करना चाहता हूँ और पढ़े हुए की आवृत्ति करना चाहता हूँ तथा क्षपण, वैयावृत्त्य रूप चारित्र के सभी भेदों का पालन करना चाहता हूँ। उन सब की इस गण में व्यवस्था नहीं है। इसलिए हे भगवन्! मैं दूसरे गण में जाना चाहता हूँ' इस प्रकार आज्ञा मांग कर दूसरे गण में जाना पहला गणापक्रमण है। दूसरे पाठ के अनुसार 'मैं सब धर्मों को मानता हूँ' इस प्रकार [illegible] से गण छोड़ कर चले जाना पहला गणापक्रमण है।

(२) 'मैं श्रुत और चारित्र रूप धर्म के कुछ भेदों का पालन करना चाहता हूँ और कुछ का नहीं, जिन का पालन करना चाहता हूँ उन के लिए इस गण में व्यवस्था नहीं है। इसलिए दूसरे गण में जाना चाहता हूँ' इस कारण एक गण को छोड़ कर दूसरे में चला जाना दूसरा गणापक्रमण है।

(३) मुझे सभी धर्मों में सन्देह है। अपना सन्देह दूर करने के लिए मैं दूसरे गण में जाना चाहता हूँ।

(४) 'मुझे कुछ धर्मों में सन्देह है और कुछ में नहीं, इस लिए दूसरे गण में जाना चाहता हूँ'।

(५) मैं सब धर्मों का ज्ञान दूसरे को देना चाहता हूँ अपने गण में कोई पात्र न होने से दूसरे गण में जाना चाहता हूँ'।

(६) कुछ धर्मों का उपदेश देने के लिए जाना चाहता हूँ।

(७) 'गण से बाहर निकल कर जिनकल्प आदि रूप एकल विहार प्रतिमा अङ्गीकार करना चाहता हूँ'। अथवा
(१) 'मैं सब धर्मों पर श्रद्धा करता हूँ इसलिए उन्हें स्थिर करने के लिए गणापक्रमण करना चाहता हूँ'।
(२) 'मैं कुछ पर श्रद्धा करता हूँ और कुछ पर नहीं। जिन पर श्रद्धा नहीं करता उन पर विश्वास जमाने के लिए गणापक्रमण करता हूँ'। इन दोनों में सर्वविषयक और देशविषयक दर्शन अर्थात् दृढ श्रद्धान के लिए गणापक्रमण बताया गया है।
(३-४) इसी प्रकार सर्वविषयक और देशविषयक संशय को दूर करने के लिए तीसरा और चौथा गणापक्रमण है।
(५-६) 'मैं सब धर्मों का सेवन करता हूँ अथवा कुछ का करता हूँ कुछ का नहीं करता'। यहाँ सेवित धर्मों में विशेष दृढता प्राप्त करने के लिए तथा अनासेवित धर्मों का सेवन करने के लिए पाँचवाँ और छठा गणापक्रमण है।
(७) ज्ञान, दर्शन और चारित्र के लिए, अथवा दूसरे आचार्य के साथ सम्भोग करने के लिए गणापक्रमण किया जाता है।

ज्ञान में सूत्र अर्थ तथा उभय के लिए संक्रमण होता है। जो किसी गण से बाहर कर दिया जाता है अथवा किसी कारण से डर जाता है वह भी गणापक्रमण करता है।

(ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५४१)

५१६ पुरिमड्ढ (दो पोरिसी) के सात आगार

सूर्योदय से लेकर दो पहर तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना पुरिमड्ढ पच्चक्खाण है। इस में सात आगार होते हैं- अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार और महत्तरागार।

इन में से पहिले के छह आगारों का स्वरूप बोल नं० ४८३

में द दिया गया है। महत्तरागार का अर्थ है – विशेष निर्जरा आदि खास कारण स गुरु की आज्ञा पाकर निश्चय किये हुए समय के पहिले ही पच्चक्खाण पार लेना।

(हरिभद्रीयावश्यक भाष्य १.९१ ८५१)(प्रव द्वा ४ गा १ १)

५१७ एगट्ठाण (एकस्थान) के सात आगार

दिन रात में एक आसन स बैठ कर एक ही बार आहार करन का एकस्थान पच्चक्खाण कहते हैं। इस पच्चक्खाण में गरम(फासुक)पानी पिया जाता है रात को चौविहार किया जाता है और भोजन करते समय एक बार जैसे बैठ जाय उसी प्रकार बैठ रहना चाहिए। हाथ पैर फैलाना या सङ्कुचित करना इस में नहीं कल्पता। यही एकासना और एकस्थान में भेद है। इस में सात आगार हैं–(१) अणाभोग, (२) सहसागार, (३) सागारियागार, (४) गुर्वभ्युत्थान, (५) पारिट्ठावणियागार, (६) महत्तरागार, और (७) सव्वसमाहिवत्तियागार।

(३) सागारियागार–जिनके दिखाई दन पर शास्त्र में आहार करने की मनाई है उनके आजान पर स्थान बदल कर दूसरी जगह चले जाना सागारियागार है।

(४) गुर्वभ्युत्थान – किसी पाहुन मुनि या गुरु के आने पर विनय सत्कार के लिये उठना गुर्वभ्युत्थान है।

(५) पारिट्ठावणियागार – अविधि हो जाने के कारण यदि आहार को परठवणा पड़ता हो तो परठवण के दोष स बचने के लिये उस आहार को गुरु की आज्ञा स ग्रहण कर लेना। शेष आगारों का स्वरूप पहिले दिया जा चुका है।

ये सात आगार साधु के लिये हैं।

(हरिभद्रीयावश्यक ११ ८५१ भाष्य १)(प्रव सा.द्वा ४ गा. १ ४)

५१८ अवग्रहप्रतिमाएं (प्रतिज्ञाएं) सात,

साधु जो मकान, वस्त्र, पात्र, आहारादि वस्तुएं लेता है उन्हें अवग्रह कहते हैं। इन वस्तुओं को लेने में विशेष प्रकार की मर्यादा करना अवग्रहप्रतिमा है। किसी धर्मशाला अथवा मुसाफिरखाने में ठहरने वाले साधु को मकान मालिक के आगमन तथा दूसरे लोगों का ख्याल करते हुए नीचे लिखी सात प्रतिमाएं यथाशक्ति अंगीकार करनी चाहिये।

(१) धर्मशाला वगैरह में प्रवेश करने से पहिले ही यह सोच ले कि मैं अमुक प्रकार का अवग्रह लूँगा। इसके सिवाय न लूंगा' यह पहली प्रतिमा है।

(२) "मैं सिर्फ दूसरे साधुओं के लिए स्थान आदि अवग्रह का ग्रहण करूंगा और स्वयं दूसरे साधु द्वारा ग्रहण किये हुए अवग्रह पर गुजारा करूंगा"।

(३) 'मैं दूसरे के लिए अवग्रह की याचना करूंगा किन्तु स्वयं दूसरे द्वारा ग्रहण किए अवग्रह को स्वीकार नहीं करूंगा"। गीला हाथ जब तक सूखता है उतने काल से लेकर पाँच दिन रात तक के समय को लन्द कहते हैं। लन्द तक का अंगीकार कर के जिनकल्प के समान रहने वाले साधु यथालन्दिक कहलाते हैं। ये दो तरह के होते हैं—गच्छप्रतिबद्ध और स्वतन्त्र। शास्त्रादि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जब कुछ साधु एक साथ मिल कर रहते हैं तो उन्हें गच्छप्रतिबद्ध कहा जाता है। तीसरी प्रतिमा प्रायः गच्छप्रतिबद्ध साधु अंगीकार करते हैं। ये आचार्य आदि जिन से शास्त्र पढ़ते हैं उनके लिए तो वसत्यादि अवग्रह ला देते हैं पर स्वयं किसी दूसरे का लाया हुआ ग्रहण नहीं करते।

(४) मैं दूसरे के लिए अवग्रह नहीं मांगूंगा पर दूसरे के द्वारा

लाये हुए का स्वयं उपभोग कर लूँगा। जो साधु जिनकल्प की तैयारी करते हैं और उग्र तपस्या तथा उग्र चारित्र वाले होते हैं, वे ऐसी प्रतिमा लेते हैं। तपस्या आदि में लीन रहने के कारण वे अपने लिये भी माँगने नहीं जा सकते। दूसरे साधुओं द्वारा लाये हुए को ग्रहण करके अपना काम चलाते हैं।

(५) मैं अपने लिए तो अवग्रह माँगूँगा, दूसरे साधुओं के लिए नहीं। जो साधु जिनकल्प ग्रहण करके अकेला विहार करता है यह प्रतिमा उसके लिए है।

(६) जिससे अवग्रह ग्रहण करूँगा उसी से दर्भादिक संथारा भी ग्रहण करूँगा। नहीं तो उत्कुटुक अथवा किसी दूसरे आसन से बैठा हुआ ही रात बिता दूँगा। यह प्रतिमा भी जिनकल्पिक आदि साधुओं के लिए है।

(७) सातवीं प्रतिमा भी छठी सरीखी ही है। इसमें इतनी प्रतिज्ञा अधिक है 'शिलादिक संस्तारक बिछा हुआ जैसा मिल जायगा वैसा ही ग्रहण करूँगा, दूसरा नहीं'। यह प्रतिमा भी जिनकल्पिक आदि साधुओं के लिए है।

(आचारांग श्रु० २ चूलिका १ अध्ययन ७ उद्देशा २ सूत्र १६)

५१९- पिण्डैषणाएं सात

यथाक्रम दोष टालकर शुद्ध आहार पानी ग्रहण करने को एषणा कहते हैं। इसके पिण्डैषणा और पानैषणा दो भेद हैं। आहार ग्रहण करने को पिण्डैषणा तथा पानी ग्रहण करने को पानैषणा कहते हैं। पिण्डैषणा अर्थात् आहार को ग्रहण करने के सात प्रकार हैं। साधु दो तरह के होते हैं—गच्छान्तर्गत अर्थात् गच्छ में रहे हुए और गच्छविनिर्गत अर्थात् गच्छ से बाहर निकले हुए। गच्छान्तर्गत साधु सातों पिण्डैषणाओं का ग्रहण करते हैं। गच्छविनिर्गत पहले की दो पिण्डैषणाओं को छोड़

कर बाकी पाँच का ग्रहण करते हैं।

(१) असंसृष्टा–हाथ और भिक्षा देने का बर्तन अन्नादि के संसर्ग से रहित होने पर सूझता अर्थात् कल्पनीय आहार लेना।

(२) संसृष्टा×– हाथ और भिक्षा देने का बर्तन अन्नादि के संसर्ग वाला होने पर सूझता और कल्पनीय आहार लेना।

(३) उद्धृता– थाली बटलोई वगैरह बर्तन से बाहर निकाला हुआ सूझता और कल्पनीय आहार लेना।

(४) अल्पलेपा–अल्प अर्थात् बिना चिकनाहट वाला आहार लेना। जैसे भुने हुए चने।

(५) उपगृहीता–गृहस्थ द्वारा अपने भोजन के लिए थाली में परोसा हुआ आहार जीमना शुरू करने के पहिले लेना।

(६) प्रगृहीता—थाली में परोसने के लिए कुड़छी या चम्मच वगैरह से निकाला हुआ आहार थाली में डालने से पहिले लेना।

(७) उज्झितधर्मा– जो आहार अधिक होने से या और किसी कारण से श्रावक ने फैंक देने योग्य समझा हो, उसे सूझता होने पर लेना।

(आचारांग श्रु० २ अ० १ उद्देशा ११ सूत्र ६२)(ठाणांग ७ उ० ३ सूत्र ५४५ टी०)
(धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लो० २२ टी० पृ० ४५)

५२०- पानैषणा के सात भेद

निर्दोष पानी लेने को पानैषणा कहते हैं। इसके भी पिंडैषणा की तरह सात भेद हैं।

(आचारांग श्रु० २ अ० १ उ० ११ सूत्र ६२)(ठाणांग ७ उ० ३ सूत्र ५४५ टी०)
(धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लो० २२ टी० पृ० ४५)

× हाथ बर्तन आदि खरड़े होने पर बाद में सचित्त पानी से धोने या भिक्षा देने के बाद आहार कम हो जाने पर और बनाने में पश्चात्कर्म दोष लगता है। इसलिए श्रावक को बाद में सचित्त पानी से हाथ बर्तन नहीं धोने चाहिए और न नई वस्तु बनानी चाहिए।

५२१—प्रमादप्रतिलेखना सात

वस्त्र पात्र आदि वस्तुओं के विधिपूर्वक दैनिक निरीक्षण को प्रतिलेखना कहते हैं। उपेक्षापूर्वक विधि का ध्यान रक्खे बिना प्रतिलेखना करना प्रमादप्रतिलेखना है। इसके तेरह भेद हैं। छः भेद बोल नं० ४४६ में दिये गए हैं। बाकी सात भेद नीचे दिये जाते हैं :—

(१) प्रशिथिल– वस्त्र को दृढ़ता से न पकड़ना।

(२) प्रलम्ब– वस्त्र को दूर रखकर प्रतिलेखना करना।

(३) लोल– जमीन के साथ वस्त्र को रगड़ना

(४) एकामर्षा– एक ही दृष्टि में तमाम वस्त्र का देख जाना।

(५) *अनेकरूपधूना– प्रतिलेखना करते समय शरीर या वस्त्र* को इधर उधर हिलाना।

(६) प्रमाद– प्रमादपूर्वक प्रतिलेखना करना।

(७) शंका– प्रतिलेखना करते समय शंका उत्पन्न हो तो अंगुलियों पर गिनने लगना और उससे उपयोग का चूक जाना (ध्यान कहीं से कहीं चला जाना)

(उत्तराध्ययन अध्ययन २६ गाथा २७)

५२२— स्थविर कल्प का क्रम

दीक्षा से लेकर अन्त तक जिस क्रम से साधु अपने चारित्र तथा गुणों की वृद्धि करता है, उसे कल्प कहते हैं। स्थविर कल्पी साधु के लिए इसके सात स्थान हैं। (१) प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा। (२) शिक्षापद–शास्त्रों का पाठ। (३) अर्थ-ग्रहण–शास्त्रों का अर्थ समझना। (४) अनियतवास अर्थात् देश देशान्तर में भ्रमण। (५) निष्पत्ति– शिष्य आदि को प्राप्त करना। (६) विहार–जिनकल्पी या यथालिन्दक कल्प अंगीकार करके विहार करना। (७) समाचारी– जिनकल्प

आदि की समाचारी का पालन करना।

पहिले पहिल गुणवान् गुरु को चाहिए कि सबसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर आलोचना देने के बाद विनीत शिष्य को विधि पूर्वक दीक्षा दे। दीक्षा लेने के बाद शिष्य का शिक्षा का अधिकार होता है। शिक्षा दो तरह की है-ग्रहण शिक्षा अर्थात् शास्त्र का अभ्यास और प्रतिसेवना शिक्षा अर्थात् पडिलेहणा आदि धार्मिक कृत्यों का संग्रह।

दीक्षा देने के बाद बारह वर्ष तक शिष्य को सूत्र पढ़ाना चाहिए। इसके बाद बारह वर्ष तक सूत्र का अर्थ समझाना चाहिए। जिस प्रकार हल, मरहट, या पानी से छूटा हुआ भूखा बैल पहिले स्वाद का अनुभव किए बिना अच्छा और बुरा सब घास निगल जाता है, फिर जुगाली करते समय स्वाद का अनुभव करता है। इसी प्रकार शिष्य भी सूत्र पढ़ते समय रस का अनुभव नहीं करता। अर्थ समझना प्रारम्भ करने पर ही उसे रस आने लगता है। अथवा जिस तरह किसान पहिले शाली वगैरह धान्य बोता है, फिर उसकी रखवाली करता है, फिर उसे काटकर चावल निकाल साफ करके अपने घर ले जाता है और निश्चिन्त हो जाता है। अगर वह ऐसा न करे तो उस का धान्य बोने का परिश्रम व्यर्थ चला जाता है। इसी प्रकार अगर शिष्य बारह साल तक सूत्र अध्ययन करके भी उसका अर्थ न समझे तो अध्ययन में किया हुआ परिश्रम वृथा हो जाता है। अतः सूत्र पढ़ने के बाद बारह साल तक अर्थ सीखना चाहिए।

ऊपर कहे अनुसार सूत्रार्थ जानने के बाद, अगर शिष्य आचार्य पद के योग्य हो तो उसे कम से कम दो दूसरे मुनियों के साथ ग्राम, नगर, सन्निवेश आदि में विहार कराके विविध देशों का परिचय कराना चाहिए। जो साधु आचार्य पद के लायक न

हो उसके लिए देशाटन का नियम नहीं है।

देशाटन से वह समकित में दृढ़ होता है। दूसरों को भी दृढ़ करता है। भिन्न भिन्न देशों में फिरने से अतिशय श्रुत ज्ञानी आचार्यों के दर्शन से सूत्रार्थ सम्बन्धी और समाचारी सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि होती है। भिन्न भिन्न देशों की भाषा और आचार का ज्ञान होता है। इससे वह अलग अलग देश में पैदा हुए शिष्यों को उनकी निजी भाषा में उपदेश दे सकता है। फिर वाद प्राप्त किए हुए शिष्यों को दीक्षा देता है। उन्हें अपनी उपसम्पदा अर्थात् नेसराय में रखता है। शिष्य भी यह समझ कर कि उनका गुरु आचार्य सब भाषाओं तथा आचार में कुशल है, उस में श्रद्धा रखते हैं। इस प्रकार आचार्य होने लायक साधु को बारह वर्ष तक अनियतवास करना चाहिए। बहुत से शिष्य प्राप्त होने के बाद आचार्य पद स्वीकार करके वह साधु अपना और दूसरों का उपकार करता है। लम्बी दीक्षा पालने के बाद वह अपने स्थान पर योग्य शिष्य को बैठा कर भगवान् के बताए हुए मार्ग पर विशेष रूप से अग्रसर होता है। यह अनुष्ठान दो प्रकार का है-

(१) संलेखना आदि करके भक्तपरिज्ञा, इंगिनी (इङ्गित) या पादपोपगमन अनुष्ठान के द्वारा मरण अंगीकार करे।

(२) जिनकल्प- परिहार विशुद्धि अथवा यथालंदिक कल्प अंगीकार करे। इन दोनों प्रकार के अनुष्ठानों में से प्रत्येक की समाचारी जान कर प्रवृत्ति करे।

पहिले प्रकार का अनुष्ठान करने वाला आचार्य, पक्षी जिस प्रकार अपने बच्चों की पालना करता है, उसी तरह शिष्यों को तैयार करके बारह वर्ष की संलेखना इस विधि से करे-

चार वर्ष तक बेला, तेला आदि विचित्र प्रकार का तप करे।

चार वर्ष दूध दही वगैरह विगय छोड़ कर तप करे। दो वर्ष तक एकान्तर से आयम्बिल करे। छः महीने तक तप करके मर्यादित आहार वाला आयम्बिल करे। दूसरे छः मास बेला तेला वगैरह कठिन तप कर। फिर एक वर्ष तक कोटी सहित तप करे। पहिले लिये हुए पच्चक्खान के पूरा हुए बिना ही दूसरा पच्चक्खान आरम्भ कर देना कोटि सहित तप है। इस प्रकार बारह वर्ष की संलेखना के बाद भक्तपरिज्ञा आदि करे या पर्वत की गुफा में जाकर पादपोपगमन करे।

दूसरे प्रकार का अनुष्ठान करने वाला साधु जिनकल्प वगैरह अंगीकार करता है। उस में पहिले पहले रात्रि के मध्य में वह यह विचारता है— विशुद्ध चारित्रानुष्ठान के द्वारा मैंने आत्महित किया है। शिष्य आदि का उपकार करके परहित भी किया है। गच्छ का सम्भालने की योग्यता रखने वाले शिष्य भी तैयार हो गये हैं। अब मुझे विशेष आत्महित करना चाहिए। यह सोचकर अगर स्वयं ज्ञान हो तो अपनी बची हुई आयु कितनी है, इस पर विचार करे। अगर स्वयं ज्ञान न हो तो दूसरे आचार्य को पूछकर निर्णय करे। इस निर्णय के बाद अगर अपनी आयुष्य कम मालूम पड़े तो भक्तपरिज्ञा आदि में से किसी एक मरण को स्वीकार करे। अगर आयुष्य कुछ अधिक मालूम पड़े और जंघाओं में बल क्षीण हो गया हो तो वृद्धवास (स्थिरवास) स्वीकार करले। अगर शक्ति ठीक हो तो जिनकल्प आदि में से कोई कल्प स्वीकार करे। अगर जिनकल्प स्वीकार करना हो तो पांच तुलनाओं से आत्मा को तोले अर्थात् जाँचे कि वह उसके योग्य है या नहीं। तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व, और बल ये पांच तुलनाएं हैं। जिनकल्प अंगीकार करने वाला प्रायः आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक में से कोई

होता है। इन सब को उपर्युक्त पाँच बातों से आत्मा की तुलना करनी चाहिए। कान्दर्पिकी, किल्विषिकी, आभियोगिकी, आसुरी और संमोहिनी इन पाँच भावनाओं को छोड़ दे। तुलना के लिये पाँच बातें नीचे लिखे अनुसार हैं।

(१) तप- क्षुधा (भूख) पर इस प्रकार विजय प्राप्त करे कि देवादि द्वारा दिये गये उपसर्ग के कारण अगर छः महीने तक आहार पानी न मिले तो भी दुखी (खेदित) न हो।

(२) सत्त्व- सत्त्वभावना से भय पर विजय प्राप्त करे। यह भावना पाँच प्रकार की है- (१) रात को जब सब साधु सो जाएँ तो अकेला उपाश्रय में कायोत्सर्ग करे। (२) उपाश्रय के बाहर रहकर कायोत्सर्ग करे। (३) चौक में रहकर कायोत्सर्ग करे। (४) शून्य घर में रह कर कायोत्सर्ग करे। (५) श्मशान में रहकर कायोत्सर्ग करे। इस प्रकार पाँच स्थानों पर कायोत्सर्ग करके सब प्रकार के भय पर विजय प्राप्त करे। यह सत्त्व भावना है।

(३) सूत्र भावना- सूत्रों को अपने नाम की तरह इस प्रकार याद करले कि उनकी आवृत्ति के अनुसार रात अथवा दिन में उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त वगैरह काल को ठीक ठीक जान सके अर्थात् समय का यथावत् ज्ञान कर सके।

(४) एकत्व भावना- अपने संघाड़े के साधुओं से आलाप संलाप, सूत्रार्थ, पूछना या बताना, सुख दुख पूछना, इत्यादि सारे पुराने सम्बन्धों को छोड़ दे। ऐसा करने से बाह्यसंबंध का मूल से नाश हो जाता है। इसके बाद शरीर उपधि आदि को भी अपने से भिन्न समझे। इस तरह सभी वस्तुओं से आसक्ति या ममत्व दूर हो जाता है।

(५) बल भावना- अपने बल अर्थात् शक्ति की तुलना करे। बल दो तरह का होता है- शारीरिक बल और मानसिक बल

जिनकल्प अङ्गीकार करने वाले साधु का शारीरिक बल साधारण व्यक्तियों से अधिक होना चाहिए। तपस्या आदि के कारण शारीरिक बल के कुछ क्षीण रहने पर भी मानसिक धैर्यबल इतना होना चाहिए कि बड़े से बड़े कष्ट आने पर भी उनसे घबराकर विचलित न हो।

ऊपर कही हुई पाँच भावनाओं से आत्मा को मजबूत बना कर गच्छ में रहते हुए भी जिनकल्प के समान आचरण रक्खे। हमेशा तीसरे पहर आहार करे। गृहस्थों द्वारा फैंकने योग्य मासुक मक्की के दाने या सूखे चने आदि रूक्ष आहार करे। संसृष्ट, असंसृष्ट, उद्धृत, अल्पलेप, उद्गृहीत, प्रगृहीत और उज्झितधर्म इन सात एषणाओं में से पहिले की दो छोड़कर बाकी किन्हीं दो एषणाओं का प्रतिदिन अभिग्रह अङ्गीकार करे। एक के द्वारा आहार ग्रहण करे और दूसरी के द्वारा पानी। इसके सिवाय भी दूसरे सभी जिनकल्प के विधानों पर चल कर आत्मा को शक्ति सम्पन्न बनावे। इसके बाद जिनकल्प ग्रहण करने की इच्छा वाला साधु संघ को इकट्ठा करे। संघ के अभाव में अपने गच्छ को तो अवश्य बुलावे। तीर्थङ्कर के पास, वे न हों तो गणधर के पास, उनके अभाव में चौदह पूर्वधारी के पास, वे भी न हों तो दस पूर्वधारी के पास और उनके भी अभाव में बड़ पीपल या अशोक वृक्ष के नीचे जाकर अपने स्थान पर बिठाए हुए आचार्य को पास रख सभी साधुओं को विशेष प्रकार से अपने से विरुद्ध साधु को इस प्रकार खमावे 'हे भगवन्! अगर कभी प्रमाद के कारण मैंने आपके साथ अनुचित बर्ताव किया हो तो शुद्ध हृदय से कषाय और शल्य रहित होकर क्षमा माँगता हूँ।' इसके बाद जिनकल्प लेने वाले साधु से दूसरे मुनि यथायोग्य वन्दना करते हुए खमाते हैं। इस तरह खमाने वाले को

निःशल्यत्व विनय मार्ग की उन्नति, एकत्व, लघुता और जिन कल्प में अप्रतिबन्ध ये गुण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सब को खमाकर अपने उत्तराधिकारी आचार्य तथा साधुओं को शिक्षा दे।

आचार्य को कहे—तुम्हें अब गच्छ का पालन करना चाहिए, तथा किसी बात में पक्षपात या प्रतिबन्ध नहीं रखना चाहिए। अन्त में तुम्हें भी मेरी तरह जिनकल्प आदि अंगीकार करना चाहिए। जैन शासन का यही क्रम है। जो साधु विनय के योग्य हों उनके आदर सत्कार में कभी आलस मत करना। सब के साथ योग्य बर्ताव करना। आचार्य को इस प्रकार कहने के बाद दूसरे मुनियों को कहे "यह आचार्य अभी छोटा है। ज्ञान दर्शन, और चारित्रादि में बराबर है या कम गुणवाला है ऐसा समझकर नये आचार्य का निरादर मत करना क्योंकि अब यह तुम्हारे द्वारा पूजन योग्य है।" यह कहकर जिनकल्पी साधु पंखवाले पक्षी की तरह अथवा बादलों से निकली हुई बिजली की तरह निकल जाय। अपने उपकरण लेकर समुदाय के साधुओं से निरपेक्ष होता हुआ वह महा-पुरुष धीर होकर चला जाय। गढ़ की गुफा में से निकले हुए सिंह की तरह गच्छ से निकला हुआ आचार्य जब दिखाई देना बन्द हो जाता है तो दूसरे साधु वापिस लौट आते हैं। जिनकल्प अंगीकार किया हुआ साधु एक महीने के लिए निर्वाह के योग्य क्षेत्र ढूँढ कर वहीं विचरे।

पहिले कही हुई सात एषणाओं में पहिली दो छोड़कर किन्हीं दो के अभिग्रह से लेप रहित आहार पानी ग्रहण करे। एषणादि कारण के बिना किसी के साथ कुछ न बोले। एक बस्ती में एक साथ अधिक से अधिक सात जिनकल्पी रहते हैं। वे भी एक दूसरे के साथ बातचीत नहीं करते। सभी

उपसर्ग और परीषहों को सहते हैं। रोग होने पर औषधि का सेवन नहीं करते। रोग से होने वाली वेदना शान्ति होकर सहते हैं। जहाँ मनुष्य अथवा तिर्यञ्च का न आना जाना हो न संलोक अर्थात् दृष्टि पड़ती हो वहीं मधुशाला या दीर्घशङ्का कर दूसरी जगह नहीं। जिनकल्पी साधु न अपने निवास स्थान से ममत्व रखते हैं न उनके लिए कोई परिकर्म विहित है। परिकर्म रहित स्थान में भी वे प्रायः खड़े रहते हैं अगर बैठते हैं तो उत्कुटुक आसन से ही बैठते हैं। पलाथी मार कर नहीं बैठते, क्योंकि उन के पास जमीन पर बिछाने के लिए आसन वगैरह कुछ नहीं होता। मार्ग में आते हुए उन्मत्त हाथी, व्याघ्र, सिंह आदि सामने आ जायें तो उन के भय से इधर उधर भाग कर ईर्यासमिति का भंग नहीं करते, सीधे चले जाते हैं। इत्यादि जिनकल्प की विधि शास्त्र में बताई गई है।

पूर्वोक्त दोनों प्रकार के कल्पों में श्रुत और संहनन वगैरह निम्न प्रकार से होने चाहिए। जिनकल्पी को कम से कम नवम पूर्व की तीसरी आचारवस्तु तक श्रुतज्ञान होना चाहिए। अधिक से अधिक कुछ कम दस पूर्व। वज्र की भीत के समान मजबूत शरीर वज्रऋषभनाराच संहनन होना चाहिए। कल्प अंगीकार करने वाले पन्द्रह कर्म भूमियों में ही होते हैं‡। देवता द्वारा हरण किए जाने पर अकर्म भूमि में भी पहुँच सकते हैं। उत्सर्पिणी काल में जिनकल्पी तीसरे और चौथे आरे में ही होते हैं। केवल जन्म के कारण दूसरे आरे में भी जन्म हो सकते हैं। अवसर्पिणी काल में जिनकल्प लेने वाले का जन्म तीसरे और चौथे आरे में ही होता है। आचार से

‡ परिहारविशुद्धि चारित्र वाले ही जिनकल्प धारण करते हैं और वे १५ कर्म में ही होते हैं महाविदेह में नहीं।

पाँचवें आरे में भी जिनकल्पी हो सकते हैं। महाविदेह क्षेत्र में संहरण होने पर तो सभी आरों में जिनकल्पी हो सकते हैं। जिनकल्प अङ्गीकार करने वाले साधु सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र में तथा जिनकल्प अङ्गीकार किए हुए साधु सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र में उपशम श्रेणी मांड कर तो हो सकते हैं लेकिन क्षपक श्रेणी मांडकर नहीं। अधिक से अधिक जिनकल्पी साधु दो सौ से लेकर नौ सौ तक होते हैं। जिन्होंने पहिले जिनकल्प अङ्गीकार कर लिया है ऐसे साधु अधिक से अधिक दो हजार से नौ हजार तक होते हैं। प्रायः वे अपवाद का सेवन नहीं करते। जंघाबल क्षीण होने पर भी आराधक होते हैं। इन में आवश्यिकी, नैषेधिकी, मिथ्या दुष्कृत, गृहिविषय पृच्छा और गृहिविषय उपसम्पदा पाँच समाचारियाँ होती हैं। इच्छा, मिच्छा आदि दूसरी समाचारियाँ नहीं होतीं। कुछ आचार्यों का मत है— जिनकल्पी के आवश्यिकी, नैषेधिकी और गृहस्थोपसंपत् ये तीन समाचारियाँ ही होती हैं, क्योंकि उद्यान में बसने वाले साधु के सामान्य रूप से पृच्छा आदि का सम्भव भी नहीं है।

यथालन्दिक कल्प की समाचारी संक्षेप से निम्नलिखित है। पानी से भीगा हुआ हाथ जितनी देर में सूखे उतने समय से लेकर पाँच रात दिन तक के समय को लन्द कहते हैं। यतना पूर्वक उल्लंघन किये बिना जो साधु विचरते हैं, अर्थात् एक स्थान पर अधिक से अधिक पाँच दिन ठहरते हैं, वे यथालन्दिक कहलाते हैं। इन्हें भी जिनकल्पी की तरह तप सत्त्व आदि भावनाएं सेवन करनी चाहिएं। इस कल्प को पाँच साधुओं की टोली स्वीकार करती है। वे भी गाँव के छः विभाग करते हैं। यथालन्दिक कम से कम पन्द्रह होते हैं और

अधिक से अधिक दो हजार से लेकर नौ हजार तक। जिन्होंने पहिले यह कल्प ले रक्खा है उस साधु की करोड़ से लेकर नौ करोड़ तक होते हैं। यथालन्दिक दो प्रकार के होते हैं- गच्छप्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध। नहीं जाने हुए श्रुत का अर्थ समझने के लिए जो साधु गच्छ में रहते हैं उन्हें गच्छप्रतिबद्ध कहते हैं। दोनों के फिर दो दो भेद हैं- जिनकल्पि यथालन्दिक और स्थविरकल्पियथालन्दिक। जो भविष्य में जिनकल्प अंगीकार करने वाले हैं वे जिनकल्पियथालन्दिक कहलाते हैं। जो बाद में स्थविरकल्प में आने वाले हों वे स्थविरकल्पियथालन्दिक कहते हैं। स्थविरकल्पियथालन्दिक गच्छ में रहकर सब परिकर्म करता है। तथा वस्त्र पात्र वाला होता है। भविष्य में जिनकल्पी होने वाला वस्त्र पात्र ‡ नहीं रखते तथा परिकर्म भी नहीं करते। वे शरीर की प्रतिचर्या नहीं करते, आँख का मैल नहीं निकालते। रोग आने पर कष्ट सहते हैं, इलाज नहीं करवाते। यह यथालन्दिक की समाचारी है। विशेष विस्तार बृहत्कल्पादि में है।

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा ७)

५२३- छद्मस्थ जानने के सात स्थान

सात बातों से यह जाना जा सकता है कि अमुक व्यक्ति छद्मस्थ है अर्थात् केवली नहीं है।

(१) छद्मस्थ प्राणातिपात करने वाला होता है। उससे जानते अजानते कभी न कभी हिंसा हो जाती है। चारित्र मोहनीय के कारण चारित्र का वह पूर्ण पालन नहीं कर पाता।

(२) छद्मस्थ से कभी न कभी असत्य वचन बोला जा सकता है।

(३) छद्मस्थ से अदत्तादान का सेवन भी हो जाता है।

‡ यदि छिद्रपाणि हो तो पात्र तथा वस्त्र रखते भी हैं।

(४) छद्मस्थ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध का रागपूर्वक सेवन कर सकता है।
(५) वस्त्रादि के द्वारा अपने पूजा सत्कार का वह अनुमोदन करता है अर्थात् पूजा सत्कार होने पर प्रसन्न होता है।
(६) छद्मस्थ आधाकर्म आदि को सावद्य जानते हुए और कहते हुए भी उनका सेवन करने वाला होता है।
(७) साधारणतया वह कहता कुछ है और करता कुछ है।
इन सात बातों से छद्मस्थ पहिचाना जा सकता है।

(ठाणांग ७ उ १ सूत्र ५५)

५२४– केवली जानने के सात स्थान

ऊपर कहे हुए छद्मस्थ पहिचानने के बोलों से विपरीत सात बोलों से केवली पहिचाने जा सकते हैं। केवली हिंसादि से सर्वथा रहित होते हैं।

केवली के चारित्र मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है, उनका संयम निरतिचार होता है, मूल और उत्तर गुण सम्बन्धी दोषों का वे प्रतिसेवन नहीं करते। इसलिए वे उक्त सात बोलों का सेवन नहीं करते।

(ठाणांग ७ उ १ सूत्र ५५)

५२५ छद्मस्थ सात बातें जानता और देखता नहीं है

सात बातों को छद्मस्थ सम्पूर्ण रूप से न देख सकता है न जान सकता है। (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) शरीर रहित जीव, (५) शरीर से अस्पृष्ट (बिना छूआ) परमाणुपुद्गल, (६) अस्पृष्ट शब्द और (७) अस्पृष्ट गन्ध।

केवली इन्हीं को अच्छी तरह जान और देख सकता है।

(ठाणांग ७ उ १ सूत्र ५५७)

५२६- अनुयोग के निक्षेप सात

व्याख्या- अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक ये पाँच अनुयोग के पर्याय शब्द हैं। सूत्र का अर्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ना अनुयोग है। अथवा सूत्र का अपने अभिधेय (कही जाने वाली वस्तु) के अनुकूल योग अथवा व्यापार, जैसे घट शब्द घड़े रूप पदार्थ का वाचक है, यहाँ घट शब्द का अर्थ के अनुरूप होना। अथवा सूत्र को अणु कहते हैं, क्योंकि संसार में वस्तुएं या अर्थ अनन्त हैं। उनकी अपेक्षा सूत्र अणु अर्थात् अल्प है। अथवा पहिले तीर्थङ्करों द्वारा 'उप्पन्नेइ वा' इत्यादि त्रिपदि रूप अर्थ कहने के बाद गणधर उस पर सूत्रों की रचना करते हैं इसलिए सूत्र पीछे बनता है। कवि भी पहिले अपने हृदय में अर्थ को जमाकर फिर काव्य की रचना करते हैं। इस प्रकार अर्थ के पीछे होने के कारण भी सूत्र अणु है। उस सूत्र का अपने अभिधेय के साथ सम्बद्ध होने का व्यापार अथवा सूत्र के साथ अभिधेय का सम्बन्ध अनुयोग है।

इस अनुयोग का सात प्रकार से निक्षेप होता है। किसी बात की व्याख्या करने के लिए उसके अलग अलग पहलुओं की सूची बनाने के क्रम को निक्षेप कहते हैं।

अनुयोग सात प्रकार का है—

(१) नामानुयोग- इन्द्र आदि नामों की व्याख्या का, अथवा जिस वस्तु का नाम अनुयोग हो, या वस्तु का नाम के साथ योग अर्थात् सम्बन्ध नामानुयोग है। जैसे दीपक रूप वस्तु का दीप शब्द के साथ, सूर्य का सूर्य शब्द के साथ तथा अग्नि का अग्नि शब्द के साथ सम्बन्ध।

(२) स्थापनानुयोग- इसकी व्याख्या भी नामानुयोग की तरह ही है। काठ वगैरह में किसी महापुरुष या हाथी आदि

वगैरह की कल्पना कर लेना भी स्थापनानुयोग है।
(३) द्रव्यानुयोग– द्रव्य का व्याख्यान, द्रव्य में द्रव्य के लिए अथवा द्रव्य द्वारा अनुकूल सम्बन्ध, द्रव्य का पर्याय के साथ योग्य सम्बन्ध द्रव्यानुयोग है। अथवा जो बात बिना उपयोग के कही जाती है उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। इसकी व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है।

द्रव्य के व्याख्यान को भी द्रव्यानुयोग कहते हैं। भूमि आदि अधिकरण पर पड़े हुए द्रव्य का भूतल के साथ सम्बन्ध, कारणभूत द्रव्य के द्वारा पत्थरों में परस्पर अनुकूल सम्बन्ध, इमली वगैरह खट्टे द्रव्य के कारण वस्त्र वगैरह में लाल, पीला आदि रंग की पर्याय विशेष का सम्बन्ध, शिष्यरूप द्रव्य को बोध प्राप्त कराने के लिए तदनुरूप योग अर्थात् व्यापार, इस प्रकार अनेक तरह का द्रव्यानुयोग जानना चाहिए। द्रव्यों द्वारा द्रव्यों का, द्रव्यों के लिए अथवा द्रव्यों का पर्याय के साथ, कारणभूत द्रव्यों द्वारा अनुरूप वस्तुओं के साथ सम्बन्ध या अनुयोग सहित अनुयोग की प्ररूपणा द्रव्यानुयोग है।
(४) क्षेत्र, (५) काल (६) वचन, और (७) भाव अनुयोग भी इसी तरह समझ लेना चाहिए।

(विशेषावश्यकभाष्य गाथा ११८६–११९२)

५२७-द्रव्य के सात लक्षण

(१) जो नवीन पर्याय को प्राप्त करता है और प्राचीन पर्याय को छोड़ता है उसे द्रव्य कहते हैं। जैसे मनुष्य गति से देवलोक में गया हुआ जीव मनुष्य रूप पर्याय को छोड़ता है और देव रूप पर्याय को प्राप्त करता है इसलिए जीव द्रव्य है।
(२) जो पर्यायों द्वारा प्राप्त किया जाता है और छोड़ा जाता है। ऊपर वाले उदाहरण में जीवरूप द्रव्य मनुष्य पर्याय द्वारा

छोड़ा गया है और देव पर्याय द्वारा प्राप्त किया गया है। दो वस्तुओं के मिलने या अलग होने पर दोनों के लिए मिलने या छोड़ने का व्यवहार किया जा सकता है। जैसे क और ख के आपस में मिलने पर यह भी कहा जा सकता है कि क ख से मिला और यह भी कहा जा सकता है कि ख क से मिला। अलग होने पर भी ख ने क को छोड़ा या क ने ख को छोड़ा दोनों तरह कहा जा सकता है। इसी तरह द्रव्य पर्यायों को प्राप्त करता और छोड़ता है और पर्याय द्रव्य को प्राप्त करते तथा छोड़ते हैं। पहिली विवक्षा के अनुसार पहला लक्षण है और दूसरी के अनुसार दूसरा।

(३) सत्ता के अवयव को द्रव्य कहते हैं। जितने पदार्थ हैं वे सभी सत् अर्थात् विद्यमान हैं। इसलिए सभी सत्ता वाले हैं। द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भिन्न भिन्न विवक्षाओं से ये सभी सत् के भेद या अवयव हैं।

(४) सत्ता के विकार को द्रव्य कहते हैं, क्योंकि सभी घट पटादि द्रव्य महासामान्यात्मक सत् के विकार हैं। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों को यद्यपि किसी का विकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे नित्य हैं, तो भी पर्याय और द्रव्य का तादात्म्य (एकरूपता) होने से द्रव्य भी पर्यायरूप है। इस हालत में द्रव्य विकाररूप हो सकता है। सत्ता के विकार भी सत्ता सत्तावान का अभेद मान कर ही कहा जा सकता है क्योंकि महासामान्य रूप सत्ता का कोई अलग रूप नहीं है। कथंचित्तादात्म्य से सत् अर्थात् सत्तावान् का सामान्य समझ कर यह कहा गया है।

(५) रूप रसादि या ज्ञान, दर्शनादि गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने अन्दर रहे हुए गुणों का समूह है।

(६) जो भविष्यत् पर्याय के योग्य होता है अर्थात् उसे प्राप्त

करता है उसे द्रव्य कहते हैं।
(७) जिसमें भूत पर्याय की योग्यता हो उसे भी द्रव्य कहते हैं। भविष्य में राजा की पर्याय प्राप्त करने के योग्य राजकुमार को भावी राजा कहा जाता है, उसे द्रव्य राजा भी कह सकते हैं। इसी तरह पहले जिस घड़े में घी रक्खा था, अब घी निकाल लेने पर भी घी का घड़ा कहा जाता है क्योंकि उस में पूर्व पर्याय की योग्यता है। इस तरह भूत या भावी पर्याय के जो योग्य होता है उसे द्रव्य कहते हैं। पुद्गलादि अपनी प्रायः सभी पर्यायों को प्राप्त कर चुके हैं, जो बाकी हैं उन्हें भविष्य में प्राप्त कर लेंगे। इसी लिए इन्हें द्रव्य कहा जाता है। अगर भूत या भविष्य किसी एक पर्याय वाले को ही द्रव्य कहा जाय तो पुद्गलादि की गिनती द्रव्यों में न हो।

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा २८)

५८८-चक्रवर्ती के पञ्चेन्द्रिय रत्न सात

प्रत्येक चक्रवर्ती के पास सात पञ्चेन्द्रिय रत्न होते हैं, अर्थात् सात पञ्चेन्द्रिय जीव ऐसे होते हैं जो अपनी अपनी जाति में सब से श्रेष्ठ होते हैं। वे इस प्रकार हैं- (१) सेनापति, (२) गाथापति अर्थात् सेठ या गृहपति (कोठारी), (३) वर्द्धकी अर्थात् सूत्रधार (बढ़ई), (४) पुरोहित- शान्ति वगैरह कर्म कराने वाला (५) स्त्री, (६) अश्व, (७) हाथी।

(ठाणांग ७ सूत्र ५५८)

५८९ चक्रवर्ती के एकेन्द्रिय रत्न सात

प्रत्येक चक्रवर्ती के पास सात एकेन्द्रियरत्न होते हैं—
(१) चक्र रत्न, (२) छत्र रत्न, (३) चमर रत्न, (४) दण्ड रत्न, (५) असि रत्न, (६) मणि रत्न, और (७) काकिणी रत्न।
ये भी अपनी अपनी जाति में वीर्य्य से बढ़िया होते हैं रत्न

कहे जाते हैं। सभी पार्थिव अर्थात् पृथ्वी रूप ज्ञान से एकेन्द्रिय हैं।
(ठाणांग ७ उ० ३ सूत्र ५४८)

५३०- संहरण के अयोग्य सात

सात व्यक्तियों को कोई भी राग या द्वेष के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान नहीं ले जा सकता।

(१) श्रमणी-शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करने वाली साध्वी। इसमें सतीत्व अथवा ब्रह्मचर्य का भङ्ग होने से कोई भी संहरण नहीं कर सकता अर्थात् जबर्दस्ती इधर उधर नहीं ले जा सकता।
(२) जिसमें वेद अर्थात् किसी तरह की विषय भोग सम्बन्धी अभिलाषा न रही हो, अर्थात् शुद्ध ब्रह्मचारी को।
(३) जिसने पारिहारिक तप अंगीकार किया हो।
(४) पुलाकलब्धि वाले को।
(५) अप्रमत्त अर्थात् प्रमादरहित संयम का पालन करने वाले को।
(६) चौदह पूर्वधारी को।
(७) आहारक शरीर वाले को।

इन सातों को कोई भी जबर्दस्ती इधर उधर नहीं ले जा सकता।
(प्रश्नव्याकरणसूत्र ५ सू० १ गा० १ १२)

५३१-आयुर्भेद सात

बांधी हुई आयुष्य बिना पूरी किए बीच में ही मृत्यु हो जाना आयुर्भेद है। यह सोपक्रम आयुष्य वाले के ही होता है। इसके सात कारण हैं।

(१) अज्झवसाण -अध्यवसान अर्थात् राग, स्नेह या भय रूप प्रबल मानसिक आघात होने पर बीच में ही आयु टूट जाती है।
(२) निमित्त- शस्त्र, दण्ड आदि का निमित्त पाकर।
(३) आहार- अधिक भोजन कर लेने पर।
(४) वेदना- शूल या शूल वगैरह की असह्य वेदना होने पर।

५३३ भयस्थान सात

मोहनीय कर्म की प्रकृति के उदय से पैदा हुए आत्मा के परिणामविशेष को भय कहते हैं। इस में प्राणी डरने लगता है। भय के कारणों को भयस्थान कहते हैं। ये सात हैं। भय की अवस्था वास्तविक घटना होने से पहिले उसकी सम्भावना से पैदा होती है। भयस्थान सात इस प्रकार हैं —

(१) इहलोकभय– अपनी ही जाति के प्राणी से डरना इहलोक भय है। जैसे मनुष्य का मनुष्य से, देव का देव से, तिर्यञ्च का तिर्यञ्च से और नारकी का नारकी से डरना।

(२) परलोक भय– दूसरी जाति वाले से डरना परलोकभय है। जैसे मनुष्य का तिर्यञ्च या देव से अथवा तिर्यञ्च का देव या मनुष्य से डरना परलोक भय है।

(३) आदानभय– धन की रक्षा के लिए चोर आदि से डरना।

(४) अकस्माद्भय– बिना किसी बाह्य कारण के अचानक डरने लगना अकस्माद्भय है।

(५) वेदनाभय– पीड़ा से डरना।

(६) मरणभय– मरने से डरना।

(७) अश्लोकभय– अपकीर्ति से डरना।

(ठाणांग ७ उ० ३ सूत्र ५४९) (समवायांग ७ वाँ)

५३४— दुषमाकाल जानने के स्थान सात

अवसर्पिणी काल का दूसरा आरा तथा उत्सर्पिणी का पाँचवा आरा दुषमा काल कहलाता है। यह इक्कीस हजार वर्ष तक रहता है। सात बातों से यह जाना जा सकता है कि अब दुषमा काल शुरू होने वाला है या सात बातों से दुषमा काल का प्रभाव जाना जाता है। दुषमा काल आने पर— (१) अकालवृष्टि होती है। (२) वर्षाकाल में जिस समय

वर्षा की आवश्यकता होती है उस समय नहीं बरसता। (३) असाधु पूजे जाते हैं। (४) साधु और सज्जन पुरुष सन्मान नहीं पाते। (५) माता पिता और गुरुजन का विनय नहीं रहता। (६) लोग मन से अप्रसन्न अथवा वैमनस्य वाले हो जाते हैं। (७) कड़वे या द्वेष पैदा करने वाले वचन बोलते हैं।

(ठाणांग ७ उ० ३ सूत्र ५५८)

५३५-सुषमा काल जानने के स्थान सात

सात बातों से सुषमा काल का आगमन या उसका प्रभाव जाना जाता है। अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा तथा उत्सर्पिणी का पाँचवा आरा सुषमा कहलाता है। यह काल तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहता है। सुषमा काल आने पर (१) अकालवृष्टि नहीं होती। (२) हमेशा ठीक समय पर वर्षा होती है। (३) असाधु (असंयती) या दुष्ट मनुष्यों की पूजा नहीं होती। (४) साधु और सज्जन पुरुष पूजे जाते हैं। (५) माता पिता आदि गुरुजन का विनय होता है। (६) लोग मन में प्रसन्न तथा प्रेम भाव वाले होते हैं। (७) मीठे और दूसरे को आनन्द देने वाले वचन बोलते हैं।

(ठाणांग ७ उ० ३ सूत्र ५५६)

५३६-जम्बूद्वीप में वास सात

मनुष्यों के रहने के स्थान को वास कहते हैं। जम्बूद्वीप में चुल्लहिमवन्त, महाहिमवन्त आदि पर्वतों के बीच में आ जाने के कारण सात वास या क्षेत्र हो गए हैं।

उनके नाम इस प्रकार हैं-(१) भरत, (२) हैमवत, (३) हरि, (४) विदेह, (५) रम्यक, (६) हैरण्यवत और (७) ऐरावत। भरत से उत्तर की तरफ हैमवत क्षेत्र है। उससे उत्तर की तरफ हरि इस तरह सभी क्षेत्र पहिले पहिले से उत्तर की तरफ

हैं। व्यवहार नय की अपेक्षा सब दिशाओं का निश्चय किया जाता है अर्थात् जिधर सूर्योदय हो उसे पूर्व कहा जाता है। तो ये सभी क्षेत्र मेरु पर्वत से दक्षिण की तरफ हैं। यद्यपि ये एक दूसरे से विरोधी दिशाओं में हैं फिर भी सूर्योदय की अपेक्षा ऐसा कहा जाता है। निश्चय नय से आठ रुचक प्रदेशों की अपेक्षा दिशाओं का निश्चय किया जाता है, तब ये क्षेत्र भिन्न भिन्न दिशाओं में कहे जाएंगे।

(ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५५५) (समवायांग ७)(तत्त्वार्थ अध्याय ३ सूत्र १)

५३७-वर्षधर पर्वत सात

ऊपर लिखे हुए सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले सात वर्षधर पर्वत हैं- (१) क्षुल्लहिमवान्, (२) महाहिमवान, (३) निषध, (४) नीलवान्, (५) रुक्मी, (६) शिखरी (७) मन्दर।

(ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५५५) (समवायांग)

५३८—महानदियाँ सात

जम्बूद्वीप में सात महानदियाँ पूर्व की तरफ लवण समुद्र में गिरती हैं। (१) गंगा (२) रोहिता, (३) हरि, (४) सीता, (५) नारी, (६) सुवर्णकूला और (७) रक्ता।

(ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५५५)

५३९— महानदियाँ सात

सात महानदियाँ पश्चिम की तरफ लवण समुद्र में गिरती हैं–(१) सिन्धु, (२) रोहितांशा, (३) हरिकान्ता, (४) सीतोदा, (५) नरकान्ता, (६) रूप्यकूला, (७) रक्तवती।

(ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५५५)

५४०—स्वर सात

स्वर सात हैं। यद्यपि सचेतन और अचेतन पदार्थों में होने वाले स्वर भेद के कारण स्वरों की संख्या अगणित हो सकती है तथापि स्वरों के प्रकार भेद के कारण उनकी संख्या

सात ही हैं अर्थात् ध्वनि के मुख्य सात भेद हैं। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, रैवत या धैवत और निषाद।

(१) नाक, कंठ, छाती, तालु, जीभ और दाँत इन छः स्थानों के सहारे से पैदा होने वाले स्वर को षड्ज कहा जाता है।

(२) जब वायु नाभि से उठकर कंठ और मूर्धा से टकराता हुआ ऋषभ की तरह शब्द करता है तो उस स्वर को ऋषभ स्वर कहते हैं।

(३) जब वायु नाभि से उठकर हृदय और कण्ठ से टकराता हुआ निकलता है तो उसे गान्धार कहते हैं। गन्ध से भरा होने के कारण इसे गान्धार कहा जाता है।

(४) नाभि से उठकर जो शब्द हृदय से टकराता हुआ फिर नाभि में पहुँच जाता है और अन्दर ही अन्दर गूँजता रहता है उसे मध्यम कहते हैं।

(५) नाभि, हृदय, छाती, कण्ठ और सिर इन पाँच स्थानों में उत्पन्न होने वाले स्वर का नाम पंचम है अथवा षड्जादि स्वरों की गिनती में यह पाँचवाँ होने से पंचम कहलाता है।

(६) धैवत स्वर बाकी के सब स्वरों का सम्मिश्रण है। इसका दूसरा नाम रैवत है।

(७) तम होने से निषाद दूसरे सब स्वरों को दबा देता है। इसका देवता सूर्य है। इन सातों स्वरों के सात स्थान हैं। यद्यपि प्रत्येक स्वर कंठ ताल्वादि कई स्थानों की सहायता से पैदा होता है तथापि जिस स्वर में जिस स्थान की अधिक अपेक्षा है वही उसका विशेष स्थान माना गया है।

(१) षड्ज जिह्वा के अग्रभाग से पैदा होता है। (२) ऋषभ वक्षस्थल से। (३) गांधार-कण्ठ से। (४) मध्यम-जिह्वा के मध्यभाग से। (५) पंचम-नाक से। (६) रैवत दाँत और ओठ

के संयोग से। (७) निषाद् भौंहें चढ़ाकर तेमी से बोला जाता है। ये सातों स्वर अलग २ माणी से पैदा होते हैं। (अनु.सू. १२७गा २१ ७

मोर का स्वर षड्ज होता है। कुक्कुट का ऋषभ, हंस का गांधार, गाय और भेड़ों का मध्यम। वसंत ऋतु में कोयल का स्वर पंचम होता है। सारस और क्रौंच पक्षी रैवत स्वर में बोलते हैं। हाथी का स्वर निषाद होता है। (अनु.सू.१२७गा १८ १६)

अचेतन पदार्थों से भी ये सातों स्वर निकलते हैं। (१) ढोल से षड्ज स्वर निकलता है। (२) गोमुखी (एक तरह का बाजा) से ऋषभ स्वर निकलता है। (३) शंख से गांधार स्वर उत्पन्न होता है। (४) झल्लरी से मध्यम। (५) तबले से पंचम स्वर निकलता है। (६) नगाड़े से धैवत। (७) महाभेरी से निषाद। इन सातों स्वरों के सात फल हैं। अनु.सू.१२७गा.१ ११

षड्ज स्वर से मनुष्य आजीविका को प्राप्त करता है। उसके किये हुए काम व्यर्थ नहीं जाते। गौएँ, पुत्र और मित्र प्राप्त होते हैं। वह पुरुष स्त्रियों का प्रिय होता है। ऋषभ स्वर से ऐश्वर्य, सेना, सन्तान, धन, वस्त्र, गंध, आभूषण, स्त्रियाँ और शयन प्राप्त होते हैं। गान्धार स्वर को गाने की कला को जानने वाले श्रेष्ठ आजीविका वाले, प्रसिद्ध कवि और दूसरी कलाओं तथा शास्त्रों के पारगामी हो जाते हैं। मध्यम स्वर से मनुष्य खाता पीता और सुखी जीवन प्राप्त करता है। पंचम स्वर वाला पुरुष पृथ्वीपति शूरवीर, संग्रह करने वाला और अनेक गुणों का नायक बनता है। रैवत स्वर वाला व्यक्ति दुःखी जीवन, पग पग नीच आजीविका, नीच जाति तथा अनार्य देश को प्राप्त करता है। वह नर चोर, चिड़ीमार, फाँसी डालने वाले, शूकर के शिकारी या मल्लयुद्ध करने वाले होते हैं। निषाद स्वर वाले लोग झगड़ालू, पैदल चलने वाले, पत्र ले जाने वाले [illegible] और घूमने वाले होते हैं।

(अनु सू १२७गा ३२ ३८)

इन सातों स्वरों के तीन ग्राम हैं। षड्जग्राम मध्यमग्राम और गान्धारग्राम। प्रत्येक की सात सात मूर्छनाएं हैं- (१) मंगी, (२) कौरवीया (३) हरिता (४) रजनी (५) सारकान्ता, (६) सारसी (७) शुद्धषड्जा। (१) उत्तरमन्दा (२) रजनी (३) उत्तरा (४) उत्तरायता, (५) अश्वक्रान्ता (६) सौवीरा (७) अभिरुद्गता। (१) नन्दी, (२) क्षुद्रिका, (३) पूरिमा (४) शुद्धगान्धारा (५) उत्तरगान्धारा (६) सुष्ठुतर आयामा और (७) उत्तरायता कोटिमा।

इन के स्थान में अनुयोगद्वार सूत्र में नीचे लिखी मूर्छनाएं हैं —

मंगी कोरवीया हरिया रयणी य सारकन्ता य।
छट्ठी य सारसीनाम सुद्धसज्जा य सत्तमा ॥ ३९ ॥
उत्तरमंदा रयणी उत्तरा उत्तरासमा।
समोक्कंता य सोवीरा, अभिरुया होइ सत्तमा ॥४०॥
नन्दी य खुड्डिमा पूरिमा य चउत्थी य सुद्धगन्धारा।
उत्तरगन्धारा वि य सा पंचमिया हवइ मुच्छा ॥४१॥
सुट्ठुत्तरमायामा सा छट्ठी सव्वओ य णायव्वा।
अह उत्तरायया कोडिमा य सा सत्तमी मुच्छा ॥४२॥

(अनु पृष्ठ १२८) (संगीत रत्नाकर) (हिन्दी विश्वकोष मूर्छना शब्द (संगीत शास्त्र)

गान की उत्पत्ति उसका सजातीय समय और आकार सातों स्वर नाभि से उत्पन्न होते हैं। रुदन इनका सजातीय है। किसी कविता की एक कड़ी उसका सांस है। आरम्भ में मृदु मध्य में तीव्र और अन्त में मन्द यही गीत के तीन आकार हैं।

संगीत के छः दोष हैं—(१) भीत-डरते हुए गाना। (२) द्रुत-जल्दी जल्दी गाना। (३) उप्पिच्छ-सांस से लेकर जल्दी जल्दी गाना अथवा शब्दों को छोटे बना कर गाना। (४) उत्ताल-ताल से आगे बढ़ कर या आगे पीछे ताल देकर गाना। (५) काकस्वर-कौए की तरह कर्णकटु और अस्पष्ट स्वर से गाना। (६) अनुनास-नाक से गाना। (अनु सू १२७ गा ४७) संगीत के आठ गुण हैं-

(१) पूर्ण-स्वर आरोह अवरोह आदि से पूर्ण गाना। (२) रक्त-गाए जाने वाले राग से अच्छी तरह परिष्कृत। (३) अलंकृत-दूसरे दूसरे स्पष्ट और शुभ स्वरों से मण्डित। (४) व्यक्त-अक्षर और स्वरों की स्पष्टता के कारण स्फुट। (५) अविघुष्ट-रोने की तरह जहां स्वर बिगड़ने न पावे उसे अविघुष्ट कहते हैं। (६) मधुर-बसन्त ऋतु में मतवाली कोयल के शब्द की तरह मधुर। (७) सम-ताल वंश आदि स्वर वगैरह से ठीक नपा हुआ।

(८) सुललित– आलाप के कारण जिसकी लय बहुत कोमल बन गई हो उसे सुललित कहते हैं। संगीत में उपरोक्त गुणों का होना आवश्यक है। इन गुणों के बिना संगीत केवल विडम्बना है। इनके सिवाय और भी संगीत के बहुत से गुण हैं। (१) उरोविशुद्ध जो स्वर वक्षस्थल में विशुद्ध हो उसे उरोविशुद्ध कहते हैं। (२) कण्ठविशुद्ध– जो स्वर गले में फटने न पावे और स्पष्ट तथा कोमल रहे उसे कण्ठविशुद्ध कहते हैं। (३) शिरोविशुद्ध–मूर्धा को प्राप्त होकर भी जो स्वर नासिका से मिश्रित नहीं होता उसे शिरोविशुद्ध कहते हैं। छाती कण्ठ और मूर्धा में श्लेष्म या चिकनाहट के कारण स्वर स्पष्ट निकलता है और बीच में नहीं टूटता, इसी को उरोविशुद्ध, कण्ठविशुद्ध और शिरोविशुद्ध कहते हैं। (४) मृदुक– जो राग मृदु अर्थात् कोमल स्वर से गाया जाता है उसे मृदुक कहते हैं। (५) रिङ्गित– जहाँ आलाप के कारण स्वर खेल सा कर रहा हो उसे रिङ्गित कहते हैं। (६) पदबद्ध–गाए जाने वाले पदों की जहाँ विशिष्ट रचना हो उसे पदबद्ध कहते हैं। (७) समताल प्रत्युत्क्षेप—जहाँ नर्तकी का पादनिक्षेप और ताल वगैरह सब एक दूसरे से मिलते हों उन्हें समताल प्रत्युत्क्षेप कहते हैं।

सप्त स्वर सीभर– जहाँ सातों स्वर अक्षर वगैरह से मिलान खाते हों उसे सप्त स्वर सीभर कहते हैं। वे अक्षरादि सात हैं। (१) अक्षरसम–जहाँ ह्रस्व की जगह ह्रस्व, दीर्घ की जगह दीर्घ, प्लुत के स्थान पर प्लुत और सानुनासिक की जगह सानुनासिक अक्षर बोला जाय उसे अक्षरसम कहते हैं। (२) पदसम–जहाँ पदविन्यास राग के अनुकूल हो। (३) तालसम–जहाँ हाथ पैर आदि का हिलाना ताल के अनुकूल हो। (४) लयसम–सींग, लकड़ी वगैरह किसी वस्तु के द्वारा बने हुए अंगुली के परिधान द्वारा ताड़ित होने पर वीणा से लय उत्पन्न होता है। उस लय

के अनुसार जिस स्वर से गाया जाय उसे तालसम कहते हैं। (५) ग्रहसम- बांसुरी या सितार वगैरह का स्वर सुनकर उसी के अनुसार जब गाया जाय तो उसे ग्रहसम कहते हैं। ६) निःश्वसितोच्छ्वसितसम- जहां सांस लेने और बाहर निकालने का क्रम बिल्कुल ठीक हो उसे निःश्वसितोच्छ्वसितसम कहते हैं। (७) संचारसम- बांसुरी या सितार वगैरह के साथ साथ जो गाया जाता है उसे संचारसम कहते हैं। संगीत का प्रत्येक स्वर अक्षरादि सातों से मिलकर सात प्रकार का हो जाता है।

गीत के लिए बनाये जाने वाले पद्य में आठ गुण होने चाहिए। (१) निर्दोष (बत्तीस दोष रहित) (२) सारवत्, (३) हेतुयुक्त, (४) अलंकृत, (५) उपनीत, (६) सोपचार, (७) मित और (८) मधुर। इनकी व्याख्या आठवें बोल में दी जायगी।

वृत्त अर्थात् छन्द तीन तरह का होता है-सम, अर्द्धसम और विषम। (१) जिस छन्द के चारों पाद के अक्षरों की संख्या समान हो उसे सम कहते हैं। (२) जिसमें पहला और तीसरा दूसरा और चौथा पाद समान संख्या वाले हों उसे अर्द्धसम कहते हैं। (३) जिसमें किसी भी पाद की संख्या एक दूसरे से न मिलती हो उसे विषम कहते हैं।

संगीत की दो भाषाएं हैं-संस्कृत और प्राकृत। संगीत कला में स्त्री का स्वर प्रशस्त माना गया है। गौरवर्णा स्त्री मीठा गाती है। काली कठोर और रूखा, श्यामा चतुरता पूर्वक गाती है। काणी ठहर ठहर कर, अन्धी जल्दी जल्दी, पीले रंग की स्त्री खराब स्वर में गाती है।

सात स्वर, तीन ग्राम और इक्कीस मूर्च्छनाएं हैं। प्रत्येक स्वर सात तानों के द्वारा गाया जाता है इसलिए सातों स्वरों के ४९ भेद हो जाते हैं। (अनु सू १२७ गा २५ २६) (ठा० ७ उ०३ सू० ५५३)

५४१—चमरेन्द्र की सेना तथा सेनापति

चमरेन्द्र की सात प्रकार की सेना है और सात सेनापति हैं।

(१) पादातानीक—पैदल सेना। द्रुमसेनापति।
(२) पीठानीक—अश्वसेना। सौदामिन् अश्वराज सेनापति।
(३) कुञ्जरानीक—हाथियों की सेना। कुन्थु हस्तिराज सेनापति।
(४) महिषानीक—भैंसों की सेना। लोहिताक्ष सेनापति।
(५) रथानीक—रथों की सेना। किन्नर सेनापति।
(६) नाट्यानीक—खेल तमाशा करने वालों की सेना। अरिष्ट सेनापति।
(७) गन्धर्वानीक—गीत, वाद्य आदि में निपुण व्यक्तियों की सेना। गीतरति सेनापति।

इसी प्रकार बलीन्द्र, वैरोचनेन्द्र आदि की भी भिन्न भिन्न सेनाएं तथा सेनापति हैं। इनका विस्तार ठाणांग सूत्र में है।

(ठाणांग ७ उ० १ सूत्र ५८२)

५४२—मूल गोत्र सात

किसी महापुरुष से चलने वाली मनुष्यों की सन्तानपरम्परा को गोत्र कहते हैं। मूल गोत्र सात हैं—

(१) काश्यप—भगवान् मुनिसुव्रत और नमिनाथ को छोड़ कर बाकी तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, सातवें गणधर से लेकर गणधर तथा जम्बूस्वामी आदि इसी गोत्र के थे।
(२) गौतम—बहुत से क्षत्रिय, भगवान मुनिसुव्रत और नमिनाथ, नारायण और पद्म को छोड़कर बाकी सभी वासुदेव और वासुदेव, इन्द्रभूति आदि तीन गणधर और वैरस्वामी गौतम गोत्री थे।
(३) वत्स—इस गोत्र में शय्यम्भवस्वामी हुए हैं।
(४) कुत्सा—इसमें शिवभूति वगैरह हुए हैं।
(५) कौशिक—षडुलूक वगैरह।

(६) मण्डव-मण्डु की सन्तानपरम्परा से चलने वाला गोत्र।
(७) वाशिष्ठ-वशिष्ठ की सन्तानपरम्परा। छठे गणधर तथा आर्य सुहस्ती वगैरह। इन में प्रत्येक गोत्र की फिर सात २ शाखाएं हैं। उनका विस्तार ठाणांग सूत्र में है। (ठाणांग ७ उ० ३ सूत्र ५५१)

५४३-भगवान् मल्लिनाथ आदि एक साथ दीक्षा लेने वाले सात।

नीचे लिखे सात व्यक्तियों ने एक साथ दीक्षा ली थी।

(१) भगवान् मल्लिनाथ-विदेहराज की कन्या।
(२) प्रतिबुद्धि-साकेत अर्थात् अयोध्या में रहने वाला इक्ष्वाकु वंश का राजा।
(३) चन्द्रच्छाय-चम्पा में रहने वाला अङ्गदेश का राजा।
(४) रुक्मी-श्रावस्ती का निवासी कुणालदेश का राजा।
(५) शङ्ख-वाणारसी में रहने वाला काशी देश का राजा।
(६) अदीनशत्रु-हस्तिनागपुर निवासी कुरुदेश का राजा।
(७) जितशत्रु-काम्पिल्य नगर का स्वामी पञ्चालदेश का राजा।

भगवान् मल्लिनाथ के पूर्वभव के साथी होने के कारण इन छः राजाओं के ही नाम दिए गए हैं। वैसे तो भगवान् के साथ तीन सौ स्त्री और तीन सौ पुरुषों ने दीक्षा ली थी। इन छः राजाओं की कथाएं ज्ञाता सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन में नीचे लिखे अनुसार आई हैं-

जम्बूद्वीप, अपरविदेह के सलिलावती विजय की वीतशोका राजधानी में महाबल नाम का राजा था। उसने छः बचपन के साथियों के साथ दीक्षा ली। दीक्षा लेते समय उन साथी अनगारों ने कहा था जो तप आप करेंगे वही हम करेंगे। इस प्रकार सभी साथियों में एक सरीखा तप करने का निश्चय

के विषय में पूछा—वह कैसी है ? मंत्री ने उत्तर दिया— संसार में उस सरीखी कोई नहीं है। राजा का मल्लिकुंवरी के प्रति अनुराग हो गया और उसे वरने के लिए दूत भेज दिया।

दूसरा साथी चन्द्रच्छाय नाम से चम्पानगरी राजधानी में अंग देश का राज्य कर रहा था। वहीं पर अर्हन्नक श्रमणक नाम का श्रावक पोतवणिक् रहता था। एक बार यात्रा से लौटने पर वह एक जोड़ा कुण्डल राजा को भेंट देने के लिए लाया। राजा ने पूछा—तुमने बहुत से समुद्र पार किए हैं। क्या कोई आश्चर्य जनक वस्तु देखी ? श्रावक ने कहा इस यात्रा में मुझे धर्म से विचलित करने के लिए एक देव ने बहुत उपसर्ग किए। अन्त तक विचलित न होने से सन्तुष्ट होकर उसने दो जोड़ कुण्डल दिए। एक इसने कुम्भ राजा को भेंट कर दिया। राजा ने उसे अपनी मल्लि नाम की कन्या को स्वयं पहिनाया। वह कन्या तीनों लोकों में आश्चर्यभूत है। यह सुनकर चन्द्रच्छाय राजा ने भी उसे वरने के लिए दूत भेज दिया।

तीसरा साथी श्रावस्ती नगरी में रुक्मी नाम का राजा हुआ। एक दिन उसने अपनी कन्या के चौमासी स्नान का उत्सव मनाने के लिए नगरी के चौराहे में विशाल मण्डप रचाया। कन्या स्नान करके सब वस्त्र आदि पहिन कर अपने पिता के चरणों में प्रणाम करने के लिए आई। राजा ने उसे गोद में बैठाकर उसके सौन्दर्य को देखते हुए कहा, वर्षधर ! क्या तुमने किसी कन्या का ऐसा स्नानमहोत्सव देखा है ? उसने उत्तर दिया—विदेहराज की कन्या के स्नानमहोत्सव के सामने यह उसका लाखवां भाग भी नहीं है। राजा वर्षधर से मल्लिकुंवरी की प्रशंसा सुनकर उसकी ओर आकृष्ट हो गया और उसे

एक बार मल्लिकुंवरी के कुण्डलों का जोड़ खुल गया। उसे जोड़ने के लिए कुम्भक राजा ने सुनारों को आज्ञा दी किन्तु वे उसे पहले की तरह न कर सके। राजा ने सुनारों को अपनी नगरी से निकाल दिया। वे बनारस के राजा शंखराज के पास चले गए। राजा के पूछने पर सुनारों ने सारी बात कह दी और मल्लिकुंवरी के सौन्दर्य की प्रशंसा की। मोहित होकर शंखराज ने भी मल्लिकुंवरी को वरने के लिए दूत भेज दिया।

एक बार मल्लिकुंवरी के छोटे भाई मल्लदिन्न ने सभाभवन को चित्रित करवाना शुरू किया। लब्धि विशेष से सम्पन्न होने के कारण एक चित्रकार ने मल्लिकुंवरी के पैर के अंगूठे को देखकर सारी तस्वीर का हूबहू चित्रित कर दिया। मल्लदिन्न कुंवर अपने अन्तःपुर के साथ चित्र सभा में आया। देखते देखते उसकी नजर मल्लि के चित्र पर पड़ी। उसे साक्षात् मल्लिकुंवरी समझ कर बड़ी बहिन के सामने इस प्रकार अविनय से आने के कारण वह लज्जित होने लगा। उसकी धाय ने बताया कि यह चित्र है साक्षात् मल्लिकुंवरी नहीं। अयोग्य स्थान में बड़ी बहिन का चित्र बनाने के कारण चित्रकार पर मल्लदिन्न को बड़ा क्रोध आया और उसे मारने की आज्ञा दी। सब चित्रकारों ने इकट्ठे होकर कुमार से प्रार्थना की कि ऐसे गुणी चित्रकार को मृत्युदण्ड न देना चाहिए। कुमार ने उनकी प्रार्थना पर ध्यान देकर चित्रकार का अँगूठा और अँगूठे के पास की अंगुली काटकर देशनिकाला दे दिया। वह हस्तिनापुर में अदीनशत्रु राजा के पास पहुँचा। राजा ने चित्रकार के मुँह से मल्लिकुंवरी की तारीफ सुनकर दूत को भेज दिया।

एक बार चोक्षा नाम की परिव्राजिका ने मल्लिकुंवरी के भवन में प्रवेश किया। मल्लिस्वामिनी ने दानधर्म और शौचधर्म का

उपदेश देकर उसे जीत लिया। हार मान कर क्रोधित होती हुई चोखा जितशत्रु राजा के पास आई। राजा ने पूछा-चोखे! तुम बहुत घूमती हो। क्या मेरी रानियों सरीखी कोई सुन्दरी देखी है? उसने कहा-विदेहराज की कन्या को देखते हुए तुम्हारी रानियाँ उसका लाखवाँ भाग भी नहीं हैं। राजा जितशत्रु ने भी मल्लिकुँवरी का वरन के लिए दूत भेज दिया।

छहों दूतों ने आकर अपने अपने राजाओं के लिए मल्लिकुँवरी को माँगा। उसने उन्हें दुत्कार कर पिछले द्वार से निकाल दिया। दूतों के कथन से क्रोध में आकर सभी राजाओं ने मिथिला पर चढ़ाई कर दी। उनको आते हुए सुनकर कुम्भक राजा भी अपनी सेना को लेकर युद्ध के लिए तैयार हो कर राज्य की सीमा पर आ पहुँचा और उनकी प्रतीक्षा करने लगा। राजाओं के पहुँचते ही भयङ्कर युद्ध शुरू हुआ। दूसरे राजाओं की सेना अधिक होने के कारण कुम्भक की सेना हार गई। उसने भाग कर किलेबन्दी कर ली। विजय का कोई उपाय न देख कर व्याकुल होते हुए कुम्भक राजा को मल्लिकुँवरी ने कहा-आप प्रत्येक राजा के पास अलग अलग सन्देश भेज दीजिये कि कन्या उसे ही दी जायेगी और छहों को नगर में बुला लीजिए।

छहों आकर नए बनाए हुए घर के कमरों में अलग अलग बैठ गए। सामने मूर्ति को साक्षात् मल्लिकुँवरी समझते हुए एक टक होकर देखने लगे। इतने में मल्लिकुँवरी ने वहाँ आकर मूर्ति का ढक्कन खोल दिया। चारों तरफ भयानक दुर्गन्ध फैलने लगी। राजाओं ने नाक ढक कर मुँह फेर लिए। मल्लि ने पूछा-"आप लोगों ने नाक बन्द करके मुँह क्यों फेर लिए? अगर खाने की मूर्ति में डाला हुआ सुगन्धित तथा स्वादु आहार भी इस प्रकार दुर्गन्धि वाला हो सकता है तो मल, मूत्र, रक्त आदि

घृणित वस्तुओं से भरे इस औदारिक शरीर में इन का क्या परिणाम होगा ? ऐसे गन्दे शरीर में आप लोग आसक्ति क्यों कर रहे हैं ? आत्मा को नीचे गिराने वाले कामभोगों को छोड़िए। क्या आप को याद नहीं है जब हम जयन्त विमान में रहे थे और उससे पहिले मनुष्य भव में एक साथ रहने की प्रतिज्ञा की थी ?" यह सुनकर सभी राजाओं को जातिस्मरण हो गया।

इसके बाद मल्लिकुँवरी ने कहा—मैं संसार के भय से दीक्षा लेने वाली हूँ। आप लोग क्या करेंगे ? उन्होंने भी दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। इस पर मल्लिस्वामिनी ने कहा—यदि यह बात है तो अपने पुत्रों को गद्दी पर बैठा कर मेरे पास चले आओ। राजाओं ने बात मान ली। इसके बाद मल्लिस्वामिनी उन्हें लेकर कुम्भक राजा के पास गई। सभी राजाओं ने कुम्भक के चरणों में गिर कर उससे क्षमा माँगी। कुम्भक ने भी प्रसन्न होकर उन सब का सत्कार किया।

एक वर्ष तक महादान देकर पौष सुदी एकादशी, अश्विनी नक्षत्र में अट्ठमभत्त करके भगवान् मल्लिनाथ ने छः राजा, बहुत से राजकुमार तथा राजकुमारियों के साथ दीक्षा ली। उनके साथ तीन सौ पुरुषों की बाह्यसम्पदा तथा तीन सौ महिलाओं की आभ्यन्तर परिषद् थी।

छहों राजा उत्कृष्ट करनी करके सिद्ध हुए। भगवान मल्लिनाथ भी हजारों जीवों को प्रतिबोध देकर सिद्ध बुद्ध तथा मुक्त हुए।
(ठाणांग ७ उ० ३ सूत्र ५६४)

५४४—श्रेणियाँ सात

जिसके द्वारा जीव और पुद्गलों की गति होती है ऐसी आकाश प्रदेश की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। जीव और पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान श्रेणी के अनुसार ही जा सकते हैं,

बिना श्रेणी के गति नहीं होती। श्रेणियाँ सात हैं–
(१) ऋज्वायता– जिस श्रेणी के द्वारा जीव ऊर्ध्व लोक (ऊँचे लोक) आदि से अधोलोक आदि में सीधे चले जाते हैं, उसे ऋज्वायता श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणी के अनुसार जाने वाला जीव एक ही समय में गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है।
(२) एकतो वक्रा–जिस श्रेणी द्वारा जीव सीधा जाकर वक्र-गति प्राप्त करे अर्थात् दूसरी श्रेणी में प्रवेश करे उसे एकतो वक्रा कहते हैं। इस के द्वारा जाने वाले जीव को दो समय लगते हैं।
(३) उभयतो वक्रा–जिस श्रेणी के द्वारा जाता हुआ जीव दो बार वक्रगति करे अर्थात् दो बार दूसरी श्रेणी (पंक्ति) को प्राप्त करे। इस श्रेणी से जाने वाले जीव को तीन समय लगते हैं। यह श्रेणी आग्नेयी (पूर्व दक्षिण) दिशा से अधोलोक की वायवी (उत्तर पश्चिम) दिशा में उत्पन्न होने वाले जीव के होती है। पहिले समय में यह आग्नेयी (पूर्वदक्षिण कोण) दिशा से तिरछा पश्चिम की ओर दक्षिण दिशा के कोण अर्थात् नैऋत दिशा की तरफ जाता है। दूसरे समय में वहाँ से तिरछा होकर उत्तर पश्चिम कोण अर्थात् वायवी दिशा की तरफ जाता है। तीसरे समय में नीचे वायवी दिशा की ओर जाता है। यह तीन समय की गति त्रसनाड़ी अथवा उससे बाहर के भाग में होती है।
(४) एकतःखा–जिस श्रेणी द्वारा जीव या पुद्गल त्रसनाड़ी के बाएं पसवाड़े से त्रसनाड़ी में प्रवेश करे और फिर त्रसनाड़ी द्वारा जाकर उसके बाईं तरफ वाले हिस्से में पैदा होते हैं उसे एकतःखा श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणी के एक तरफ त्रसनाड़ी के बाहर का आकाश आया हुआ है इसलिए इसका नाम एकतःखा है। इस श्रेणी में दो, तीन या चार समय की वक्र गति होने पर भी क्षेत्र की अपेक्षा से इस को अलग कहा है।

(५) उभयतःखा–त्रसनाड़ी के बाहर से बाएं पसवाड़े से प्रवेश करके त्रसनाड़ी द्वारा जाते हुए दाहिने पसवाड़े में जीव या पुद्गल जिस श्रेणी से पैदा होते हैं उसे उभयतःखा कहते हैं।

(६) चक्रवाल–जिस श्रेणी के द्वारा परमाणु वगैरह गोल चक्कर खाकर उत्पन्न होते हैं।

(७) अर्धचक्रवाल–जिस श्रेणी के द्वारा आधा चक्कर खाकर उत्पन्न होते हैं।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ३ सू ७३) (ठाणांग ७ उ ३ सूत्र ५८१)

५४५–श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय के सात भेद

बादर पृथ्वीकाय के दो भेद हैं–श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय और खर बादर पृथ्वीकाय। खर बादर पृथ्वीकाय के ३६ भेद हैं–कंकर, पत्थर, नमक, सोना, चान्दी, ताम्बा आदि धातुएं तथा हिंगलु, हरताल, सुरमा, अभ्रक, वज्ररत्न, मणि और स्फटिक आदि। श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय के सात भेद हैं–

(१) काली मिट्टी, (२) नीली मिट्टी, (३) लाल मिट्टी, (४) पीली मिट्टी, (५) सफेद मिट्टी, (६) पाण्डु मिट्टी अर्थात् थोड़ा सा पीलापन ली हुई चिकनी मिट्टी और (७) पनक मिट्टी अर्थात् नदी वगैरह का पूर खत्म हो जाने के बाद जमी हुई मिट्टी जो बहुत साफ तथा रजकणमयी होती है।

(पन्नवणा पद १ सूत्र १४)

५४६–पुद्गल परावर्तन सात

आहारक शरीर को छोड़कर औदारिकादि प्रकार से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीव के द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना पुद्गल परावर्तन है। जितने काल में एक जीव समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करता है, उसे भी पुद्गल परावर्तन कहते हैं। इसका काल असंख्यात

उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप होता है। इसके सात भेद हैं-
(१) औदारिक पुद्गल परावर्तन-औदारिक शरीर में वर्तमान जीव के द्वारा औदारिक शरीर के योग्य समस्त पुद्गलों को औदारिक शरीर रूप से ग्रहण करके पुनः छोड़ने में जितना समय लगता है उसे औदारिक शरीर पुद्गल परावर्तन कहते हैं।
(२) वैक्रिय पुद्गल परावर्तन-वैक्रिय शरीर में वर्तमान जीव के द्वारा वैक्रिय शरीर के योग्य समस्त पुद्गलों को वैक्रिय शरीर रूप से ग्रहण करके पुनः छोड़ने में जितना समय लगता है, उसे वैक्रिय पुद्गल परावर्तन कहते हैं।
(३) तैजस पुद्गल परावर्तन- तैजस शरीर में वर्तमान जीव के द्वारा तैजस शरीर के योग्य समस्त पुद्गलों को तैजस शरीर रूप से ग्रहण करके पुनः छोड़ने में जितना समय लगता है उसे तैजस पुद्गल परावर्तन कहते हैं।
(४) कार्माण पुद्गल परावर्तन-कार्माण शरीर में वर्तमान जीव के द्वारा कार्माण शरीर के योग्य समस्त पुद्गलों को कार्माण रूप से ग्रहण करके पुनः छोड़ने में जितना समय लगता है उसे कार्माण पुद्गल परावर्तन कहते हैं।
(५) मन पुद्गल परावर्तन-जीव के द्वारा मनोवर्गणा के योग्य समस्त पुद्गलों को मन रूप से ग्रहण करके पुनः छोड़ने में जितना समय लगता है उसे मनः पुद्गल परावर्तन कहते हैं।
(६) वचन पुद्गल परावर्तन-जीव के द्वारा वचन के योग्य समस्त पुद्गलों को वचन रूप से ग्रहण करके पुनः छोड़ने में जितना समय लगता है, उसे वचन पुद्गल परावर्तन कहते हैं।
(७) प्राणापान पुद्गल परावर्तन- जीव के द्वारा प्राणापान (श्वासोच्छ्वास) के योग्य समस्त पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास रूप से ग्रहण करके पुनः छोड़ने में जितना समय लगता है उस

है। यह योग विग्रहगति में तथा उत्पत्ति के समय सब जीवों में होता है। केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में केवली को होता है। (भगवती शतक २५ उद्देशा १ सूत्र ७१८)
(द्रव्यलोक प्रकाश सर्ग ३ पृष्ठ १५८) (कर्मग्रन्थ ४ गाथा २४)

५४८—समुद्घात सात

वेदना आदि के साथ एकाकार हुए आत्मा का कालान्तर में उदय में आने वाले वेदनीय आदि कर्म प्रदेशों को उदीरणा के द्वारा उदय में लाकर उनकी प्रबलता पूर्वक निर्जरा करना समुद्घात कहलाता है। इसके सात भेद हैं—

(१) वेदना समुद्घात—वेदना के कारण से होने वाले समुद्घात को वेदना समुद्घात कहते हैं। यह असाता वेदनीय कर्मों के आश्रित होता है। तात्पर्य यह है कि वेदना से पीड़ित जीव अनन्तानन्त कर्म स्कन्धों से व्याप्त अपने प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालता है और उनसे मुख उदर आदि छिद्रों और कान तथा स्कन्धादि अन्तरालों को पूर्ण करके लम्बाई और विस्तार में शरीर परिमाण क्षेत्र में व्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त तक ठहरता है। उस अन्तर्मुहूर्त में प्रभूत असाता वेदनीय कर्म पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(२) कषाय समुद्घात—क्रोधादि के कारण से होने वाले समुद्घात को कषाय समुद्घात कहते हैं। यह कषाय मोहनीय के आश्रित है अर्थात् तीव्र कषाय के उदय से व्याकुल जीव अपने आत्मप्रदेशों को बाहर निकाल कर और उनसे मुख और पेट आदि के छिद्रों और कान एवं स्कन्धादि अन्तरालों को पूर्ण करके लम्बाई और विस्तार में शरीर परिमाण क्षेत्र में व्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त तक रहता है और प्रभूत कषाय कर्मपुद्गलों की निर्जरा करता है।

(३) मारणान्तिक समुद्घात—मरण काल में होने वाले समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। यह अन्तर्मुहूर्त शेष आयु

कर्म के आश्रित है अर्थात् कोई जीव आयु कर्म अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर अपने आत्मप्रदेशों को बाहर निकाल कर उनसे मुख और उदरादि के छिद्रों और कान एवं स्कन्धादि के अन्तरालों को पूर्ण करके विष्कम्भ(घेरा)और मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में कम से कम अपने शरीर के अंगुल के असंख्यात भाग परिमाण और अधिक से अधिक एक दिशा में असंख्येय योजन क्षेत्र को व्याप्त करता है और मृत आयु कर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(४) वैक्रिय समुद्घात—वैक्रिय के आरम्भ करने पर जो समुद्घात होता है उसे वैक्रिय समुद्घात कहते हैं और वह वैक्रिय शरीर नाम कर्म के आश्रित होता है अर्थात् वैक्रिय लब्धि वाला जीव वैक्रिय करते समय अपने प्रदेशों को अपने शरीर से बाहर निकाल कर विष्कम्भ और मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में संख्येय योजन परिमाण दण्ड निकालता है और पूर्ववद् वैक्रिय शरीर नामकर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(५) तैजस समुद्घात—यह तेजो लेश्या निकालते समय में रहने वाले तैजस शरीर नाम के आश्रित है अर्थात् तेजो लेश्या की स्वाभाविक लब्धि वाला कोई साधु आदि सात आठ कदम पीछे हटकर विष्कम्भ और मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में संख्येय योजन परिमाण जीव प्रदेशों के दण्ड को शरीर से बाहर निकाल कर क्रोध के विषयभूत जीवादि को जलाता है और मृत तैजसशरीर नाम कर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(६) आहारक समुद्घात—आहारकशरीर का आरम्भ करने पर होने वाला समुद्घात आहारक समुद्घात कहलाता है। वह आहारक नामकर्म का विषय करता है अर्थात् आहारक शरीर की लब्धि वाला आहारक शरीर की इच्छा करता हुआ विष्कम्भ और मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में संख्येय योजन परिमाण अपने

भाषापान पुद्गल परावर्तन करते हैं। (प्रवचन १ ब ४ सूत्र १६१ टी.)
(भगवती शतक १२ उद्देशा ४ सूत्र ४४६) (पंचसंग्रह दूसरा द्वार गा २६टी)
(कर्मग्रन्थ ५ गाथा ८७-८८) (प्रवचनसारोद्धार द्वार १६२ गा. १ ३६ १ ४२)

५४७-काययोग के सात भेद

काया की प्रवृत्ति को काययोग कहते हैं। इसके सात भेद हैं- (१) औदारिक, (२) औदारिकमिश्र (३) वैक्रिय, (४) वैक्रिय मिश्र, (५) आहारक, (६) आहारकमिश्र, (७) कार्माण।

(१) औदारिक काययोग-केवल औदारिक शरीर के द्वारा होने वाले वीर्य अर्थात् शक्ति के व्यापार को औदारिक काययोग कहते हैं। यह योग सब औदारिक शरीरी मनुष्य और तिर्यञ्चों को पर्याप्त दशा में होता है।

(२) औदारिकमिश्र काययोग औदारिक के साथ कार्माण, वैक्रिय या आहारक की सहायता से होने वाले वीर्यशक्ति के व्यापार को औदारिकमिश्र काययोग कहते हैं। यह योग उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था पर्यन्त सब औदारिक शरीरधारी जीवों को होता है।

वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य और तिर्यञ्च जब वैक्रिय शरीर का त्याग करते हैं, तब भी औदारिकमिश्र होता है। लब्धिधारी मुनिराज जब आहारक शरीर निकालते हैं तब तो आहारकमिश्र काययोग का प्रयोग होता है किन्तु आहारक शरीर के निवृत्त होते समय अर्थात् वापिस स्वशरीर में प्रवेश करते समय औदारिकमिश्र काययोग का प्रयोग होता है।

केवली भगवान् जब केवलिसमुद्घात करते हैं तब केवलि समुद्घात के आठ समयों में दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्र काययोग का प्रयोग होता है।

(३) वैक्रिय काययोग-सिर्फ वैक्रिय शरीर द्वारा होने वाले

वीर्यशक्ति के व्यापार को वैक्रिय काययोग कहते हैं। यह मनुष्यों और तिर्यञ्चों को वैक्रिय लब्धि के बल से वैक्रिय शरीर धारण कर लेने पर होता है । देवों और नारकी जीवों के वैक्रिय काययोग भवप्रत्यय होता है ।

(४) वैक्रियमिश्र काययोग–वैक्रिय और कार्माण अथवा वैक्रिय और औदारिक इन दो शरीरों के द्वारा होने वाले वीर्यशक्ति के व्यापार को वैक्रियमिश्र योग कहते हैं। पहिले प्रकार का वैक्रियमिश्र योग देवों तथा नारकों को उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक रहता है। दूसरे प्रकार का वैक्रिय काययोग मनुष्यों और तिर्यञ्चों में तभी पाया जाता है जब कि वे लब्धि के सहारे से वैक्रिय शरीर का आरम्भ करते हैं। त्याग करने में वैक्रियमिश्र नहीं होता, औदारिकमिश्र होता है ।

(५) आहारक काययोग–सिर्फ आहारक शरीर की सहायता से होने वाला वीर्यशक्ति का व्यापार आहारक काययोग है ।

(६) आहारकमिश्र काययोग–आहारक और औदारिक इन दोनों शरीरों के द्वारा होने वाले वीर्यशक्ति के व्यापार को आहारकमिश्र काययोग कहते हैं। आहारक शरीर के धारण करने के समय और उसके आरम्भ और त्याग के समय आहारकमिश्र काययोग होता है ।

(७) कार्माण काययोग–सिर्फ कार्माण शरीर की सहायता से वीर्य शक्ति की जो प्रवृत्ति होती है, उसे कार्माण काययोग कहते

---

* यद्यपि कार्मण काययोग के समान तैजस काययोग पृथक् नहीं माना गया [illegible] है कि तैजस और कार्मण का सदा साहचर्य रहता है [illegible] कभी कभी कार्मण शरीर को छोड़ भी देते हैं [illegible] [illegible] इसलिए वीर्यशक्ति का [illegible] है [illegible] से तैजस शरीर [illegible] भी [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] हो जाता है [illegible] है।

है। यह योग विग्रहगति में तथा उत्पत्ति के समय सब जीवों में होता है। केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में केवली को होता है। (भगवती शतक २५ उद्देशा १ सूत्र ७१९)
(द्रव्य लोक प्रकाश सर्ग ३ पृष्ठ १६८) (कर्मग्रन्थ ४ गाथा २४)

५४८-समुद्घात सात

वेदना आदि के साथ एकाकार हुए आत्मा का कालान्तर में उदय में आने वाले वेदनीय आदि कर्म प्रदेशों को उदीरणा के द्वारा उदय में लाकर उनकी प्रबलता पूर्वक निर्जरा करना समुद्घात कहलाता है। इसके सात भेद हैं—

(१) वेदना समुद्घात–वेदना के कारण से होने वाले समुद्घात को वेदना समुद्घात कहते हैं। यह असाता वेदनीय कर्मों के आश्रित होता है। तात्पर्य यह है कि वेदना से पीड़ित जीव अनन्तानन्त कर्म स्कन्धों से व्याप्त अपने प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालता है और उनसे मुख उदर आदि छिद्रों और कान तथा स्कन्धादि अन्तरालों को पूर्ण करके लम्बाई और विस्तार में शरीर परिमाण क्षेत्र में व्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त तक ठहरता है। उस अन्तर्मुहूर्त में प्रभूत असाता वेदनीय कर्म पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(२) कषाय समुद्घात–क्रोधादि के कारण से होने वाले समुद्घात को कषाय समुद्घात कहते हैं। यह कषाय मोहनीय के आश्रित है अर्थात् तीव्र कषाय के उदय से व्याकुल जीव अपने आत्मप्रदेशों को बाहर निकाल कर और उनसे मुख और पेट आदि के छिद्रों और कान एवं स्कन्धादि अन्तरालों को पूर्ण करके लम्बाई और विस्तार में शरीर परिमाण क्षेत्र में व्याप्त होकर अन्तर्मुहूर्त तक रहता है और प्रभूत कषाय कर्मपुद्गलों की निर्जरा करता है।

(३) मारणान्तिक समुद्घात–मरण काल में होने वाले समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। यह अन्तर्मुहूर्त शेष आयु

कर्म के आश्रित है अर्थात् कोई जीव आयु कर्म अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर अपने आत्मप्रदेशों को बाहर निकाल कर उनसे मुख और उदरादि के छिद्रों और कान एवं स्कन्धादि के अन्तरालों को पूर्ण करके विष्कम्भ(घेरा)और मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में कम से कम अपने शरीर के अंगुल के असंख्यात भाग परिमाण और अधिक से अधिक एक दिशा में असंख्येय योजन क्षेत्र को व्याप्त करता है और अभूत आयु कर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(४) वैक्रिय समुद्घात—वैक्रिय के आरम्भ करने पर जो समुद्घात होता है उसे वैक्रिय समुद्घात कहते हैं और वह वैक्रिय शरीर नाम कर्म के आश्रित होता है अर्थात् वैक्रिय लब्धि वाला जीव वैक्रिय करते समय अपने प्रदेशों को अपने शरीर से बाहर निकाल कर विष्कम्भ और मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में संख्येय योजन परिमाण दण्ड निकालता है और पूर्ववद् वैक्रिय शरीर नामकर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(५) तैजस समुद्घात—यह तेजो लेश्या निकालते समय में रहने वाला तैजस शरीर नाम के आश्रित है अर्थात् तेजो लेश्या की स्वाभाविक लब्धि वाला कोई साधु आदि सात आठ कदम पीछे हटकर विष्कम्भ और मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में संख्येय योजन परिमाण जीव प्रदेशों के दण्ड को शरीर से बाहर निकाल कर क्रोध के विषयभूत जीवादि को जलाता है और अभूत तैजसशरीर नाम कर्म के पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(६) आहारक समुद्घात—आहारकशरीर का आरम्भ करने पर होने वाला समुद्घात आहारक समुद्घात कहलाता है। वह आहारक नामकर्म को विषय करता है अर्थात् आहारक शरीर की लब्धि वाला आहारक शरीर की इच्छा करता हुआ विष्कम्भ और मोटाई में शरीर परिमाण और लम्बाई में संख्येय योजन परिमाण अपने

प्रदेशों के दण्ड को शरीर से बाहर निकाल कर यथास्थूल पूर्ववत् आहारक कर्म के प्रभूत पुद्गलों की निर्जरा करता है।

(७) केवलिसमुद्घात—अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले केवली के समुद्घात को केवलिसमुद्घात कहते हैं। यह वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म को विषय करता है।

अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करने वाला कोई केवली (केवलज्ञानी) कर्मों को सम करने के लिए अर्थात् वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति को आयु कर्म की स्थिति के बराबर करने के लिए समुद्घात करता है। केवलिसमुद्घात में आठ समय लगते हैं। प्रथम समय में केवली आत्मप्रदेशों के दण्ड की रचना करता है। वह मोटाई में स्वशरीर परिमाण और लम्बाई में ऊपर और नीचे से लोकान्त पर्यन्त विस्तृत होता है। दूसरे समय में केवली उसी दण्ड को पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में फैलाता है। फिर उस दण्ड का लोक पर्यन्त फैला हुआ कपाट बनता है। तीसरे समय में दक्षिण और उत्तर अथवा पूर्व और पश्चिम दिशा में लोकान्त पर्यन्त आत्मप्रदेशों को फैलाकर उसी कपाट को मथानी रूप बना देता है। ऐसा करने से लोक का अधिकांश भाग आत्मप्रदेशों से व्याप्त हो जाता है, किन्तु मथानी की तरह अन्तराल प्रदेश खाली रहते हैं। चौथे समय में मथानी के अन्तरालों को पूर्ण करता हुआ समस्त लोकाकाश को आत्मप्रदेशों से व्याप्त कर देता है, क्योंकि लोकाकाश और जीव के प्रदेश बराबर हैं। पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें समय में विपरीत क्रम से आत्मप्रदेशों का संकोच करता है। इस प्रकार आठवें समय में सब आत्मप्रदेश पुनः शरीरस्थ हो जाते हैं।

(पन्नवणा पद ३६ सूत्र ३३१) (ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५८६) (द्रव्यलोकप्रकाश सर्ग ३ पृष्ठ १४४) (प्रवचनसारोद्धार द्वार २३१ गाथा १३१३–१३१६)

५४९—पक्षाभास के सात भेद

जहाँ साध्य को सिद्ध किया जाय उसे पक्ष कहते हैं। जैसे पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धुएँ वाला है। यहाँ अग्नि साध्य है और वह पर्वत में सिद्ध की जाती है, इसलिए पर्वत पक्ष है। दोष वाले पक्ष को पक्षाभास कहते हैं। इसके सात भेद हैं—

(१) प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण— जिस पक्ष का साध्य पहिले से सिद्ध हो। जैसे— जैनमतावलम्बी के प्रति कहना 'जीव है'। जैन सिद्धान्त में जीव की सत्ता पहिले से सिद्ध है। उसे फिर सिद्ध करना अनावश्यक है, इसीलिये यह दोष है।

(२) प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण— जिस पक्ष का साध्य प्रत्यक्ष से बाधित हो। जैसे यह कहना कि 'पृथ्वी आदि भूतों से विलक्षण आत्मा नहीं है।' चेतन रूप आत्मा का जड़ भूतों से विलक्षण न होना प्रत्यक्षबाधित है।

(३) अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषण—जहाँ साध्य अनुमान से बाधित हो। जैसे सर्वज्ञ या वीतराग नहीं है। यह पक्ष सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले अनुमान से बाधित है।

(४) आगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण—जहाँ आगम से बाधा पड़ती हो। जैसे—"जैनों को रात्रि भोजन करना चाहिए।" जैन-शास्त्रों में रात्रिभोजन निषिद्ध है, इसलिये यह आगम से बाधित है।

(५) लोकनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण— जहाँ लोक अर्थात् साधारण लोगों के ज्ञान से बाधा आती हो। जैसे—प्रमाण और प्रमेय का व्यवहार वास्तविक नहीं है। यह बात सभी को मालूम पड़ने वाले घट पट आदि पदार्थों की वास्तविकता से बाधित हो जाती है।

(६) स्ववचननिराकृतसाध्यधर्मविशेषण—जहाँ अपनी ही बात से बाधा पड़ती हो। जैसे—'प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान नहीं होता'

अगर प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान न हो तो उपरोक्त बात कही ही नहीं जा सकती, इसलिए यह स्ववचनबाधित है।

(७) अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषण—जहाँ साध्य अनुमान का प्रयोग करने वाले के सिद्धान्त से प्रतिकूल हो। जैसे—स्याद्वाद का मानने वाला वस्तु को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य सिद्ध करने लग जाय।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार परिच्छेद ६ सूत्र १८-४६)

५५०—सात प्रकार के सब जीव

(१) पृथ्वीकायिक, (२) अप्कायिक, (३) तेउकायिक, (४) वायुकायिक, (५) वनस्पतिकायिक, (६) त्रसकायिक और (७) अकायिक अर्थात् सिद्ध। दूसरे प्रकार से भी जीव के सात भेद हैं—कृष्ण लेश्या से लेकर शुक्ल लेश्या तक ६ भेद और सातवें अलेश्या—लेश्या रहित अर्थात् सिद्ध अथवा अयोगी। सिद्ध और चौदहवें गुणस्थान वाले जीव लेश्यारहित होते हैं। इनकी व्याख्या दूसरे बोल संग्रह नं० ७ में आ चुकी है।

(ठाणांग ७ उ० ३ सूत्र ५६१)

५५१—काल के भेद सात (मुहूर्त्त तक)

समय से लेकर मुहूर्त तक काल के सात भेद हैं—

(१) समय—काल के सब से छोटे भाग को, जिस का दूसरा भाग न हो सके, समय कहते हैं।

(२) आवलिका—असंख्यात समय की एक आवलिका होती है।

(३) श्वास तथा उच्छ्वास— ३७७३ आवलिकाओं का एक श्वास होता है। इतनी ही आवलिकाओं का एक निःश्वास अथवा उच्छ्वास होता है।

(४) प्राण—एक श्वास तथा निःश्वास मिलकर अर्थात् ७५४६ आवलिकाओं का एक प्राण होता है।

(५) स्तोक–सात प्राणों का एक स्तोक होता है।
(६) लव–सात स्तोकों का एक लव होता है।
(७) मुहूर्त–७७ लव अर्थात् ३७७३ श्वासोच्छ्वास का एक मुहूर्त होता है। एक मुहूर्त में दो घड़ी होती हैं। एक घड़ी चौबीस मिनिट की होती है।

(जम्बूद्वीप पन्नत्ति वक्षस्कार २ अधिकार सू १८)

५५२–संस्थान सात

आकार विशेष को संस्थान कहते हैं। इसके सात भेद हैं–
(१) दीर्घ, (२) ह्रस्व, (३) वृत्त, (४) त्र्यस्र, (५) चतुरस्र, (६) पृथुल, (७) परिमंडल।
(१) दीर्घ–बहुत लम्बे संस्थान को दीर्घ संस्थान कहते हैं।
(२) ह्रस्व–दीर्घ संस्थान से विपरीत अर्थात् छोटे संस्थान को ह्रस्व संस्थान कहते हैं।
(६) पृथुल–फैले हुए संस्थान को पृथुल संस्थान कहते हैं।
शेष चार की व्याख्या छठे बोल संग्रह नं० ४६६ में दी जा चुकी है।

(ठाणांग ७ उ.३ सूत्र ५४८ और ठाणांग १ सूत्र ४०)

५५३–विनयसमाधि अध्ययन की सात गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र के नवें अध्ययन का नाम विनयसमाधि है। इसके चतुर्थ उद्देशे में सात गाथाएं हैं, जिन में विनयसमाधि के चार स्थानों का वर्णन है। चार स्थानों के नाम हैं–(१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तपसमाधि, (४) आचार समाधि। इनमें से फिर प्रत्येक के चार चार भेद हैं। सातों गाथाओं का सारांश नीचे लिखे अनुसार है–
(१) पहिली गाथा में विनयसमाधि के चार भेद किये गए हैं। "विनय, श्रुत, तप और आचार के रहस्य को अच्छी तरह जानने वाले जितेन्द्रिय लोग आत्मा को विनय आदि में लगाते

हैं अर्थात् सम्यक् प्रकार से विनय आदि समाधिस्थानों की आराधना करते हैं।"
(२) दूसरी गाथा में विनयसमाधि के चार भेद बताये गए हैं-
विनयसमाधि का आराधन करता हुआ मोक्षार्थी जीव इह लोक तथा परलोक में उपकार करने वाले आचार्य आदि के उपदेश की इच्छा करता है। उनके उपदेश को ठीक ठीक समझता या धारण करता है। ज्ञान होने के बाद उस पर आचरण करता है और आचरण करता हुआ भी गर्व नहीं करता।
(३) तीसरी गाथा में श्रुतसमाधि के चार भेद बताए हैं—
"श्रुतसमाधि में लगा हुआ जीव चार कारणों से स्वाध्याय आदि करता है। (१) ज्ञान के लिए (२) चित्त को एकाग्र करने के लिए (३) विवेकपूर्वक धर्म में दृढ़ता प्राप्त करने के लिए (४) स्वयं स्थिर होने पर दूसरों को भी धर्म में स्थिर करने के लिए।
(४) चौथी गाथा में तप समाधि के चार भेद हैं—
(१) इस लोक के फल के लिए तप न करना चाहिए। (२) परलोक के लिये भी तप न करना चाहिए। (३) कीर्ति, वाद प्रशंसा, यश आदि के लिये भी तप न करना चाहिये। (४) केवल निर्जरा के लिये ही तप करना चाहिये। गाथा का भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है—
तपसमाधि की आराधना करने वाला अनशन आदि अनेक प्रकार के तपों में सदा लगा रहता है। निर्जरा को छोड़कर इहलोक आदि के किसी फल की आशा नहीं करता और तप के द्वारा संचित कर्मों का नाश करता है।
(५) पाँचवीं गाथा में आचारसमाधि के चार भेद किये हैं- इसमें तीन भेद तपसमाधि सरीखे हैं अर्थात् इहलोक, परलोक या कीर्ति आदि की कामना से आचार न पालना और

अरिहन्त भगवान् के बताए हुए आस्रवनिरोध या कर्मक्षय आदि प्रयोजनों के सिवाय और किसी प्रयोजन से आचार का सेवन न करना। गाथा का अभिप्राय नीचे लिखे अनुसार है।

"जिनवचन अर्थात् आगमों में भक्तिवाला, अतिन्तिन अर्थात् बार बार पूछने पर भी बिना चिढ़े शान्तिपूर्वक उत्तर देने वाला, मोक्ष का अभिलाषी, इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला तथा आत्मा को मोक्ष के समीप ले जाने वाला आचारसमाधि सम्पन्न व्यक्ति आस्रव के द्वारों को रोक देता है।"

(६) छठी गाथा में सभी समाधियों का फल कहा है—

मन, वचन और काया से शुद्ध व्यक्ति सत्तरह प्रकार के संयम में आत्मा को स्थिर करता हुआ चारों समाधियों को प्राप्त कर अपना विपुल हित करता है तथा अनन्त सुख देने वाले कल्याण रूप परम पद को प्राप्त कर लेता है।

(७) सातवीं गाथा में भी समाधियों का फल बताया है—

ऐसा व्यक्ति जन्म और मृत्यु से छूट जाता है, नरक आदि अशुभ गतियों को हमेशा के लिए छोड़ देता है। या तो वह शाश्वत सिद्ध हो जाता है या अल्परति तथा महाऋद्धि वाला अनुत्तर वैमानिक आदि देव होता है।

(दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ६ उद्देशा ४)

५५४—वचन विकल्प सात

वचन अर्थात् भाषण सात तरह का होता है—

(१) आलाप—थोड़ा अर्थात् परिमित बोलना।

(२) अनालाप—दुष्ट भाषण करना।

(३) उल्लाप—किसी बात का व्यङ्ग्यरूप से वर्णन करना।

(४) अनुलाप—व्यङ्ग्यरूप से दुष्ट वर्णन करना। इस स्थान पर कहीं कहीं अनुलाप पाठ है, उसका अर्थ है बार २ बोलना।

(५) संलाप-आपस में बातचीत करना।
(६) प्रलाप-निरर्थक या अण्ड बण्ड भाषण करना।
(७) विप्रलाप-तरह तरह से निष्प्रयोजन भाषण करना।
(ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५८४)

५५५-विरुद्धोपलब्धि हेतु के सात भेद

किसी वस्तु से विरुद्ध होने के कारण जो हेतु उसके अभाव को सिद्ध करता है उसे विरुद्धोपलब्धि कहते हैं। ये सात हैं-
(१) स्वभावविरुद्धोपलब्धि-जिस वस्तु का प्रतिषेध करना हो उसके स्वभाव या स्वरूप के साथ ही अगर हेतु का विरोध हो अर्थात् हेतु और उसका स्वभाव दोनों एक दूसरे के अस्तित्व में न रह सकते हों उसको स्वभावविरुद्धोपलब्धि कहते हैं।
जैसे-कहीं पर सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेकान्त मालूम पड़ता है। यहाँ अनेकान्त का मालूम पड़ना एकान्त के स्वभाव एकान्तता का विरोधी है। एकान्तता होने पर अनेकान्त की उपलब्धि नहीं हो सकती।
(२) विरुद्धव्याप्योपलब्धि—हेतु यदि प्रतिषेध्य से विरुद्ध किसी वस्तु का व्याप्य हो। व्याप्य के रहने पर व्यापक अवश्य रहता है। जब हेतु विरुद्ध का व्याप्य है तो विरोधी भी अवश्य रहेगा। उसके रहने पर तद्विरोधी वस्तु का अभाव सिद्ध किया जा सकता है। जैसे-इस पुरुष का तत्त्वों में निश्चय नहीं है, क्योंकि सन्देह है। यहाँ सन्देह का होना निश्चय के न होने का व्याप्य है, इसलिए सन्देह के होने पर निश्चय का अभाव अवश्य रहेगा। निश्चय का अभाव और निश्चय दोनों विरोधी हैं। इसलिए निश्चयाभाव रहने पर निश्चय नहीं रह सकता।
(३) विरुद्धकार्योपलब्धि- विरोधी वस्तु के कार्य की सत्ता से जहाँ किसी चीज का प्रतिषेध किया जाय। कार्य के रहने

पर कारण अवश्य रहेगा। इसलिए कार्य के होने से कारण के विरोधी का अभाव सिद्ध किया जा सकता है। जैसे—

इस मनुष्य के क्रोध आदि की शान्ति नहीं हुई है, क्योंकि मुँह बिगड़ा हुआ मालूम पड़ता है। क्रोध के बिना मुँह नहीं बिगड़ता। इसलिए मुँह का बिगड़ना क्रोध की सत्ता को सिद्ध करता है और क्रोध की सत्ता अपने विरोधी क्रोधाभाव के अभाव को अर्थात् क्रोध को सिद्ध करती है।

(४) विरुद्धकारणोपलब्धि-जहाँ कारण के होने पर कार्य अवश्य होता है अतः निषेध्य वस्तु के कारण की सत्ता से कार्य के विरोधी का निषेध किया जाय उसे विरुद्धकारणोपलब्धि कहते हैं। जैसे—यह महर्षि झूठ नहीं बोलता, क्योंकि इसका ज्ञान राग द्वेष आदि कलङ्क से रहित है। यहाँ झूठ का मन का विरोधी है सत्य बोलना और उसका कारण है राग द्वेष से रहित ज्ञान वाला होना। रागादिरहित ज्ञान रूप कारण ने अपने कार्य सत्यवादित्व की सत्ता सिद्ध की और उसकी सत्ता से झूठ बोलने का प्रतिषेध हो गया।

(५) विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि-जहाँ प्रतिषेध्य से विरुद्ध पूर्वचर की उपलब्धि हो। जैसे-कल रविवार नहीं होगा, क्योंकि आज गुरुवार है। यहाँ प्रतिषेध्य रविवार है, उसका अनुकूल पूर्वचर शनिवार है क्योंकि उसके बाद ही रविवार आता है। गुरुवार रविवार का विरोधी पूर्वचर है क्योंकि गुरुवार के दूसरे दिन रविवार नहीं आता इसलिए गुरुवार के रहने से दूसरे दिन रविवार का अभाव सिद्ध किया जा सकता है। इसी तरह मुहूर्त के बाद पुष्य नक्षत्र का उदय नहीं होगा, क्योंकि अभी रोहिणी का उदय है। यहाँ पुष्य नक्षत्र के उदय का निषेध करना है। उसका विरोधी है मृगशीर्ष का उदय। क्योंकि पुष्य का उदय

पुनर्वसु के बाद होता है। रोहिणी मृगशीर्ष का पूर्वचर है। इस बात को समझने के लिये नक्षत्रों का उदय क्रम जान लेना चाहिए। वह इस तरह है-रोहिणी, मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुनर्वसु और पुष्य।
(६) विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि-जहाँ उत्तरचर अर्थात् बाद में आने वाला प्रतिषेध्य का विरोधी हो। जैसे-एक मुहूर्त के पहिले मृगशिरा का उदय नहीं हुआ था, क्योंकि अभी पूर्वाफाल्गुनी का उदय है। यहाँ मृगशीर्ष का उदय प्रतिषेध्य है। उसका विरोधी है मघा का उदय क्योंकि मृगशिरा के बाद आर्द्रा का उदय होता है। मघा का उत्तरचर है पूर्वाफाल्गुनी। यहाँ नक्षत्रों का उदय क्रम इस प्रकार है-मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा और पूर्वाफाल्गुनी।
(७) विरुद्धसहचरोपलब्धि-जहाँ दो वस्तुओं का एक साथ रहना असम्भव हो, ऐसी जगह एक के रहने से दूसरी का निषेध करना। जैसे-इसे मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन है। मिथ्याज्ञान और सम्यग्दर्शन दोनों एक साथ नहीं रहते। इसलिए सम्यग्दर्शन के होने से मिथ्याज्ञान का अभाव सिद्ध कर दिया गया। (रत्नाकरावतारिका तृतीय परिच्छेद सूत्र ८१ ८९)

५५६-अविरुद्धानुपलब्धि के सात भेद

प्रतिषेध्य से अविरुद्ध वस्तु का न होना अविरुद्धानुपलब्धि है। जिन दो वस्तुओं में एक साथ रहना निश्चित है उनमें एक के न रहने पर दूसरी का प्रतिषेध किया जाता है। इस हेतु के सात भेद हैं-
(१) अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि- जहाँ प्रतिषेध्य वस्तु से अविरुद्ध अर्थात् नियमित रूप से रहने वाले स्वभाव के न रहने से स्वभाव वाली वस्तु का प्रतिषेध किया जाय। जैसे इस जगह घड़ा नहीं है, क्योंकि आँखों से दिखाई देना रूप उस

का स्वभाव यहाँ मालूम नहीं पड़ता। यहाँ घट रहेगा वह आँखों से जरूर दिखाई देगा। आँखों का विषय होना उसका स्वभाव है। इसके न होने से घट का अभाव सिद्ध किया जा सकता है।

(२) अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि-जहाँ प्रतिषेध्य अविरुद्ध व्यापक के न रहने से व्याप्य का अभाव सिद्ध किया जाय। जैसे-इस स्थान पर आम नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है। आम का व्यापक है वृक्ष। इसलिए वृक्ष की अनुपलब्धि से आम का प्रतिषेध किया गया।

(३) अविरुद्धकार्यानुपलब्धि-जहाँ कार्य के न होने से कारण का अभाव सिद्ध किया जाय। जैसे-यहाँ पूरी शक्ति वाला बीज नहीं है, क्योंकि अंकुर दिखाई नहीं देता।

(४) अविरुद्ध कारणानुपलब्धि-जहाँ कारण के न होने से कार्य का अभाव सिद्ध किया जाय। जैसे इस व्यक्ति के सम, संवेग आदि भाव नहीं हैं क्योंकि इसे सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन के कार्य हैं सम संवेग वगैरह। इसलिए सम्यग्दर्शन के न होने से सम संवेग आदि का भी अभाव सिद्ध कर दिया गया

(५) अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि-जहाँ पूर्वचर की अनुपलब्धि से उत्तरचर का प्रतिषेध किया जाय। जैसे-कल रविवार नहीं है क्योंकि आज शनिवार नहीं है। रविवार का पूर्वचर है शनिवार क्योंकि उसके आये बिना रविवार नहीं आता। इस लिए शनिवार की अनुपलब्धि से यह सिद्ध किया जा सकता है कि कल रविवार नहीं होगा। इसी तरह मुहूर्त के बाद स्वाति का उदय नहीं होगा। क्योंकि अभी चित्रा का उदय नहीं है स्वाति का उदय चित्रा के बाद ही होता है। इसलिए चित्रा के उदय न होने से स्वाति के उत्तरकालीन उदय का निषेध किया जा सकता है।

(६) अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि-जैसे एक मुहूर्त पहिले

पूर्वभाद्रपदा का उदय नहीं हुआ था क्योंकि अभी उत्तरभाद्र पदा का उदय नहीं है। पूर्वभाद्रपदा का उत्तरचर है उत्तर भाद्रपदा। इसलिये उत्तरभाद्रपदा के उदय की अनुपलब्धि से पूर्वकालीन पूर्वभाद्रपदा के उदय का प्रतिषेध किया गया।

(७) अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि-जहाँ साथ रहने वाली दो वस्तुओं में से एक के न रहने पर दूसरी का अभाव सिद्ध किया जाय। जैसे-इसे सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन दोनों सहचर अर्थात् एक साथ रहने वाले हैं। इसलिये एक के न होने से दूसरे का निषेध किया जा सकता है।

(रत्नाकरावतारिका परिच्छेद ३ सूत्र ८८-१०२)

५५७—व्युत्सर्ग सात

निःसंग अर्थात् ममत्व रहित होकर शरीर और उपधि के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। इसके सात भेद हैं—

(१) शरीरव्युत्सर्ग—ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग करना।

(२) गणव्युत्सर्ग—अपने सगे सम्बन्धी या शिष्य वगैरह का त्याग करना गणव्युत्सर्ग कहलाता है।

(३) उपधिव्युत्सर्ग—भण्ड उपकरण आदि का त्याग करना।

(४) भक्तपानव्युत्सर्ग—आहार पानी का त्याग करना।

(५) कषायव्युत्सर्ग—क्रोध, मान, माया, लोभ का छोड़ना।

(६) संसारव्युत्सर्ग—नरक आदि आयुबन्ध के कारण मिथ्यात्व वगैरह का त्याग करना संसार व्युत्सर्ग है।

(७) कर्मव्युत्सर्ग—कर्मबन्धन के कारणों का त्याग करना।

ऊपर के सात व्युत्सर्गों में से पहले चार द्रव्यव्युत्सर्ग हैं और अन्तिम तीन भावव्युत्सर्ग। (उववाई सूत्र १)

५५८-विभंगज्ञान सात

मिथ्यात्व युक्त अवधिज्ञान को विभङ्गज्ञान कहते हैं। किसी बालतपस्वी को अज्ञान तप के द्वारा जब दूर के पदार्थ दीखने लगते हैं तो वह अपने को विशिष्ट ज्ञान वाला समझ कर सर्वज्ञ के वचनों में विश्वास न करता हुआ मिथ्या प्ररूपणा करने लगता है। ऐसा बालतपस्वी अधिक से अधिक ऊपर सौधर्मकल्प तक देखता है। अधोलोक में बिल्कुल नहीं देखता। किसी तरफ का अधूरा ज्ञान होने पर वैसी ही वस्तुस्थिति समझ कर दुराग्रह करने लगता है। विभंगज्ञान के सात भेद हैं-

(१) एगदिसिलोगाभिगमे-जिस तापस को इस तरह का विभङ्गज्ञान होता है, वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण या सौधर्मकल्प तक ऊर्ध्व दिशा को देखने लगता है। उसे देखकर उसके दिल में दुराग्रह उत्पन्न होता है कि मैंने अपने अतिशय ज्ञान में लोक को एक ही दिशा में देखा है जो साधु श्रमण यह कहते हैं कि पाँचों दिशाओं में लोक है, वे मिथ्या कहते हैं।

(२) पंचदिसिलोगाभिगमे-इस विभङ्गज्ञान वाला पाँचों दिशाओं को देखने लगता है। मिथ्याभिनिवेश के कारण वह कहता है, पाँचों दिशाओं में ही लोक है। जो श्रमण 'एक दिशा में भी लोक है" ऐसा कहते हैं उनका कहना मिथ्या है। वास्तव में लोक एक दिशा में भी है और पाँचों दिशाओं में भी। इस लिए एक दिशा में उसका निषेध करना मिथ्यात्व है।

(३) किरियावरणे जीवे-तीसरे विभङ्गज्ञान वाला व्यक्ति हिंसा करते हुए, झूठ बोलते हुए, चोरी करते हुए, मैथुन सेवते हुए, परिग्रह संचित करते हुए, रात्रि भोजन करते हुए जीवों को देखता है। कहीं भी कर्म को नहीं देखता। इसलिए कहता है- 'मैंने अपने विशेष ज्ञान में देखा है, क्रिया ही कर्म है

यही जीव का आचरण है। क्रिया को धर्म न कहना मिथ्या है।
(४) पुद्गगल जीवे-चौथे विभङ्गज्ञान वाला जीव बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों से तरह तरह की क्रियाएं करते हुए देवों को देखता है। वह कहता है- "जीव पुद्गल रूप ही है। जो लोग जीव को पुद्गल रूप नहीं मानते उनका कहना मिथ्या है"।
(५) अपुद्गले जीवे-पाँचवें विभङ्गज्ञान वाला जीव बिना पुद्गलों की सहायता के ही देवों को विविध विक्रियाएं करते देखता है इससे वह निश्चय करता है कि "जीव पुद्गल रूप नहीं है। उसे पुद्गल रूप कहना मिथ्या है।" वास्तव में शरीर सहित संसारी जीव पुद्गल और अपुद्गल दोनों रूप है।
(६) रूपी जीवे-छठे विभङ्गज्ञान वाला जीव देवों को विविध पुद्गलों से तरह तरह की विकुर्वणाएं करते देखता है और कहता है-'जीव रूपी है'। जो लोग इसे अरूपी कहते हैं वे मिथ्या हैं।
(७) सव्वमिणं जीवा-सातवें विभङ्गज्ञान वाला जीव पुद्गल के छोटे छोटे स्कन्धों को वायु द्वारा चलते फिरते देखता है और कहता है-"ये सभी जीव हैं। चलने फिरने वालों में से वायु वगैरह को जीव बताना और बाकी को न बताना मिथ्या है।'

(ठाणांग ७ उ. ३ सूत्र ५४२)

५५६-प्राणायाम सात

प्राण अर्थात् शरीर के अन्दर रहने वाली वायु को रोकना प्राणायाम है। अथवा प्राणों के आयाम अर्थात् लम्बाने को या प्राणों के व्यायाम को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम से शरीर के अन्दर की वायु शुद्ध होती है। रोगों का नाश होता है। प्राणायाम से मन स्थिर होता है, क्योंकि मन और प्राणवायु का एक ही स्थान है। ये दोनों दूध पानी की तरह मिले हुए हैं। जहाँ जहाँ मन है वहाँ प्राण है। मन और प्राण की गति

भी प्र एक के चंचल होने से दूसरा चंचल हो जाता मैं होने से इन्द्रियों का दमन होता है। इन्द्रिय दमन से कर्मों की निर्जरा होती है। इस प्रकार प्राणायाम मोक्ष के प्रति भी कारण है। पतञ्जलिकृत योगदर्शन में बताया गया है कि प्राणायाम से मनुष्य को तरह तरह की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पाश्चात्य देशों में प्रचलित, मेस्मेरिज्म, हिप्नाटिज्म, पञ्जपरवोयेन्स आदि सभी आध्यात्मिक सिद्धियाँ इसी पर निर्भर हैं। हेमचन्द्राचार्यकृत योगदर्शन में इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार बताया गया है।

प्राण अर्थात् मुह और नाक में चलने वाली वायु की गति को पूर्ण रूप से वश में कर लेना प्राणायाम है। योग के तीसरे अंग आसनों पर विजय प्राप्त करने के बाद प्राणायाम का अभ्यास पतञ्जलि वगैरह ऋषियों ने योगसिद्धि के लिए बताया है। प्राणायाम के बिना वायु और मन पर विजय नहीं हो सकती। प्राणायाम के सात भेद हैं–

(१) रेचक–प्रयत्न पूर्वक पेट की हवा को नासिका द्वारा बाहर निकालने का नाम रेचक है।

(२) पूरक–बाहर से वायु खींचकर पेट को भरना पूरक है।

(३) कुम्भक–नाभि कमल में कुंभ की तरह वायु का स्थिर रखना कुम्भक है।

(४) प्रत्याहार–वायु को नाभि वगैरह स्थानों से हृदय वगैरह में खींचकर लेजाना प्रत्याहार है।

(५) शान्त–तालु, नाक और मुख में वायु को रोकना शान्त है।

(६) उत्तर–बाहर से वायु का खींचकर उस ऊपर ही हृदय वगैरह स्थानों में रोकना उत्तर है।

(७) अधर–ऊपर से नीचे लाना अधर है। (योग शा.प्र. ५ श्लो. ५-८)

रचक से पेट की बिमारियों तथा कफ का क्षय होता है। पूरक से बल की वृद्धि तथा रोग नष्ट होते हैं। कुम्भक से हृदय पद्म खिल उठता है। अन्दर की गांठ खुल जाती है। बल और स्थिरता की वृद्धि होती है। प्रत्याहार से बल और कान्ति बढ़ती है। शान्त से दोष शान्त होते हैं। उत्तर और अधर से कुम्भक स्थिर रहता है। इनके और भी बहुत से फल हैं (योग शा० प्र० ५ श्लो० १)

प्राणायाम से पाँचों तरह की वायु का जय होता है। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन सब पर विजय प्राणायाम से ही प्राप्त होती है। जो वायु सारे शरीर पर नियन्त्रण करती है अर्थात् जिसके रहने पर ही मनुष्य चलता फिरता है, जिस के बिना मिट्टी का लोन्दा है उसे प्राण कहते हैं। मल, मूत्र और गर्भ वगैरह को बाहर निकालने वाली वायु अपान है। खाये पिये आहार के रक्त रसादि रूप परिणाम को जो उचित परिमाण में यथास्थान पहुँचाती है उसे समान वायु कहते हैं। जो रस वगैरह को ऊपर लेजावे उसे उदानवायु कहते हैं। जो सब जगह व्याप्त रहती है उसे व्यान कहते हैं। प्राणवायु नासिका, हृदय, नाभि और पैर के अंगूठे तक जाती है। इसका वर्ण हरा है। बार बार रेचक तथा पूरक करने को गमागमप्रयोग कहते हैं। कुम्भक करने का धारणा कहते हैं। प्राणवायु का जय गमागमप्रयोग और धारणा से होता है। अपान वायु काले रंग की है। गर्दन के पीछे की नाड़ियाँ, पीठ गुदा तथा पार्ष्णियाँ अर्थात् पैर का पिछला हिस्सा इसके स्थान हैं। इसके अपने स्थानों में रचक और पूरक करने से इस पर विजय प्राप्त होती है।

समानवायु का रंग सफेद है। हृदय, नाभि और सारी सन्धियाँ इसके स्थान हैं। इसकी अपनी जगह में बार बार

रेचक तथा पूरक करने से इस पर विजय प्राप्त होती है।

उदानवायु का रंग लाल है। हृदय, कण्ठ, तालु, भौंहों का मध्यभाग और मस्तक इसके स्थान हैं। गत्यागतिप्रयोग से यह वश में हो जाती है। नाक के द्वारा खींचकर इसे नीचे ले जाना तथा बलपूर्वक उसके ऊपर बार बार रोककर वश में लाना गत्यागतिप्रयोग है।

व्यानवायु सारे शरीर में रही हुई है। इसका रंग इन्द्र धनुष सरीखा है। कुम्भक द्वारा संकोच और विस्तार करते हुए इसे जीतना चाहिए।

यह प्राणायाम सबीज और निर्बीज दो प्रकार से होता है। निर्बीज प्राणायाम में किसी मन्त्र वगैरह का ध्यान नहीं किया जाता। इसमें समय [illegible] मात्राओं से रक्खा जाता है। सबीज प्राणायाम मन्त्र जपते हुए किया जाता है। इसी मन्त्र को बीज कहते हैं। प्राणवायु का बीज है 'यं'। अपान का 'पं'। समान का [illegible]। उदान का [illegible]। और व्यान का 'लं'। सभी प्राणायामों में ॐ का जाप भी किया जाता है।

प्राणवायु [illegible] जाता है। श्वासोच्छ्वास दीर्घ [illegible] होता है। [illegible] प्रकार की वायु पर विजय प्राप्त [illegible] है। [illegible] हल्का मालूम पड़ता है।

समान और [illegible] वायु को वश में कर लेने पर [illegible] घाव वगैरह जल्दी भर जाते हैं, हड्डी वगैरह टूट जाय तो जल्दी जुड़ जाती है। जठराग्नि बढ़ जाती है। [illegible] हल्का रहता है। बीमारी जल्दी नष्ट हो जाती है।

व्यान के वश में होने पर [illegible] अपनी इच्छानुसार [illegible] प्रधान [illegible] का उपशमन होता है। [illegible]

व्यानवायु को जीत लेने पर सर्दी और गर्मी से कष्ट नहीं होता। शरीर की कान्ति बढ़ती है और वह स्वस्थ रहता है।

मनुष्य के जिस अङ्ग में रोग या पीड़ा हो, उसी अंग में वायु को रोकने से रोग चला जाता है। इस प्रकार प्राणादि पर विजय प्राप्त करने पर मन को स्थिर करने के लिए धारणा आदि का अभ्यास करे। उसकी विधि नीचे लिखी जाती है–

पर्यंक आदि आसन से बैठकर पहिले सारी वायु को नासिका द्वारा शरीर से बाहर निकाल दे, फिर बाईं नासिका से पैर के अंगूठे तक वायु को खींचे। इसके बाद मनोयोगपूर्वक वायु को शरीर के अंगों में ले जाकर कुछ देर रोके। पैर के अंगूठे, पैर के तले, एड़ी, पैर की गाँठ अर्थात् गट्टों में, जंघा अर्थात् पिंडलियों में, जानु अर्थात् घुटनों में, ऊरु अर्थात् साथल में, गुदा, लिङ्ग, नाभि, उदर, हृदय, कण्ठ, जीभ, तालु, नाक का अग्रभाग, नेत्र, भौंह, ललाट और सिर में मन की तीव्र भावना से वायु को स्थिर करे। इस प्रकार वायु को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाता हुआ ब्रह्मपुर में ले जावे। फिर उल्टे क्रम से धीरे धीरे नीचे उतारता हुआ मन और वायु को पैर के अंगूठे तक ले आवे। इसके बाद नाभिपद्म में ले जाकर धीरे धीरे दाहिनी नासिका से छोड़ दे।

पैर के अंगूठे से लेकर लिङ्ग तक धारण की हुई वायु से शीघ्र गति और बल प्राप्त होता है। नाभि में धारण करने से ज्वरादि का नाश, पेट में धारण करने से कायशुद्धि, हृदय में ज्ञान, कूर्मनाड़ी में रोग और बुढ़ापे का नाश, कण्ठ में भूख और प्यास की शान्ति, जिह्वा के अग्रभाग में रस का ज्ञान, नासिका के अग्रभाग में गन्धज्ञान, आँखों में रूपज्ञान, भाल में धारण करने से मस्तक के सब रोगों का नाश तथा क्रोध

की उपशान्ति और ब्रह्मरन्ध्र में धारण करने से सिद्धि के प्रति सम्मुख होता है और धीरे धीरे सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार धारणा का अभ्यास करके शरीर के अन्दर रही हुई वायु की गति या हलचल को अच्छी तरह पहिचाने, नाभि से निकलते हुए पवन की गति को, हृदय में उसके हलन चलन को तथा ब्रह्मरन्ध्र में उसकी स्थिति का पूर्णतया ज्ञान करे। अभ्यास द्वारा वायु के संचार, गमन और स्थिति का ज्ञान हो जाने पर समय, आयु और शुभाशुभ फलोदय को जानना चाहिए।

इसके बाद पवन को ब्रह्मरन्ध्र से धीरे धीरे खींचते हुए हृदयपद्म में लाकर वहीं रोके। हृदय में पवन को रोकने से अविद्या और कुवासनाएं दूर होती हैं विषयेच्छा नष्ट हो जाती है। संकल्प विकल्प भाग जाते हैं। हृदय में ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है। हृदय में मन को स्थिर करके किस मण्डल में वायु की गति है, कहाँ संक्रम है, कहाँ विश्राम है, कौनसी नाड़ी चल रही है इत्यादि बातें जाने।

नाक के छिद्र में चार मण्डल हैं–भौम, वारुण, वायव्य, और आग्नेय। क्षितिरूप पृथ्वी बीज से भरा हुआ, वज्र के चिह्न वाला, चौकोण, पिघले हुए सोने की प्रभावाला भौममण्डल है। अर्धचन्द्र के आकार वाला, वरुणाक्षर अर्थात् 'व' के चिह्न वाला, चन्द्र सरीखी सफेद प्रभा वाला, अमृत को झरने वाला वारुण मण्डल है। चिकने सुरमे और घन बादलों की छाया वाला, गोल, बीच में बिन्दु वाला, दुर्लक्ष्य, हवा से घिरा हुआ वायुमण्डल है। ऊँची उठती हुई ज्वाला से युक्त भयङ्कर त्रिकोण, स्वस्तिक के चिह्न वाला, आग के पतिंग की तरह पीला, वह्नि के बीज अर्थात् रफ वाला आग्नेय मण्डल है।

अभ्यास के द्वारा इन मण्डलों का अपने आप ज्ञान हो जाता है। इन चार मण्डलों में क्रम से चार तरह की वायु है।
नाक के छेद को पूरा भरकर धीरे धीरे चलने वाला, पीला रंग की थोड़ी सी गरम आठ अंगुल तक फैलाने वाली और स्वच्छ पुरन्दर नाम की वायु पार्थिव मण्डल में रहती है।
सफेद, ठण्डी, नीचे के भाग में जल्दी जल्दी चलने वाली बारह अंगुल परिमाण की वायु वारुणमण्डल में रहती है।
कभी ठण्डी, कभी गरम, काला रंग वाली, हमेशा तिरछी चलती हुई छ: अंगुल परिमाण वाली पवन नामक वायु पवनमण्डल में रहती है। बालरवि के समान प्रभावाली, बहुत गरम, चार अंगुल परिमाण, आवर्त से युक्त ऊपर बहने वाली वायु दहन कहलाती है। स्तम्भ आदि कार्यों में इन्द्र, प्रशस्त कार्यों में वरुण, मलिन और चंचल कार्यों में वायु और वशीकरण वगैरह में वह्नि (अग्नि) का प्रयोग किया जाता है।
किसी कार्य के आरम्भ करते समय या कार्य के लिए प्रश्न पूछने पर किस समय किस वायु का क्या फल होता है? यह बताया जाता है। पुरन्दर वायु छत्र, चामर, हाथी, घोड़े, स्त्री, राज्य, धन, सम्पत्ति वगैरह मन में अभिलषित फल की प्राप्ति करा देती है। वरुणवायु स्त्री, राज्य, पुत्र, स्वजन, बन्धु और श्रेष्ठ वस्तु की शीघ्र प्राप्ति कराती है। पवन नामक वायु खेती नौकरी वगैरह बना बनाई वस्तु को बिगाड़ देती है। मृत्यु का डर, कलह, वैर, भय और दुःख पैदा करती है। दहननामक वायु भय, शोक, रोग, दुःख, विघ्नों की परम्परा और नाश की सूचना देता है।
सभी तरह की वायु चन्द्रमार्ग अर्थात् बाईं नासिका से और रविमार्ग अर्थात् दाहिनी नासिका से अन्दर आती हुई शुभ

है और बाहर निकलती हुई अशुभ। प्रवेश के समय वायु जीव (प्राण) बन जाती है और वही निकलते हुए मन्य बन जाती है।

इन्दुमार्ग अर्थात् बाईं नासिका से प्रवेश करते हुए इन्द्र और वरुण नामक वायु सभी सिद्धियों को देने वाली होती है। रविमार्ग अर्थात् दाहिनी नाक से निकलती और प्रवेश करती हुई मध्यम है। पवन और दहन नामक वायु दाहिनी नाक से निकलती हुई विनाश के लिए होती है। दूसरी अर्थात् बाईं नासिका से निकलती हुई मध्यम है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम की तीन नाड़ियाँ हैं। ये तीनों क्रम से चन्द्र, सूर्य और शिव का स्थान हैं तथा शरीर के बाएं, दाएं और बीच के भाग में रहती हैं। बाईं नाड़ी अर्थात् इड़ा सभी अंगों में हमेशा अमृत बरसाती रहती है। यह अमृतमय नाड़ी अभीष्ट की सूचना देने वाली है। दक्षिण अर्थात् पिंगला नाड़ी अनिष्ट की सूचना देती है। सुषुम्ना अणिमा लघिमा आदि सिद्धियों और मुक्ति की ओर ले जाती है। अभ्युदय वगैरह शुभ कार्यों में बाईं नाड़ी ही अच्छी मानी गई है। रत अर्थात् मैथुन, भोजन और युद्ध वगैरह तेज कार्यों के लिए दक्षिणा अच्छी मानी जाती है। शुक्ल पक्ष के उदय में वाम (बाईं) अच्छी मानी गई है और कृष्ण पक्ष के उदय में दक्षिणा। तीन तीन दिन के बाद इन्दु और सूर्य अर्थात् बाईं और दाहिनी नाड़ी का उदय शुभ माना गया है। अगर वायु का उदय चन्द्र से हो तो अस्त सूर्य से तथा सूर्य से उदय होने पर अस्त चन्द्र से शुभ माना गया है।

शुक्लपक्ष के आरम्भ अर्थात् प्रतिपदा के दिन वायु का शुभाशुभ संचार देखना चाहिए। पहिले तीन दिन तक पवन शशि अर्थात् वामनासिका में उदित होता है। फिर तीन दिन

तक सूर्य में संक्रमण करता है। दुबारा फिर शशि में रहता है। इसी प्रकार तीन तीन दिन का क्रम पूर्णिमा तक रखना चाहिए। कृष्ण पक्ष में यह क्रम सूर्योदय अर्थात् दाहिनी नासिका से शुरू होता है।

हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र में इस सम्बन्ध की और भी बहुत सी बातें दी हैं। विस्तार से जानने के लिए उसका पाँचवाँ प्रकाश देखना चाहिए।

जिस व्यक्ति को योगाभ्यास या प्राणायाम सीखना हो, उसे किसी योग्य और अनुभवी गुरु की शरण लेनी चाहिए। गुरु के बिना अभ्यास करने से व्याधि वगैरह का डर रहता है। फिर भी प्रारम्भिक अवस्था में प्राणायाम का अभ्यास करने के लिए शास्त्रकारों ने जो उपाय बताए हैं, उन्हें यहाँ संक्षेप से लिखा जाता है।

प्राणायाम योग का चौथा अङ्ग है। इसे प्रारम्भ करने से पहिले तीन अङ्गों का उचित अभ्यास कर लेना आवश्यक है। इसके बिना प्राणायाम में अच्छी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। वे तीन अङ्ग हैं, यम, नियम और आसन। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। शौच (आभ्यन्तर और बाह्य), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। यम और नियम अच्छी तरह सिद्ध हो जाने के बाद आसनों का अभ्यास करना चाहिए। आसनों के अभ्यास से शरीर शुद्ध हो जाता है। आलस्य दूर होता है तथा मनुष्य प्राणायाम के योग्य बन जाता है। आसनों का अभ्यास भी गुरु के समक्ष किया जाय तो अच्छा है।

डा० जगदीश मित्र मित्तल । Race and Personality नामक पुस्तक में प्राणायाम प्रारम्भ करने से पहिले इस

आसनों का अभ्यास बताया है।

(१) खुली और शुद्ध हवा में सीधा खड़ा होकर मुँह द्वारा सांस को अन्दर खींचे। सांस खींचते समय हाथों को भी सीधे रखकर धीरे धीरे सिर के ऊपर ले जाय। फिर धीरे २ हाथों को नीचे लाते हुए नाक द्वारा सांस छोड़ दे। यह अभ्यास धीरे धीरे बढ़ा कर इक्कीस दफा करना चाहिए। इससे मुख की कान्ति बढ़ती है तथा शरीर में फुरती आती है। हठयोगदीपिका में इसके बहुत गुण बताए गए हैं।

(२) नीचे बैठकर एक पैर की एड़ी से अपान गुह्य भाग को दबावे तथा दूसरे को सीधा रखकर हाथ से पकड़े। सांस अन्दर खींचकर पैर को पकड़े और सांस बाहर निकालते हुए छोड़े। यह अभ्यास दाएं और बाएं पैर द्वारा बारी बारी से करे। एक एक पैर से सात बार करने से यह अभ्यास पूरा हो जाता है। इससे पेट की सब बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। गरिष्ठ आहार भी पच जाता है।

(३) सीधे लेटकर पैरों को धीरे धीरे ऊपर उठाया जाय। यहाँ तक कि शरीर का सारा बोझ छाती पर आ जाय। इसी अवस्था में पाँच मिनट तक रुका रहे। पैर बिल्कुल सीधे रक्खे, यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो सहारे के लिए हाथ कमर से लगा ले। इस आसन से रक्त शुद्धि होती है। मेरुदण्ड अर्थात् रीढ़ की हड्डी के सब विकार दूर हो जाते हैं। इसे ऊर्ध्वसर्वाङ्ग आसन भी कहा जाता है।

(४) सीधा लेटकर शरीर को कड़ा करके धीरे धीरे हाथों के बल ऊपर उठे। उठते समय पैर और हाथों के सिवाय और कोई अङ्ग जमीन से छुआ हुआ न होना चाहिए। इस प्रकार पन्द्रह बीस दफे शक्त्यनुसार करे। यह एक तरह का दण्ड ही है।

इससे भुजाओं और छाती में बल आता है।

(५) सीधा खड़ा होकर हाथों को सामने फैलादे, फिर सांस भर कर हाथों पर भार डालता हुआ उन्हें मोड़े। इस प्रकार एक सांस में तीन चार बार करे। यह कसरत प्रत्येक हाथ से क्रमशः करनी चाहिये। इससे भी भुजाओं में बल आता है।

(६) सिर के नीचे तकिया वगैरह रख कर धीरे धीरे सारे शरीर को ऊपर उठावे। इस आसन को शीर्षासन या विपरीत करणी भी कहते हैं। इससे बहुत लाभ होते हैं, किन्तु अविधि से करने पर नुकसान होने का भी डर रहता है। इसलिए यह आसन शुरू करने से पहिले किसी योग्य गुरु या पुस्तक से उसकी विधि जान लेनी चाहिए। जिनकी आंखें कमजोर हों उनके लिए यह आसन हानिकर है।

शरीर को स्वस्थ और प्राणायाम के योग्य बनाने के लिए और भी बहुत तरह के आसन या विधियाँ बताई गई हैं। अपने लिए योग्य विधि छाँटकर लगातार अभ्यास करना चाहिए। सूर्य नमस्कार भी इसके लिए बहुत लाभदायक है।

आसनों द्वारा शरीर स्वस्थ हो जाने के बाद सुखासन से बैठकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति जिस आसन से अधिक देर तक बिना किसी कष्ट का पीड़ा पहुँचाए बैठ सके उसे सुखासन कहते हैं। इसमें रीढ़ की हड्डी बिल्कुल सीधी रहनी चाहिए। दृष्टि नाक के अग्रभाग पर लगी हो। छाती और मस्तक एक ही रेखा में हों। अगर निम्न लिखित आसन से बैठा जाय तो सिद्धि बहुत शीघ्र होती है। बाएँ पैर की एड़ी गुह्य स्थान से लगी हुई हो और दाहिने पैर की नाभि के कुछ नीचे के भाग को छूती हो। पद्मासन से बैठना भी लाभदायक है। स्वस्तिक, वज्रासन या कमलासन विशा

कर उस पर सुखासन से बैठ जाय। बाईं नासिका से धीरे धीरे साँस अन्दर खींचे और दाहिनी नासिका से बिना रोके धीरे धीरे छोड़े। कुछ दिनों तक प्रतिदिन दो तीन बार यही अभ्यास करना चाहिए। प्रात, मध्याह्न और सायंकाल प्राणायाम के लिए अच्छे माने गए हैं। कम से कम एक हफ्ते तक वायु रोकने का प्रयत्न न करे। इस तरह धीरे धीरे वायु खींचने और छोड़ने का क्रम सा बँध जायगा। इससे चित्त की प्रसन्नता बढ़ेगी और ऐसा मालूम पड़ेगा मानो श्वासोच्छ्वास वश में हो रहा है। इस क्रिया का जब खूब अभ्यास हो जाय और चित्त प्रसन्नता का अनुभव करने लगे तो कुम्भक का भी अभ्यास करना चाहिए।

सीधा बैठ कर वायु को एक बार शरीर से बाहर निकाल दे। फिर अंगूठे से दाहिनी नासिका को दबा कर बाईं नासिका द्वारा धीरे धीरे साँस अन्दर खींचे। इस क्रिया को चार सैकण्ड से शुरू करे। फिर दोनों नासिकाएं बन्द करके १६ सैकण्ड तक साँस रोके अर्थात् कुम्भक करे। बाद में ८ सैकण्ड में धीरे धीरे दाहिनी नासिका से छोड़े। बाईं नासिका को छगुनी और अनामिका अंगुली से दबा रखे। फिर दाहिनी नाक से साँस खींचे और बिना रोके ही बाईं नाक से बाहर निकाल दे। १६ सैकण्ड तक साँस को बाहर निकाली हुई अवस्था में रखे। इसके बाद धीरे धीरे बाईं नाक से अन्दर खींचे। प्रत्येक बार साँस लेने में चार, रोकने में १६ और बाहर निकालने में ८ सैकण्ड लगने चाहिएं। इस क्रिया का अभ्यास हो जाने के बाद धीरे धीरे समय को बढ़ावे। लेने में पाँच, रोकने में बीस और छोड़ने में दस सैकण्ड कर दे। इसी अनुपात से टाइम बढ़ाते हुए पूरी क्रिया में पाँच मिनिट तक पहुँच जाने पर बहुत फायदा प्रत्यक्ष दिखाई

करते हैं। ये नरक सात पृथ्वियों में विभक्त हैं। अथवा मनुष्य और पशु जहाँ पर अपने अपने पापों के अनुसार भयङ्कर कष्ट उठाते हैं उन्हें नरक कहते हैं। सातों पृथ्वियों के नाम, स्वरूप और वर्णन नीचे दिये जाते हैं।

नाम– (१) घम्मा, (२) वंसा, (३) सीला, (४) अंजना, (५) रिट्ठा, (६) मघा, (७) माघवई। इन सातों के गोत्र हैं— (१) रत्नप्रभा, (२) शर्कराप्रभा, (३) वालुकाप्रभा, (४) पङ्कप्रभा (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा और (७) महातमःप्रभा।

शब्दार्थ से सम्बन्ध न रखने वाली अनादिकाल से प्रचलित संज्ञा को नाम कहते हैं। शब्दार्थ का ध्यान रखकर किसी वस्तु को जो नाम दिया जाता है उसे गोत्र कहते हैं। घम्मा आदि सात पृथ्वियों के नाम हैं और रत्नप्रभा आदि गोत्र।

(१) रत्नकाण्ड की अपेक्षा से पहिली पृथ्वी का रत्नप्रभा कहा जाता है।

(२) शर्करा अर्थात् तीखे पत्थर के टुकड़ों की अधिकता होने के कारण दूसरी पृथ्वी को शर्कराप्रभा कहा जाता है।

(३) वालुका अर्थात् बालू रेत अधिक होने से तीसरी पृथ्वी का वालुकाप्रभा कहा जाता है।

(४) कादव अधिक होने से चौथी को पङ्कप्रभा कहा जाता है।

(५) धूएं के रंगवाले द्रव्यविशेष की अधिकता के कारण पाँचवीं पृथ्वी का गोत्र धूमप्रभा है।

(६) अन्धकार की अधिकता के कारण छठी नरक को तमःप्रभा कहा जाता है।

(७) महातमस अर्थात् गाढ़ अन्धकार से पूर्ण होने के कारण सातवीं नरक को महातमःप्रभा कहा जाता है। इसको तमस्तमःप्रभा भी कहा जाता है उसका अर्थ है जहाँ निविड़ (घोर)

सुपकार की मधिकता हो।(जीवा० ३ सू ८७)(पन्न०पद १०२ सू० ७१)

पहली नारकी में तीस लाख नरकावास हैं। दूसरी में पचीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख और सातवीं में पाँच। सातवीं के पाँच नरकावासों के नाम इस प्रकार हैं-पूर्व दिशा में काल,पश्चिम में महाकाल,दक्षिण में रौरव, उत्तर में महारौरव, और बीच में अप्रतिष्ठानक। कुल मिलाकर चौरासी लाख नरकावास हैं। (पन्न पद १०२ सू १७१)

अत्यन्त उष्ण या अत्यन्त शीत होने के कारण क्षेत्रजन्य वेदना सातों नरकों में होती है। पाँचवीं नरक तक आपस में एक दूसरे के प्रहार से वेदना होती है अर्थात् वैक्रिय शरीर द्वारा से नारकी के जीव तरह तरह के भयङ्कर रूप बना कर एक दूसरे को त्रास देते हैं। गदा, मुद्गर वगैरह शस्त्र बना कर एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं। बिच्छू या साँप बन कर काटते हैं। कीड़े बन कर सारे शरीर में घुस जाते हैं। इस तरह के रूप नारकी जीव सख्यात ही करा सकता है, असंख्यात नहीं। एक शरीर से सम्बद्ध (जुड़े हुए) ही कर सकता है, असम्बद्ध नहीं। एक सदृश ही कर सकता है भिन्न भिन्न प्रकार के नहीं। धूमप्रभा पृथ्वी तक नारकी जीव इस तरह एक दूसरे के द्वारा दुःख का अनुभव करते हैं। छठी और सातवीं नरक के जीव भी तरह तरह के कीड़े बन कर एक दूसरे को कष्ट पहुँचाते हैं। पहिली तीनों नरकों में परमाधार्मिक देवताओं के कारण भी वेदना होती है।

क्षेत्रस्वभाव से रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा में उष्ण वेदना होती है। इन तीनों नरकों में करोड़ों हिमालय बर्फ की तरह शीतल होते हैं। इसलिए वहाँ पैदा हुए नारकों की

प्रकृति भी शीतप्रधान होती है। थोड़ी सी गर्मी भी उनको बहुत दुःख देती है। उत्पत्तिस्थानों के अत्यन्त शीत और वहाँ की सारी भूमि जलते हुए खैर के अङ्गारों से भी अधिक तप्त होने के कारण वे भयङ्कर उष्णवेदना का अनुभव करते हैं। इसी तरह दूसरे नरकों में अपने २ स्वभाव के विपरीत वेदना होती है।

पङ्कप्रभा में ऊपर के अधिक नरकावासों में उष्णवेदना होती है। नीचे वाले नरकावासों में शीत वेदना होती है। धूमप्रभा के अधिक नरकावासों में शीत और थोड़ों में उष्णवेदना होती है। छठी और सातवीं नरक में शीतवेदना ही होती है। यह वेदना नीचे नीचे नरकों में अनन्तगुणी तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होती है। ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न के समय जब आकाश में कोई बादल न हो, वायु बिल्कुल बन्द हो, सूर्य प्रचण्ड रूप से तप रहा हो उस समय पित्त प्रकृति वाला व्यक्ति जैसी उष्ण वेदना का अनुभव करता है उष्णवेदना वाले नरकों में उससे भी अनन्तगुणी वेदना होती है। यदि उन जीवों को नरक से निकाल कर प्रबल रूप से जलते हुए खैर के अङ्गारों में डाल दिया जाय तो वे अमृत रस से स्नान किए हुए व्यक्ति की तरह अत्यन्त सुख अनुभव करेंगे। इस सुख से उन्हें नींद भी आजायगी।

पौष या माघ की मध्यरात्रि में आकाश के मेघ शून्य होने पर जिस समय शरीर को कँपाने वाली शीत वायु चल रही हो, हिमालय गिरि के बर्फीले शिखर पर बैठा हुआ आग मकान और वस्त्रादि शीत निवारण के सभी साधनों से हीन व्यक्ति जैसी शीतवेदना का अनुभव करता है उससे अनन्तगुणी वेदना शीतप्रधान नरकों में होती है। यदि उन जीवों को नरक से निकाल कर उक्त पुरुष के स्थान पर बैठा दिया जाय तो उन्हें परम सुख प्राप्त हो और नींद भी आजाय।

भूख, प्यास, खुजली, परवशता, ज्वर, दाह, भय, शोक आदि दूसरी वेदनाएं भी नारकी के जीवों के होती हैं। हमेशा भयङ्कर क्षुधाग्नि से जलते रहते हैं। सारे संसार के पदार्थ खा लेने पर भी उन्हें तृप्ति न हो। हमेशा प्यास से कण्ठ, ओठ, तालु, जीभ आदि सूखे रहते हैं। सारे समुद्रों का पानी पी लेने पर भी उनकी प्यास न बुझे। खुजली छुरी से खुजलाने पर भी न मिटे। दूसरी वेदनाएं भी यहाँ से अनन्तगुणी होती हैं। नारकजीवों का अवधि ज्ञान या विभङ्गज्ञान भी उनके दुःखों का ही कारण होता है। वे दूर से ही ऊपर नीचे तथा तिर्छी दिशा से आते हुए दुःखों के कारणों को देख लेते हैं और भय से काँपने लगते हैं।

नारकी जीव दो तरह के होते हैं-सम्यग्दृष्टि और मिथ्या दृष्टि। सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे द्वारा की गई वेदना का अनुभव करते हुए यह सोचते हैं कि हमने पिछले जन्म में प्राणियों की हिंसा वगैरह घोर पाप किए थे, इसीलिए इस जन्म में दुःख भोग रहे हैं। यह समझ कर वे दूसरे जीव द्वारा दिए गए कष्ट को तो सम्यक्प्रकार सहते हैं किन्तु अपनी तर्फ से दूसरे को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि वे नए कर्मबन्ध से बचना चाहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव क्रोधादि कषायों से अभिभूत होकर अपने बाँधे हुए कर्म रूपी वास्तविक शत्रु को न समझ कर दूसरे नारकी जीवों को मारने दौड़ते हैं। इस तरह वे सब आपस में लड़ते रहते हैं। जिस तरह नए कुत्ते को देखकर गाँव के कुत्ते भौंकने लगते हैं, इसी तरह नारकी जीव एक दूसरे को देखते ही क्रोध में भर जाते हैं। अपने शरीर ही को चीरने फाड़ने मारने आदि के लिए तरह तरह की विक्रियाएं करते हैं। इस तरह एक दूसरे द्वारा पीड़ित होते हुए करुण क्रन्दन करते हैं।

परमाधार्मिक देवों द्वारा जो वेदना दी जाती है उसका

स्वरूप इस प्रकार है। ये उन्हें तपा हुआ सीसा पिलाते हैं। तपी हुई लोहमय स्त्री से आलिङ्गन करवाते हैं। कूट शाल्मली वृक्ष के नीचे बैठा देते हैं जिससे तलवार सरीखे पत्तों से उस के अंग छिद जाते हैं। लोहे के हथौड़े से कूटते हैं। बसोले आदि से छीलते हैं। घाव पर नमक या तपा हुआ तेल डाल देते हैं। भाले में पिरो देते हैं। भाड़ में भूनते हैं। कोल्हू में पेलते हैं। करोती से चीरते हैं। विक्रिया के द्वारा बनाए हुए काक, सिंह आदि द्वारा तंग करते हैं। तपी हुई बालू में फेंक देते हैं। असिपत्र वन में बैठा देते हैं जहाँ तलवार सरीखे पत्ते गिर २ कर उनके अङ्गों को काट डालते हैं। वैतरणी नदी में डुबो देते हैं और भी अनेक तरह की यातनाएं देते हैं। कुम्भीपाक में पकाए जाते हुए नारक पाँच सौ योजन तक ऊँचे उछलते हैं। फिर वहीं आकर गिरते हैं। इनका वर्णन जीवाभिगम, सूयग डांग, पन्नवणा, प्रश्नव्याकरण आदि शास्त्रों में दिया गया है।
(जीवा प्र. ३ सूत्र ८६)(प्रश्न व्या १ सू ४)(प्रव द्वा १७४ गा ७)

स्थिति—रत्नप्रभा में उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम है। शर्करा-प्रभा में तीन सागरोपम। वालुकाप्रभा में सात। पङ्कप्रभा में दस। धूमप्रभा में सतरह। तमःप्रभा में बाईस। तमस्तमःप्रभा में तेतीस।

जघन्य स्थिति पहली नारकी में दस हजार वर्ष। दूसरी में एक सागरोपम। तीसरी में तीन। चौथी में सात। पाँचवीं में दस। छठी में सतरह। सातवीं में बाईस। (जीवा प्रति ३ सू ८)(पन्न प. ४ सू. ९४)

अवगाहना—अवगाहना दो तरह की है—भवधारणीया और उत्तरविक्रिया। जन्म से लेकर मृत्यु तक शरीर का जो परिमाण होता है अर्थात् जो स्वाभाविक परिमाण है, उसे भवधारणीया अव गाहना कहते हैं। स्वाभाविक शरीर धारण करने के बाद किसी कार्य विशेष से जो शरीर बनाया जाता है उसे उत्तरविक्रिया कहते हैं। पहली पृथ्वी में भवधारणीया उत्कृष्ट अवगाहना सात धनुष

तीन रत्नियाँ (हाथ) और छः अंगुल होती है अर्थात् उत्सेधांगुल से उनकी अवगाहना सवा इकत्तीस हाथ होती है। इससे आगे की नरकों में दुगुनी दुगुनी अवगाहना है अर्थात् शर्कराप्रभा में पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल उत्कृष्ट अवगाहना होती है। तीसरी वालुकाप्रभा में इकत्तीस धनुष एक हाथ। चौथी पंकप्रभा में बासठ धनुष दो हाथ। पाँचवीं धूमप्रभा में एक सौ पचीस धनुष। छठी तमःप्रभा में ढाई सौ धनुष। सातवीं तमस्तम प्रभा में पाँच सौ धनुष।

जिस नारकी में जितनी भवधारणीया अवगाहना है, उस से दुगुनी उत्तरविक्रिया की उत्कृष्ट अवगाहना है अर्थात् पहली नारकी में पन्द्रह धनुष ढाई हाथ। दूसरी से इकत्तीस धनुष एक हाथ। तीसरी में बासठ दो हाथ। चौथी में सवा सौ धनुष। पाँचवीं में ढाई सौ धनुष। छठी में पाँच सौ धनुष। सातवीं में एक हजार धनुष।

सभी नरकों में भवधारणीया जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवाँ भाग होती है। वह उत्पत्ति के समय होती है, दूसरे समय नहीं। उत्तरविक्रिया में जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवाँ भाग होती है। वह भी प्रारम्भ काल में ही रहती है। कहीं कहीं पर अंगुल का असंख्यातवाँ भाग कहा जाता है। किन्तु शास्त्रों में संख्यातवाँ भाग ही है। प्रज्ञापना और अनुयोग द्वार में संख्यातवाँ भाग ही बताया गया है।

अन्तरकाल—तिर्यञ्च और मनुष्य गति के जीव नरकगति में सदा उत्पन्न होते रहते हैं। अगर कभी व्यवधान (अन्तर) होता है तो सारी नरक गति को लेकर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त का होता है अर्थात् उत्कृष्ट से उत्कृष्ट इतनी देर तक कोई भी जीव दूसरी गति से नरक में उत्पन्न नहीं

होता। प्रत्येक पृथ्वी की अपेक्षा से रत्नप्रभा में उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त का विरह पड़ता है। शर्कराप्रभा में सात अहोरात्र। वालुकाप्रभा में पन्द्रह अहोरात्र। पंकप्रभा में एक महीना। धूमप्रभा में दो मास। तमःप्रभा में चार मास। तमस्तम प्रभा में छः मास। जघन्य से जघन्य विरह रत्नप्रभादि सभी नरकों में एक समय है। उद्वर्तना अर्थात् नारकी जीवों के नरक से निकलने का भी उतना ही अन्तर काल है जितना उत्पाद विरह काल।

एक समय में कितने जीव उत्पन्न होते हैं और कितने निकलते हैं? यह संख्या नारकी जीवों की देवों की तरह है अर्थात् एक समय में जघन्य एक अथवा दो, उत्कृष्ट संख्यात अथवा असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। (प्र० प० ६ सू० १२१ १२२)

लेश्या—सामान्य रूप से नारकी जीवों में पहिली तीन अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएं होती हैं। रत्नप्रभा में कापोत लेश्या ही होती है। शर्कराप्रभा में तीव्र कापोत लेश्या होती है। वालुकाप्रभा में कापोतनील लेश्या होती है, ऊपर के नरकावासों में कापोत तथा नीचे के नरकावासों में नील लेश्या होती है। पंकप्रभा में सिर्फ नील लेश्या होती है। धूमप्रभा में नील और कृष्ण लेश्याएं होती हैं ऊपर के नरकावासों में नील तथा नीचे कृष्ण। तम प्रभा में कृष्ण लेश्या ही होती है। तमस्तमःप्रभा में बहुत तीव्र कृष्ण लेश्या होती है। इन में उत्तरोत्तर तीव्र अधिकाधिक क्लिष्ट परिणाम वाली लेश्याएं होती हैं।

कुछ लोगों का मत है कि नारकों की ये लेश्याएं भाव नहीं रूप द्रव्य लेश्याएं समझनी चाहिएं। अन्यथा शास्त्र में जो सातवीं नरक के जीवों के सम्यक्त्व बताया गया है, वह असंगत हो जाएगा क्योंकि आवश्यक सूत्र में ऊपर की तीन अर्थात् तेज,

पद्म और शुक्ल लेश्या वाले जीवों के ही सम्यक्त्व का होना बताया गया है। ऊपर की तीन लेश्याएं उन जीवों के नहीं हैं। सातवीं पृथ्वी में कृष्ण लेश्या ही है। नारकियों के तीन ही लेश्याएं होती हैं, पर कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्र में नारकों के तीन द्रव्य लेश्याएं बताई गई हैं। भावों के परिवर्तन की विवक्षा से तो देव और नारकों में छहों लेश्याएं हैं। इस लिए नारकी जीवों की ये तीन लेश्याएं और देवों की ऊपर की तीन लेश्याएं बाह्य वर्ण रूप द्रव्य लेश्याएं समझनी चाहिए।

यह ठीक नहीं है। लेश्या का अर्थ शुभाशुभ परिणाम है। उसके उत्पन्न करने वाले कृष्णादि रूप द्रव्य नारकों के हमेशा पास रहते हैं। इन कृष्णादि रूप द्रव्यों से जीव के जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, मुख्य रूप से वे ही लेश्याएं हैं। गौण रूप से कारण में कार्य का उपचार करने पर कृष्णादि द्रव्य भी लेश्या कहलाते हैं। नारक और देवों के ये द्रव्य द्रव्यलेश्या हैं। वे द्रव्य देव और नारकों के हमेशा साथ रहते हैं। ये लेश्याद्रव्य मनुष्य और तिर्यञ्चों में किसी दूसरी लेश्या का आवेग होने पर उसी लेश्या के रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे श्वेत वस्त्र मजिष्ठादि से रंगने पर दूसरे रंग का हो जाता है। इसी तरह पहिली लेश्या अपने स्वरूप को छोड़कर सर्वथा दूसरे रूप में परिणत हो जाती है। नारक और देवों में किसी दूसरी लेश्या के द्रव्यों का सम्पर्क होने पर तदाकारता या उसका प्रतिबिम्ब मालूम पड़ता है, स्वरूप का परिवर्तन नहीं होता। जैसे वैडूर्यमणि में काला धागा पिरोने से उस पर थोड़ी सी काली छाया पड़ती है, अथवा स्फटिकादि के पास जवाकुसुम रखने से जैसे उसका रंग लाल मालूम पड़ता है किन्तु कुसुम के हट जाने पर स्फटिक फिर शुभ्र हो जाता है। इसी तरह देव और नारकों

में अन्य द्रव्य जब तक उपस्थित रहता है तब तक दूसरी लेश्या हो जाती है किन्तु उसके हटते ही फिर पहिली लेश्या आ जाती है। इसीलिए देव और नारकी जीवों के अलग अलग लेश्याएं बताई गई हैं। पन्नवणा सूत्र के सतरहवें लेश्यापद में यही बात बताई गई है। इसी तरह सातवीं नरक में भी जब कृष्ण लेश्या, तेजोलेश्या आदि के द्रव्यों को प्राप्त करके तदाकार या उसके प्रतिबिम्ब वाली हो जाती है। उस समय स्थायी रूप से कृष्णलेश्या के होने पर भी तेजोद्रव्य के सम्पर्क से नारक जीव के शुभपरिणाम आ जाता है, जैसे जपाकुसुम के सान्निध्य से स्फटिक में लालिमा आ जाती है। उन परिणामों के समय उस जीव के सम्यक्त्व प्राप्ति हो सकती है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सातवीं नरक में तेजोलेश्या हो गई तो कथन कृष्णलेश्या का बताना असंगत है, क्योंकि यहाँ स्थायी रूप से कृष्णलेश्या ही रहती है। दूसरी लेश्या आने पर भी यह ठहरती नहीं है। कुछ देर स्थिर रहने पर भी कृष्ण लेश्या के परमाणु अपना स्वरूप नहीं छोड़ते। इसीलिए सूत्रों में कृष्ण लेश्या ही बताई जाती है। इसी तरह संगम आदि देवों के स्वाभाविक रूप से तेजो लेश्या होने पर भी कभी कभी कृष्ण द्रव्यों के संयोग से वैसे परिणाम आ सकते हैं और उस समय वह भगवान् महावीर सरीखे तीन भुवनों के स्वामी को भी कष्ट दे सकता है। भावपरावृत्ति के कारण नारक जीवों के भी छहों लेश्याएं बताई जाती हैं वे भी इसी तरह उपपन्न हो जाती हैं। स्थायी रूप से तीन ही लेश्याएं रहती हैं। लेश्याओं को बाह्य वर्ण रूप मान लेने पर प्रज्ञापना सूत्र में की गई वर्ण और लेश्याओं की अलग अलग पृच्छा असंगत हो जायगी।
(जीवा प्र ३ उ. ८८)(प्रव द्वा. १७८ गा. १०८३)

अवधिज्ञान–रत्नप्रभा में चार गव्यूति अर्थात् आठ मील

तब उत्कृष्ट अवधिज्ञान होता है। शर्कराप्रभा में साढ़े तीन गव्यूति अर्थात् सात मील, वालुकाप्रभा में तीन गव्यूति अर्थात् छः मील, पङ्कप्रभा में अढ़ाई गव्यूति अर्थात् पांच मील, धूमप्रभा में दो गव्यूति अर्थात् चार मील, तम प्रभा में डेढ़ गव्यूति अर्थात् तीन मील, सातवीं महातमःप्रभा में एक गव्यूति अर्थात् दो मील। ऊपर लिखे हुए परिमाण में से आधी गव्यूति अर्थात् एक मील कम कर देने पर प्रत्येक नरक में जघन्य अवधिज्ञान का परिमाण निकल आता है अर्थात् पहिली रत्नप्रभा में जघन्य साढ़े तीन गव्यूति अवधिज्ञान होता है। दूसरी में तीन, तीसरी में ढाई, चौथी में दो, पांचवीं में डेढ़, छठी में एक और सातवीं में आधी गव्यूति अर्थात् एक मील। (जीवा प्रति ३ सू ८८) (प्रवचन १७८ गा १०८४)

परमाधार्मिक—तीसरी नारकी तक जीवों को परमाधार्मिकों के कारण भी कष्ट मिलता है। परमाधार्मिकों के पन्द्रह भेद हैं।

(१) अम्ब—असुर जाति के जो देव नारकी जीवों को आकाश में ले जाकर एक दम छोड़ देते हैं।

(२) अम्बरीष—जो नारकी जीवों के छुरी वगैरह से आठे आठ टुकड़े करके भाड़ में पकने योग्य बनाते हैं।

(३) श्याम—जो रस्सी या लात घूँसे वगैरह से नारकी जीवों को पीटते हैं और भयङ्कर स्थानों में पटक देते हैं तथा काले रंग के होते हैं वे श्याम कहलाते हैं।

(४) शबल—जो शरीर की आंतें, नसें और कलेजे आदि को बाहर खींच लेते हैं तथा शबल अर्थात् चितकबरे रंग वाले होते हैं उन्हें शबल कहते हैं।

(५) रौद्र—जो शक्ति और भाला वगैरह में नारकी जीवों को पिरो देते हैं, बहुत भयङ्कर होने के कारण उन्हें रौद्र कहते हैं।

(६) उपरौद्र—जो उनके अंगोपांगों को फाड़ डालते हैं वे उपरौद्र हैं।

(७) काल–जो उन्हें कड़ाहे वगैरह में पकाते हैं और काले रंग के होते हैं, वे काल कहलाते हैं।
(८) महाकाल–जो चिकने मांस के टुकड़े टुकड़े करते हैं, उन्हें खिलाते हैं और बहुत काले होते हैं वे महाकाल कहलाते हैं।
(९) असिपत्र–जो वैक्रिय शक्ति द्वारा असि अर्थात् खड्ग के आकार वाले पत्तों से युक्त वन की विक्रिया करके उसमें बैठे हुए नारकी जीवों के ऊपर तलवार सरीखे पत्ते गिरा कर तिल सरीखे छोटे छोटे टुकड़े कर डालते हैं वे असिपत्र कहलाते हैं।
(१०) धनु–जो धनुष के द्वारा अर्धचन्द्रादि बाणों को छोड़ कर नारकी जीवों के कान आदि काट डालते हैं वे धनु कहलाते हैं।
(११) कुम्भ–भगवती सूत्र में महाकाल के बाद असि दिया गया है। उसके बाद असिपत्र और उसके बाद कुम्भ दिया गया है। जो तलवार से उन जीवों को काटते हैं, वे असि कहलाते हैं और जो कुम्भियों में उन्हें पकाते हैं वे कुम्भ कहलाते हैं।
(१२) बालुक–जो वैक्रिय के द्वारा बनाई हुई कदम्ब पुष्प के आकार वाली अथवा वज्र के आकार वाली बालू रेत में चनों की तरह नारकी जीवों को भूनते हैं वे बालुक कहलाते हैं।
(१३) वैतरणी–जो असुर गरम मांस, रुधिर, राध, ताम्बा, सीसा, आदि गर्म पदार्थों से उबलती हुई नदी में नारकी जीवों को फैंक कर उन्हें तैरने के लिए कहते हैं वे वैतरणी कहलाते हैं।
(१४) खरस्वर–जो वज्र कण्टकों से व्याप्त शाल्मली वृक्ष पर नारकों को चढ़ा कर कठोर स्वर करते हुए अथवा करुण रुदन करते हुए नारकी जीवों को खींचते हैं।
(१५) महाघोष–जो डर से भागते हुए नारकी जीवों को पशुओं की तरह बाड़े में बन्द कर देते हैं तथा जोर से चिल्लाते हुए वहीं रोक रखते हैं वे महाघोष कहलाते हैं।

(प्रव. द्वा. गा. १८-१८९)

पूर्व जन्म में क्रूरक्रिया तथा संक्लिष्ट परिणाम वाले हमेशा पाप में लगे हुए भी कुछ जीव पंचाग्नि तप वगैरह अज्ञान पूर्वक किए गए कायक्लेश से आसुरी अर्थात् राक्षसी गति को प्राप्त करते हैं। ये ही परमाधार्मिक बनकर पहली तीन नरकों में कष्ट देते हैं। जिस तरह यहाँ मनुष्य भैंसे, मेंढे और कुक्कुट के युद्ध को देख कर खुश होते हैं। उसी तरह परमाधार्मिक भी कष्ट पाते हुए नारकी जीवों को देख कर खुश होते हैं। खुश होकर अट्टहास करते हैं, तालियाँ बजाते हैं। इन बातों से परमाधार्मिक बड़ा आनन्द मानते हैं।

उद्वर्तना— पहिली तीन नरकों से निकल कर जीव तीर्थङ्कर हो सकते हैं अर्थात् नरक में जाने से पहिले जिन जीवों ने तीर्थङ्कर नामकर्म बाँध लिया है वे रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा से निकल कर तीर्थंकर हो सकते हैं। जैसे श्रेणिक महाराज। चौथी नरक से निकल कर जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं लेकिन तीर्थङ्कर नहीं हो सकते। पाँचवीं से निकल कर सर्वविरति रूप मुनिवृत्ति तो प्राप्त कर सकते हैं लेकिन केवली नहीं हो सकते। छठी से निकल कर देशविरति रूप श्रावकपन की प्राप्ति कर सकते हैं, साधु नहीं हो सकते। सातवीं से निकल कर सम्यग्दर्शन रूप सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, व्रत अङ्गीकार नहीं कर सकते।

संक्षेप में पहिली तीन से निकल कर तीर्थङ्कर, चौथी से निकल कर केवलज्ञानी, पाँचवीं से निकल कर संयमी, छठी से निकल कर देशविरत और सातवीं से निकल कर सम्यक्त्वी हो सकते हैं।

ऋद्धि की अपेक्षा से उद्वर्तना इस प्रकार है। पहिली से निकल कर चक्रवर्ती हो सकते हैं और किसी से निकल कर नहीं। दूसरी तक से निकल कर बलदेव या वासुदेव हो सकते हैं। तीसरी से अरिहन्त। चौथी से चरम शरीरी। छठी तमःप्रभा

से निकल कर नारकी जीव मनुष्य हो भी सकते हैं, नहीं भी। किन्तु उन में सर्वविरति रूप चारित्र नहीं आ सकता। सातवीं से निकल कर तिर्यञ्च ही होते हैं उन्हें मनुष्यत्व भी प्राप्त नहीं होता।
(प्रव द्वा १८१ गा १०८७-१ १) (पन्न. प. १ सू १११)

आगति– असंज्ञी अर्थात् सम्मूर्छिम तिर्यञ्च पहली नरक तक ही जाते हैं उससे नीचे की नरकों में नहीं जाते। सम्मूर्छिम मनुष्य अपर्याप्तावस्था में ही काल कर जाते हैं इसलिए वे नरक में नहीं जाते। असंज्ञी तिर्यञ्च भी जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयुष्य वाले ही होते हैं। सरीसृप अर्थात् भुजपरिसर्प जैसे—गोह, नकुल वगैरह दूसरी नरक तक ही जा सकते हैं। गर्भज पक्षी गिद्ध वगैरह तीसरी नरक तक ही जा सकते हैं। सिंह तथा उस जाति के चौपाए जानवर चौथी नरक तक ही जा सकते हैं। गर्भज उरग अर्थात् साँप वगैरह पाँचवीं नरक तक ही जा सकते हैं। गर्भज मत्स्य, जलचर और मनुष्य जो बहुत क्रूर अध्यवसाय वाले होते हैं वे सातवीं नरक में पैदा होते हैं। यह उत्पत्ति उत्कृष्ट बताई गई है। जघन्यरूप से सभी जीव नरक के पहिले प्रतर में तथा मध्यम रूप से दूसरे प्रतर से लेकर मध्य के स्थानों में उत्पन्न हो सकते हैं।

नारकी जीव नरक से निकल कर बहुलता से साँप, व्याघ्र सिंह, गिद्ध, मत्स्य आदि जातियों में संख्यात वर्ष की आयु स्थिति वाले होकर क्रूर अध्यवसाय से पञ्चेन्द्रियवध वगैरह करते हुए फिर नरक में चले जाते हैं। यह बात बहुलता से कही गई है, क्योंकि कुछ जीव मनुष्य या तिर्यञ्च में सम्यक्त्व पाकर शुभगति भी प्राप्त कर सकते हैं। (पन्नवणा पद ६)
(प्रश्नव्याकरण आश्रवद्वार १) (प्रवचनसारोद्धार द्वार १८१ गा.१ ११८१)

अठानवे हजार पाँच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक हैं। दोनों को मिला कर तीसरी नरक में पन्द्रह लाख नरकावास हैं।

पंकप्रभा में सात प्रतर हैं। पहिले प्रतर में प्रत्येक दिशा में सोलह तथा प्रत्येक विदिशा में पन्द्रह आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल मिला कर १२५ होते हैं। बाकी छह प्रतरों में पहिलों की तरह आठ आठ कम होते जाते हैं। कुल मिलाकर सात सौ सात आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। बाकी नौ लाख निन्यानवे हजार दो सौ तिरानवे प्रकीर्णक हैं। कुल मिला कर दस लाख नरकावास हैं।

धूमप्रभा में पाँच प्रतर हैं। पहले प्रतर की प्रत्येक दिशा में नौ नरकावास हैं और प्रत्येक विदिशा में आठ। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल मिला कर ६६ होते हैं। बाकी चार प्रतरों में आठ आठ कम होते जाते हैं। कुल मिला कर आवलिकाप्रविष्ट दो सौ पैंसठ हैं। बाकी दो लाख निन्यानवे हजार दो सौ पैंतीस प्रकीर्णक हैं। पाँचवीं नारकी में कुल तीन लाख नरकावास हैं।

तमःप्रभा में तीन प्रतर हैं। पहिले प्रतर की प्रत्येक दिशा में चार और विदिशा में तीन नरकावास हैं। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल उनतीस हुए। बाकी में आठ आठ कम हैं। तीनों प्रतरों में तरेसठ नरकावास आवलिकाप्रविष्ट हैं। बाकी निन्यानवे हजार नौ सौ बत्तीस प्रकीर्णक हैं। कुल मिलाकर छठी नारकी में पाँच कम एक लाख नरकावास हैं। सातवीं में प्रतर नहीं है और पाँच ही नरकावास हैं। प्रत्येक पृथ्वी के नीचे घनोदधि, घनवात, तनुवात तथा आकाश हैं। (जी प्रति. ३ सू ७)

रत्नप्रभा पृथ्वी का खर काण्ड सोलह हजार योजन मोटा है। इसी के सोलह विभाग रूप रत्न आदि काण्ड एक एक हजार योजन की मोटाई वाले हैं। रत्नप्रभा का पंकबहुल नाम

का दूसरा काण्ड चौरासी हजार योजन मोटा है। तीसरा अब्बहुल काण्ड अस्सी हजार योजन मोटा है। रत्नप्रभा के नीचे घनोदधि की बीस हजार योजन मोटाई है। घनवात की असंख्यात हजार योजन। तनुवात और आकाश भी असंख्यात हजार योजन की मोटाई वाले हैं।

शर्कराप्रभा के नीचे भी घनोदधि बीस हजार, तथा घनवात तनुवात और आकाश असंख्यात हजार योजन मोटाई वाले हैं। इसी तरह सातवीं नरक तक समझ लेना चाहिए।

ये सातों पृथ्वियाँ झल्लरी की तरह स्थित हैं। सब के ऊपर रत्नप्रभा का खरकाण्ड है। उस में भी पहिला रत्नकाण्ड उसके नीचे वज्रकाण्ड। इसी प्रकार रिष्ट काण्ड तक सोलह काण्ड हैं। खरकाण्ड के नीचे पंकबहुल काण्ड है। उसके नीचे अब्बहुल। घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश के नीचे शर्कराप्रभा है। इसी प्रकार सभी पृथ्वियाँ अवस्थित हैं।

मर्यादा- पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण सभी दिशाओं तथा विदिशाओं में रत्नप्रभा की सीमा से लेकर अलोकाकाश तक बारह योजन का अन्तर है। शर्कराप्रभा में तीसरा हिस्सा कम तेरह योजन (१२-२/३)। बालुकाप्रभा में तीसरा हिस्सा अधिक तेरह योजन (१३-१/३)। पंकप्रभा में चौदह योजन। धूमप्रभा में तीसरा भाग कम पन्द्रह योजन (१४-२/३)। तमःप्रभा में तीसरा भाग अधिक पन्द्रह योजन (१५-१/३)। सातवीं तमस्तमःप्रभा में १६ योजन। प्रत्येक पृथ्वी के चारों तर्फ तीन वलय हैं। घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय। इन वलयों की ऊँचाई प्रत्येक पृथ्वी की मोटाई के अनुसार है।

घनोदधिवलय की मोटाई रत्नप्रभा के चारों तर्फ प्रत्येक दिशा में छः योजन है। उसके बाद प्रत्येक पृथ्वी में योजन

बाहल्य (मोटाई)– रत्नप्रभा का बाहल्य अर्थात् मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। शर्कराप्रभा का एक लाख बत्तीस हजार, वालुकाप्रभा का एक लाख अट्ठाईस हजार, पङ्कप्रभा का एक लाख बीस हजार, धूमप्रभा का एक लाख अठारह हजार, तमःप्रभा का एक लाख सोलह हजार, तमस्तमःप्रभा का एक लाख आठ हजार।

काण्ड– भूमि के विशेष भाग को काण्ड कहते हैं। रत्नप्रभा के तीन काण्ड हैं। खर अर्थात् कठिन। पङ्कबहुल, जिस में कीचड़ ज्यादह है। अप्बहुल जिस में पानी ज्यादह है। खर काण्ड के सोलह विभाग हैं। (१) रत्नकाण्ड, (२) वज्रकाण्ड, (३) वैडूर्य काण्ड, (४) लोहित काण्ड, (५) मसारगल्ल काण्ड, (६) हंसगर्भ काण्ड, (७) पुलक काण्ड, (८) सौगन्धिक काण्ड, (९) ज्योतीरस काण्ड, (१०) अञ्जनकाण्ड, (११) अञ्जन पुलक काण्ड, (१२) रजत काण्ड, (१३) जातरूप काण्ड, (१४) अंक काण्ड, (१५) स्फटिक काण्ड और (१६) रिष्टरत्न काण्ड।

जिस काण्ड में जिस वस्तु की प्रधानता है उसी नाम से काण्ड का भी वही नाम है। प्रत्येक काण्ड की मोटाई एक हजार योजन है। पङ्कबहुल और अप्बहुल काण्ड एक ही प्रकार के हैं। शर्कराप्रभा आदि पृथ्वियाँ भी एक ही प्रकार की हैं। (जी० प्र० ३ उ० १)

प्रतर अथवा प्रस्तट– नरक के एक एक पाथड़े के बीच में जो स्थान होता है उसी तरह के स्थानों को प्रतर कहते हैं। रत्नप्रभा से लेकर छठी तमःप्रभा तक प्रत्येक पृथ्वी में दो तरह के नरकावास हैं। आवलिकाप्रविष्ट और प्रकीर्णक। जो नरकावास चारों दिशाओं में पंक्तिरूप से अवस्थित हैं वे आवलिकाप्रविष्ट कहे जाते हैं। इधर उधर बिखरे हुए प्रकीर्णक कहे जाते हैं। रत्नप्रभा में तेरह प्रतर हैं।

पहिले प्रतर के चारों तर्फ प्रत्येक दिशा में [illegible] नरकावास

हैं। प्रत्येक विदिशा में अड़तालीस। बीच में सीमन्तक नाम का नरकेन्द्रक है। सब मिलाकर पहिले प्रतर में तीन सौ नवासी आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। दूसरे प्रतर की प्रत्येक दिशा में अड़तालीस तथा विदिशा में सैंतालीस नरकावास हैं अर्थात् पहिले प्रतर से आठ कम हैं। इसी तरह सभी प्रतरों में दिशाओं और विदिशाओं में एक एक प्रतर कम होने से पूर्व से आठ आठ कम हो जाते हैं। कुल मिला कर तेरह प्रतरों में चार हजार चार सौ तेतीस नरकावास आवलिकाप्रविष्ट हैं। बाकी उनतीस लाख पचानवे हजार पाँच सौ सड़सठ प्रकीर्णक हैं। कुल मिला कर पहिली नारकी में तीस लाख नरकावास हैं।

शर्कराप्रभा में ११ प्रतर हैं। इसी तरह नीचे के नरकों में भी दो दो कम समझ लेना चाहिए। दूसरी नरक के पहिले प्रतर में प्रत्येक दिशा में ३६ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं और प्रत्येक विदिशा में पैंतीस। बीच में एक नरकेन्द्रक है। सब मिला कर दो सौ पचासी नरकावास हुए। दिशा और विदिशाओं में एक एक की कमी के कारण बाकी दस प्रतरों में क्रम से आठ आठ घटते जाते हैं। सभी प्रतरों में कुल मिला कर दो हजार छः सौ पचानवे आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। बाकी चौबीस लाख सत्तानवे हजार तीन सौ पाँच प्रकीर्णक हैं। दोनों को मिलाने से दूसरी नरक में पच्चीस लाख नरकावास होते हैं।

वालुकाप्रभा में नौ प्रतर हैं। पहिले प्रतर की प्रत्येक दिशा में पच्चीस और विदिशा में चौबीस आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल मिला कर एक सौ सत्तानवे नरकावास होते हैं। बाकी आठ प्रतरों में क्रम से आठ आठ कम होते जाते हैं। सभी प्रतरों में कुल मिलाकर एक हजार चार सौ पचासी नरकावास हैं। बाकी चौदह लाख,

अठानवे हजार पाँच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक हैं। दोनों को मिला कर तीसरी नरक में पन्द्रह लाख नरकावास हैं।

पंकप्रभा में सात प्रतर हैं। पहिले प्रतर में प्रत्येक दिशा में सोलह तथा प्रत्येक विदिशा में पन्द्रह आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल मिला कर १२५ होते हैं। बाकी छह प्रतरों में पहिली की तरह आठ आठ कम होते जाते हैं। कुल मिलाकर सात सौ सात आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं। बाकी नौ लाख निन्यानवे हजार दो सौ तिरानवे प्रकीर्णक हैं। कुल मिला कर दस लाख नरकावास हैं।

धूमप्रभा में पाँच प्रतर हैं। पहले प्रतर की प्रत्येक दिशा में नौ नरकावास हैं और प्रत्येक विदिशा में आठ। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल मिला कर ६९ होते हैं। बाकी चार प्रतरों में आठ आठ कम होते जाते हैं। कुल मिला कर आवलिकाप्रविष्ट दो सौ पैसठ हैं। बाकी दो लाख निन्यानवे हजार दो सौ पैंतीस प्रकीर्णक हैं। पाँचवीं नारकी में कुल तीन लाख नरकावास हैं।

तम प्रभा में तीन प्रतर हैं। पहिले प्रतर की प्रत्येक दिशा में चार और विदिशा में तीन नरकावास हैं। बीच में एक नरकेन्द्रक है। कुल उनतीस हुए। बाकी में आठ आठ कम हैं। तीनों प्रतरों में तरेसठ नरकावास आवलिकाप्रविष्ट हैं। बाकी निन्यानवे हजार नौ सौ बत्तीस प्रकीर्णक हैं। कुल मिलाकर छठी नारकी में पाँच कम एक लाख नरकावास हैं। सातवीं में प्रतर नहीं है और पाँच ही नरकावास हैं। प्रत्येक पृथ्वी के नीचे घनोदधि, घनवात, तनुवात तथा आकाश है। (जी. प्रति. ३ उ)

रत्नप्रभा पृथ्वी का खर काण्ड सोलह हजार योजन मोटा है। इसी के सोलह विभाग रूप रत्न आदि काण्ड एक एक हजार योजन की मोटाई वाले हैं। रत्नप्रभा का पंकबहुल नाम

का दूसरा काण्ड चौरासी हजार योजन मोटा है। तीसरा अप्बहुल काण्ड अस्सी हजार योजन मोटा है। रत्नप्रभा के नीचे घनोदधि की बीस हजार योजन मोटाई है। घनवात की असंख्यात हजार योजन। तनुवात और आकाश भी असंख्यात हजार योजन की मोटाई वाले हैं।

शर्कराप्रभा के नीचे भी घनोदधि बीस हजार, तथा घनवात तनुवात और आकाश असंख्यात हजार योजन मोटाई वाले हैं। इसी तरह सातवीं नरक तक समझ लेना चाहिए।

ये सातों पृथ्वियाँ झल्लरी की तरह स्थित हैं। सब के ऊपर रत्नप्रभा का खरकाण्ड है। उस में भी पहिले रत्नकाण्ड उसके नीचे वज्रकाण्ड। इसी प्रकार रिष्ट काण्ड तक सोलह काण्ड हैं। खरकाण्ड के नीचे पंकबहुल काण्ड है। उसके नीचे अप्बहुल। घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश के नीचे शर्कराप्रभा है। इसी प्रकार सभी पृथ्वियाँ अवस्थित हैं।

मर्यादा– पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण सभी दिशाओं तथा विदिशाओं में रत्नप्रभा की सीमा से लेकर अलोकाकाश तक बारह योजन का अन्तर है। शर्कराप्रभा में तीसरा हिस्सा कम तेरह योजन (१२–२/३)। बालुकाप्रभा में तीसरा हिस्सा अधिक तेरह योजन (१३–१/३)। पंकप्रभा में चौदह योजन। धूमप्रभा में तीसरा भाग कम पन्द्रह योजन (१४–२/३)। तमःप्रभा में तीसरा भाग अधिक पन्द्रह योजन(१५ १/३)। सातवीं तमस्तम प्रभा में १६ योजन। प्रत्येक पृथ्वी के चारों तर्फ तीन वलय हैं। घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय। इन वलयों की ऊँचाई प्रत्येक पृथ्वी की मोटाई के अनुसार है।

घनोदधिवलय की मोटाई रत्नप्रभा के चारों तर्फ प्रत्येक दिशा में छह योजन है। इसके बाद प्रत्येक पृथ्वी में योजन

का तीसरा भाग वृद्धि होती है अर्थात् शर्करामभा में छ योजन एक तिहाई (६-१।३)। वालुकाप्रभा में छ योजन दो तिहाई (६-२।३)। पङ्कप्रभा में ७ योजन। धूमप्रभा में सात योजन एक तिहाई (७-१।३)। तमःप्रभा में सात योजन दो तिहाई (७-२।३)। महातमःप्रभा में आठ योजन।

घनवातवलय का बाहल्य (मोटाई) रत्नप्रभा के चारों ओर प्रत्येक दिशा में साढ़े चार योजन है। आगे की नरकों में एक एक कोस अधिक बढ़ता जाता है अर्थात् शर्कराप्रभा में एक कोस कम पाँच योजन। वालुकाप्रभा में पाँच योजन। पंकप्रभा में सवा पाँच योजन। धूमप्रभा में साढ़े पाँच योजन। तमःप्रभा में पौने छ योजन। महातमःप्रभा में पूरे छः योजन।

रत्नप्रभा पृथ्वी के चारों तर्फ तनुवातवलय का बाहल्य प्रत्येक दिशा में छः कोस है। इस के बाद हर एक पृथ्वी में कोस का तीसरा भाग बाहल्य अधिक है अर्थात् शर्कराप्रभा में छः कोस एक तिहाई (६-१।३)। वालुकाप्रभा में छः कोस दो तिहाई (६-२।३)। पंकप्रभा में सात कोस। धूमप्रभा में सात कोस एक तिहाई (७-१।३)। तमःप्रभा में सात कोस दो तिहाई (७-२।३)। महातमःप्रभा में आठ कोस।

घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय का बाहल्य मिलाने से प्रत्येक पृथ्वी और अलोकाकाश के बीच का अन्तराल ऊपर लिखे अनुसार निकल आता है। घनोदधि रत्नप्रभा पृथ्वी को घेरे हुए वलयाकार स्थित है। घनवात घनोदधि को तथा तनुवात घनवात को। सभी पृथ्वियों में यही क्रम है।

प्रत्येक पृथ्वी असंख्यात हजार योजन लम्बी तथा असंख्यात हजार योजन चौड़ी है। सभी की लम्बाई और चौड़ाई दोनों बराबर हैं। हर एक की परिधि असंख्यात हजार योजन है।

प्रत्येक पृथ्वी की मोटाई अन्तिम तथा मध्य भाग में बराबर ही है।

रत्नप्रभा में जितने नारकी जीव हैं वे प्रायःसभी, जो व्यवहार राशि वाले हैं, पहिले नरक में उत्पन्न हो चुके हैं लेकिन सभी एक ही समय में उत्पन्न हुए थे, ऐसा नहीं है। इसी तरह शर्करा प्रभा आदि सभी नरकों में समझना चाहिए। इसी तरह व्यवहार राशि वाले प्राय सभी जीव इस नरक को छोड़ चुके हैं, लेकिन सब ने एक साथ नहीं छोड़ी। इसी तरह लोकवर्ती सभी पुद्गल रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों के रूप में परिणत हो चुके हैं। वे भी एक साथ परिणत नहीं हुए। इसी प्रकार सभी पुद्गलों द्वारा यह छोड़ी जा चुकी है। संसार के अनादि होने से ये सभी बातें बन सकती हैं। जगत् में स्वभाव से ही पुद्गल और जीवों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन लगा रहता है।

सभी पृथ्वियाँ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा शाश्वत तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अशाश्वत हैं अर्थात् सभी के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श बदलते रहते हैं लेकिन द्रव्य रूप से कभी नाश नहीं होता। यह बात धर्मसंग्रहणी की टीका में विस्तार से दी गई है। एक पुद्गल का अपचय (ह्रास) होने पर भी दूसरे पुद्गलों का उपचय (वृद्धि) होने से इन पृथ्वियों का अस्तित्व सदा बना रहता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में इनका अस्तित्व पाया जाता है इसलिए ये पृथ्वियाँ ध्रुव हैं। नियत अर्थात् हमेशा अपने स्थान पर स्थित हैं। अवस्थित अर्थात् अपने परिमाण से कभी कम ज्यादा नहीं होती।

रत्नप्रभा पृथ्वी के एक हजार योजन ऊपर तथा एक हजार योजन नीचे छोड़कर बाकी एक लाख अठत्तर हजार योजन के भाग में तीस लाख नरकावास हैं। ये नरकावास अन्दर से गोल और बाहर से चौरस हैं। पीठ के ऊपर रहे हुए मध्य

भाग को लेकर यह कहा जाता है। पीठादि सभी की अपेक्षा
तो आवलिकाप्रविष्ट नरकावास गोल चौरस और त्रिकोण
आकार वाले हैं। प्रकीर्णक नरकावास विविध संस्थानों वाले हैं
भूमियों के नीचे का फर्श क्षुरप्र अर्थात् कील या चाकू
सरीखा है। चाकू वगैरह होने पर भी पैर रखते ही ऐसी
पीड़ा होती है जैसे पैर में चाकू लग गया हो या कील चुभ गई
हो। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे सभी का अभाव होने से
नित्य घोर अन्धकार रहता है। तीर्थङ्करों के जन्म, दीक्षादि के
समय होने वाले क्षणिक प्रकाश को छोड़कर वहाँ निबिड़
अन्धकार सदा बना रहता है। वहाँ की जमीन हमेशा चर्बी,
राध, मांस, रुधिर वगैरह अशुचि पदार्थों से लिपी रहती है।
देखने से घृणा पैदा होती है। मरी हुई गाय के कलेवर से
भी बहुत अधिक महादुर्गन्धि भरी होती है। काले रंग वाली
अग्नि ज्वाला की तरह उन की आभा होती है। असिपत्र की
तरह अत्यन्त कठोर और असह्य स्पर्श होता है। जहाँ दुःख से
रहा जाय तथा जिसके दर्शन ही अशुभ हों ऐसे नरक होते हैं।
गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श सभी अशुभ होते हैं। इसी तरह सभी
पृथ्वियों में एक हजार योजन ऊपर तथा एक हजार योजन
नीचे छोड़ कर बीच में नरकावास हैं। नरकावासों की संख्या
पहिले दी जा चुकी है। सातवीं का बाहल्य एक लाख आठ
हजार योजन है। उस में साढ़े बावन हजार ऊपर तथा साढ़े
बावन हजार नीचे छोड़ कर बाकी तीन हजार योजन के बाहल्य
में पाँच महानरक हैं। उनके नाम पहिले दिये जा चुके हैं।

नरकावासों का संस्थान-पहिले बताया जा चुका है कि नरका
वास दो तरह के हैं- आवलिकाप्रविष्ट और आवलिकाबाह्य।
आठों दिशाओं में जो समश्रेणी में अवस्थित हैं वे आवलिका

प्रविष्ट हैं। बाकी आवलिकाबाह्य हैं। आवलिकाप्रविष्ट नरकावासों का संस्थान गाल, त्रिकोण और चतुष्कोण है। आवलिका बाह्य भिन्न भिन्न संस्थान वाले हैं। कोई कोठे की काठी के समान है। कोई भट्टी के समान। कोई चूल्हे के समान। कोई कड़ाहे के समान। कोई दगची के समान, इत्यादि अनेक संस्थानों वाले हैं। छठी नारकी तक नरकावासों का यही स्वरूप है। सातवीं नारकी के पाँचों नरकावास आवलिकाप्रविष्ट हैं। उनके बीच में अप्रतिष्ठान नाम का नरकेन्द्रक गोल है। बाकी चारों चार दिशाओं में हैं और सभी त्रिकोण हैं। (जीवा प्र. ३ सू ८१)

सातों पृथ्वियों में प्रत्येक नरकावास का बाहल्य अर्थात् मोटाई तीन हजार योजन है। नीचे का एक हजार योजन निबिड़ अर्थात् ठोस है। बीच का एक हजार योजन खाली है। ऊपर का एक हजार योजन संकुचित है।

इन नरकावासों में कुछ संख्येय विस्तृत हैं और कुछ असंख्येय विस्तृत। जिन का परिमाण संख्यात योजन है वे संख्येय विस्तृत हैं और जिन का परिमाण असंख्यात योजन है वे असंख्येय विस्तृत हैं। असंख्येयविस्तृतों की लम्बाई, चौड़ाई और परिधि असंख्यात हजार योजन है। संख्येयविस्तृतों की संख्यात हजार योजन। सातवीं नरक में अप्रतिष्ठान नाम का नरकेन्द्रक एक लाख योजन विस्तृत है। बाकी चार नरकावास असंख्येय-विस्तृत हैं। अप्रतिष्ठान नामक संख्येयविस्तृत नरकावास का आयाम तथा विष्कम्भ अर्थात् लम्बाई चौड़ाई एक एक लाख योजन है। तीन लाख सोलह हजार दो सौ सताईस योजन, तीन कोस एक सौ अठाईस धनुष, तथा कुछ अधिक साढ़े तेरह अङ्गुल उनकी परिधि है। परिधि का यह परिमाण जम्बूद्वीप की परिधि की तरह गणित के हिसाब से निकलता है। बाकी चारों का असंख्यात

योजन आयाम तथा विष्कम्भ है और इतनी ही परिधि है।

वर्ण—नारकी जीव भयङ्कर रूप वाले होते हैं। भयवन्त काले, काली प्रभावाले तथा भय के कारण बस्फम्रासाम वाले होते हैं। प्रत्येक नारकी जीव का रूप एक दूसरे का भय उत्पन्न करता है।

गन्ध—साँप, गाय, अश्व, भैंस आदि के सड़े हुए मृत शरीर से भी कई गुनी दुर्गन्धि नारकों के शरीर से निकलती है। उन में कोई भी वस्तु रमणीय और प्रिय नहीं होती। (जीवा ३ उ. २)

स्पर्श—खड्ग की धार, छुरधार कदम्बचीरिका(एक तरह का घास जो दूम से भी बहुत तीखा होता है), शक्ति, सूइयों का समूह, बिच्छू का डंक, कपिकच्छू (खुजली पैदा करने वाली वस्तु), अंगार, ज्वाला, छाणों की आग आदि से भी अधिक कष्ट देने वाला नरकों का स्पर्श होता है।

नरकावासों का विस्तार—महा शक्तिशाली ऋद्धिसम्पन्न महेशान देव तीन चुटकियों में एक लाख योजन लम्बे और एक लाख योजन चौड़े जम्बूद्वीप की इक्कीस प्रदक्षिणाएं कर सकता है इतना शीघ्र चलने वाला देव भी अगर पूरे वेग से नरकावासों को पार करने लगे तो किसी में एक दिन, किसी में दो दिन, तथा किसी में छह महीने लगेंगे। कुछ नरकावास ऐसे हैं जो छह महीने में भी पार नहीं किए जा सकते। रत्नप्रभा आदि सभी पृथ्वियों में इतने विस्तार वाले नरकावास हैं। सातवीं महातमः प्रभा में अप्रतिष्ठान नामक नरकावास का अन्त तो उस देवता द्वारा छः महीने में प्राप्त किया जा सकता है, बाकी आवासों का नहीं।

किंमया— ये सभी नरकावास वज्रमय हैं अर्थात् वज्र की तरह कठोर हैं। इन में पुद्गलों के परमाणुओं का आना जाना बना रहता है किन्तु मूल रूप में कोई फरक नहीं पड़ता।

शाश्वता— अगर प्रत्येक समय एक नारकी जीव रत्नप्रभा

पृथ्वी से निकलें तो सम्पूर्ण जीवों को निकलने में असंख्यात उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल लगेंगे। यह बात नारकी जीवों की संख्या बताने के लिए लिखी गई है। वस्तुतः ऐसा न कभी हुआ है और न होगा। शर्कराप्रभा आदि पृथ्वियों के जीवों की संख्या भी इसी प्रकार जाननी चाहिए।

संहनन–नारकी जीवों के छह संहनन में से कोई भी संहनन नहीं होता किन्तु उन के शरीर के पुद्गल दुःखरूप होते हैं।
(जी प्र ३ सू ८७)

संस्थान–संस्थान दो तरह का है। भवधारणीय और उत्तर विक्रिया रूप। नारकों के दोनों तरह से हुँडक संस्थान होता है।
(जी प्र ३ सू ८८)

श्वासोच्छ्वास–सभी अशुभ पुद्गल नारकी जीवों के श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत होते हैं। (जी प्र ३ सू ८८)

दृष्टि–नारकी जीव, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग् मिथ्यादृष्टि तीनों तरह के होते हैं।

ज्ञान–रत्नप्रभा में नारकी जीव ज्ञानी तथा अज्ञानी अर्थात् मिथ्याज्ञानी दोनों तरह के होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि हैं वे ज्ञानी हैं और जो मिथ्यादृष्टि हैं वे अज्ञानी। ज्ञानियों के नियम से तीन ज्ञान होते हैं–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान। अज्ञानियों के तीन अज्ञान भी होते हैं और दो भी। जो जीव असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय से आते हैं वे अपर्याप्तावस्था में दो अज्ञान वाले होते हैं। शेष अवस्थाओं में तीनों अज्ञान वाले हो जाते हैं। दो अज्ञानों के समय केवल मतिअज्ञान तथा श्रुतअज्ञान होते हैं। बाकी अवस्थाओं में तथा दूसरे मिथ्यादृष्टि जीवों को विभंग ज्ञान भी होता है। दूसरी से लेकर सातवीं नरक तक सम्यग्दृष्टि जीवों के तीनों ज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि जीवों के तीनों अज्ञान होते हैं।

योग–नारकों में तीनों योग होते हैं।

उपयोग–नारकी जीव साकार तथा निराकार दोनों तरह

के उपयोग वाले हैं अर्थात् इन के ज्ञान और दर्शन दोनों होते हैं।
(जी प्र ३ सू-८८)

समुद्घात-नारकी जीवों के चार समुद्घात होते हैं। वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात और वैक्रिय समुद्घात।

प्राण, भूत जीव और सत्व अथवा पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस सभी कायों के जीव जो व्यवहार राशि में आ चुके हैं, नरक में अनेक बार उत्पन्न हुए हैं।

जीवाभिगमसूत्र में नरक के विषय में जो जो बातें कही गई हैं, उनके लिए संग्रहणी गाथाओं को उपयोगी जानकर यहाँ लिखा जाता है—

पुढवीं ओगाहित्ता, नरगा संठाणमेव बाहल्लं।
विक्खंभपरिक्खेवे, वण्णो गंधो य फासो य॥ १॥
तेसिं महालयाए उवमा देवेण होइ कायव्वा।
जीवा य पोग्गला वक्कमंति तह सासया निरया॥ २॥
उववायपरीमाणं अवहारुच्चत्तमेव संघयणं।
संठाणवण्णगंधा फासा ऊसासमाहारे॥ ३॥
लेसा दिट्ठी नाणे जोगुवओगे तहा समुग्घाया।
तत्तो खुहापिवासा विउव्वणा वेयणा य भए॥ ४॥
उववाओ पुरिसाणं ओवम्म वेयणाए दुविहाए।
उव्वट्टण पुढवीउ उववाओ सव्वजीवाणं॥ ५॥

अर्थात्—इस प्रकरण में नीचे लिखे विषय बताए गए हैं-
(१) पृथ्वियों के नाम तथा गोत्र (२) नरकावासों की अवगाहना तथा स्वरूप (३) नरकावासों का संस्थान (४) बाहल्य अर्थात् मोटाई (५) विष्कम्भ (लम्बाई चौड़ाई) तथा परिक्षेप अर्थात् परिधि (६) वर्ण, गन्ध, स्पर्श (७) असंख्यात योजन वाले नरकावासों के विस्तार के लिए उपमा (८) जीव और पुद्गलों की

व्युत्क्रान्ति (६) शाश्वत अशाश्वत (१०) उपपात–किस नारकी में कौन से जीव उत्पन्न होते हैं। (११) एक समय में कितने जीव उत्पन्न होते हैं तथा कितने मरते हैं (१२) अवगाहना (१३) संहनन (१४) संस्थान (१५) नारकी जीवों का वर्ण, गन्ध, स्पर्श तथा उच्छ्वास (१६) आहार (१७) लेश्या (१८) दृष्टि (१६) ज्ञान (२०) योग (२१) उपयोग (२२) समुद्‌घात (२३) क्षुधा तथा प्यास (२४) विक्रिया (२५) वेदना तथा भय (२६) उष्ण वेदना शीतवेदना (२७) स्थिति (२८) उद्वर्तना (२६) पृथ्वियों का स्पर्श (३०) उपपात+

(जीवाभिगम सूत्र तृतीय प्रतिपत्ति उद्देशा १ २ ३)

वेदना और निर्जरा–कर्म का फल पूरी तरह भोगने को वेदना कहते हैं। कर्मफल को बिना प्राप्त किए ही तपस्या आदि के द्वारा कर्मों को खपा डालना निर्जरा है। वेदना से कर्मों का क्षय तो होता है लेकिन पूरा फल भोगने के बाद। नारकी जीव कर्मों की वेदना तो करते हैं किन्तु निर्जरा नहीं। वेदना और निर्जरा का समय भी भिन्न भिन्न है। कर्मों का उदय होने पर फल भोगना वेदना है और वेदना के बाद कर्मों का अलग हो जाना निर्जरा है। भगवती सूत्र में यह बात प्रश्नोत्तर के रूप में दी गई है। उसका सारांश ऊपर लिखा है।

(भगवती शतक ७ उद्देशा ३ सू० २७६)

परिचारणा–नारकी जीव उत्पन्न होते ही आहार ग्रहण करते हैं। बाद में उनके शरीर की रचना होती है। फिर पुद्गलों का ग्रहण और शब्द आदि विषयों का सेवन करते हैं। उस के बाद परिचारणा और विकुर्वणा (वैक्रिय लब्धि के द्वारा शरीर

+जो विषय प्रज्ञापनासूत्र के प्रकरण में पहिले लिख आ चुके हैं वे यहाँ छुआ दी दिए गए हैं।

के भिन्न भिन्न रूप करना/करते हैं। यही बात पन्नवणासूत्र में प्रश्नोत्तर के रूप में दी गई है। (पन्नवणा १४ प्रतीकार पद)

नारकों की विग्रह गति–दूसरे किसी स्थान से नरक गति में उत्पन्न होने वाला जीव अनन्तरोपपन्न, परम्परोपपन्न तथा अनन्तरपरम्परानुपपन्न तीनों प्रकार का होता है। जो जीव ऋजुगति से सीधे एक ही समय में दूसरे स्थान से नरक गति में पहुँच जाते हैं वे अनन्तरोपपन्न हैं। दो तीन चार या पाँच समय में उत्पन्न होने वाले नरक परम्परोपपन्न हैं। जो जीव विग्रहगति को प्राप्त कर उत्पन्न होते हैं वे अनन्तरपरम्परानुपपन्न हैं। ये गतियाँ बहुत ही शीघ्र होती हैं। एक बार पलक गिरने में असंख्यात समय लग जाते हैं, किन्तु नारकों की विग्रह गति में उत्कृष्ट पाँच समय ही लगते हैं।

अनन्तरोपपन्न, परम्परोपपन्न और अनन्तरपरम्परानुपपन्न तीनों तरह के नरक और देव नरक गति तथा देव गति का आयुष्य नहीं बाँधते। मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों गतियों में जाते हैं। (भगवती शतक १४ उद्देशा १)

नारकी जीव दस स्थानों का अनुभव करते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) अनिष्ट शब्द, (२) अनिष्ट रूप, (३) अनिष्ट गन्ध, (४) अनिष्ट रस, (५) अनिष्ट स्पर्श, (६) अनिष्ट गति (अप्रशस्त विहायोगति), (७) अनिष्ट स्थिति (नरक में रहना रूप), (८) अनिष्ट लावण्य, (९) अनिष्ट यश कीर्ति तथा (१०) अनिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य तथा पुरुषाकारपराक्रम।

(भगवती शतक १४ उद्देशा ५)

आहार योनि तथा कारण–जितने पुद्गल द्रव्यों के समुदाय से पूरा आहार होता है उसे सर्वाविद्रव्य कहते हैं तथा सम्पूर्ण आहार से एक या अधिक प्रदेश न्यून आहार को वीचिद्रव्य

करते हैं। जो नारक एक भी प्रदेश न्यून आहार करते हैं व भीविद्रव्य का आहार करते हैं। जो पूर्ण द्रव्यों का आहार करते हैं व अभीविद्रव्यों का आहार करते हैं। नारकों का आहार पुद्गलरूप होता है और पुद्गल रूप से परिणमता है। नारकों के उत्पत्तिस्थान अत्यन्त शीत तथा अत्यन्त उष्ण पुद्गलों के होते हैं। आयुष्य कर्म के पुद्गल नारकी जीव की नरक में स्थिति के कारण हैं। प्रकृत्यादि बन्धों के कारण कर्म जीव के साथ लगे हुए हैं और नरकादि पर्यायों के कारण होते हैं। (भ श १७ उ १३ सू ६१२)

नरकों का अन्तर–रत्नप्रभा आदि सातों पृथ्वियों का परस्पर असंख्यात लाख योजन का अन्तर है। सातवीं तमस्तम प्रभा और अलोकाकाश का भी असंख्यात लाख योजन अन्तर है। रत्नप्रभा और ज्योतिषी विमानों का सात सौ नब्बे योजन अन्तर है।
(भगवती शतक १४ उद्देशा ८ सू. ५१७)

संस्थान–संस्थान छः हैं–परिमंडल (वलयाकार), वृत्त (गोल) त्र्यस्र (त्रिकोण), चतुरस्र (चतुष्कोण) आयत (दीर्घ) और अनित्थंस्थ (परिमंडल आदि से भिन्न आकारवाला अर्थात् अनवस्थित) सातों पृथ्वियों में आयत संस्थान तक के पाँचों संस्थान अनन्त हैं।
(भग. श. २५ उ ३ सू. ७२५)

युग्म अर्थात् राशि–जिस राशि में से चार चार कम करते हुए शेष चार बच जाय उसे कृतयुग्म कहते हैं। तीन बचें तो त्र्योज कहते हैं। दो बचें तो द्वापरयुग्म तथा एक बचे तो कल्योज कहते हैं। नरकों में चारों युग्म होते हैं। (भग श १८ उ ४ सू. ६२४)

आयुबन्ध–क्रियावादी नैरयिक मनुष्यगति की आयु ही बांधते हैं। अक्रियावादी तिर्यञ्च और मनुष्य दोनों की आयु बांधते हैं। इसी प्रकार अज्ञानवादी और विनयवादी नैरयिक भी तिर्यञ्च और मनुष्य दोनों की आयु बांधते हैं। (भग श ३० उ १)

(जीवा प्रति. ३) (प्रज्ञा. पद २ सू ७२ १८) (भग. श १४ उ ९ ८) (भग. श. १७ १८ १) (प्रज्ञा. व्या. सम सू. १) (प्रज्ञा. प. २ १४)

५६० (ख) व्यसन सात

द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पापर्द्धिचौर्ये परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके, घोरातिघोरं नरकं नयन्ति॥

(विस्तार बोलसंग्रह के छठे भाग के पृ० १४६ पर दिया गया है।) श्लोक यह है—

५६१—निह्नव सात

नि पूर्वक ह्नु धातु का अर्थ है अपलाप करना। जो व्यक्ति किसी महापुरुष के सिद्धान्त को मानता हुआ भी किसी विशेष बात में विरोध करता है और फिर स्वयं एक अलग मत का प्रवर्तक बन बैठता है उसे निह्नव कहते हैं। भगवान् महावीर के शासन में सात निह्नव हुए। उनके नाम और परिचय नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) बहुरत—जब तक क्रिया पूरी न हो तब तक उसे निष्पन्न या कृत नहीं कहा जा सकता। यदि उसी समय उसे निष्पन्न कह दिया जाय तो शेष क्रिया व्यर्थ हो जाय। इसलिए क्रिया की निष्पत्ति अन्तिम समय में होती है। प्रत्येक क्रिया के लिए कई क्षणों की आवश्यकता होती है। कोई क्रिया एक क्षण में सम्भव नहीं है। क्रिया के लिए बहुत समयों को आवश्यक मानने वाला होने से इस मत का नाम बहुरत है। इस मत का प्रवर्तक जमाली था।

भगवान् महावीर को सर्वज्ञ हुए सोलह वर्ष हो गए। कुण्डपुर नगर में जमाली नाम का क्षत्रिय पुत्र रहता था। वह भगवान् का भाणेज था और जमाई भी। उसने पाँच सौ राजकुमारों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ली। उसकी स्त्री ने भी एक हजार क्षत्राणियों के साथ प्रव्रज्या ले ली। वह भगवान् महावीर की बेटी थी, नाम था सुदर्शना, ज्येष्ठा या अनवद्या। जमाली ने ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया।

एक दिन उसने अपने पाँच सौ साथियों के साथ अकेले विचरने की भगवान् से अनुमति माँगी। भगवान् ने कुछ

उत्तर न दिया। दूसरी और तीसरी बार पूछने पर भी भगवान् मौन रहे। जमाली ने अनुमति के बिना ही श्रावस्ती की ओर विहार कर दिया। वहाँ आकर वह अपने पाँच सौ साधुओं के साथ तैन्दुक उद्यान के कोष्ठक नामक चैत्य में ठहर गया।

कुछ दिनों बाद रूखा,सूखा अपथ्य आहार करने से जमाली ज्वराक्रान्त हो गया। थोड़ी देर बैठने की भी शक्ति न रही। उसने अपने शिष्यों को बिस्तर बिछाने की आज्ञा दी। साधु बिछाने लगे। थोड़ी देर में जमाली ने पूछा–मेरे लिए बिस्तर बिछा दिया या बिछाया जा रहा है? श्रमणों ने जवाब दिया– आपके लिए बिस्तर बिछा नहीं है, बिछाया जा रहा है। यह सुनकर जमाली अनगार के मन में संकल्प खड़ा हुआ– श्रमण भगवान् महावीर जो यह कहते हैं और प्ररूपणा करते हैं कि चलता हुआ चलित कहलाता है, उदीर्यमाण उदीर्ण कहलाता है यावत् निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण कहा जाता है, यह मिथ्या है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि जो शय्या संस्तारक किया जा रहा है वह 'किया हुआ' नहीं है। जो बिछाया जा रहा है वह 'बिछा हुआ' नहीं है। जिस प्रकार किया जाता हुआ शय्या संस्तारक 'किया हुआ' नहीं है बिछाया जाता हुआ 'बिछा हुआ' नहीं है। इसी प्रकार जब तक चल रहा है तब तक 'चला हुआ' नहीं है किन्तु अचलित है, यावत् जिसकी निर्जरा हो रही है वह निर्जीर्ण नहीं है किन्तु अनिर्जीर्ण है।

जमाली ने इस बात पर विचार किया। फिर अपने साधुओं को बुला कर कहा–हे देवानुप्रियो! श्रमण भगवान् महावीर जो यह कहते हैं, प्ररूपणा करते हैं कि चल्यमान चलित कहा जाता है, इत्यादि यह ठीक नहीं है यावत् वह अनिर्जीर्ण है। जिस समय जमाली अनगार साधुओं को यह बात कह रहे थे प्ररूपणा कर रहे थे, उस समय बहुत से अनगार इस बात को श्रद्धापूर्वक मान रहे थे, उसकी प्रतीति तथा रुचि कर रहे

थे, और कुछ इसे नहीं मान रहे थे, उसकी प्रतीति और रु नहीं कर रहे थे। जो साधु जमाली की बात को मान गए उसी के साथ विहार करने लगे। दूसरे उसका साथ छोड़ विहार करते हुए भगवान् की शरण में आ गए।

कुछ दिनों बाद जमाली अनगार स्वस्थ हो गया। श्रावस्ती विहार करके ग्रामानुग्राम विचरता हुआ चम्पानगरी के पूर्ण चैत्य में विराजमान भगवान महावीर के पास आया। वे आकर उसने कहा—आपके बहुत से शिष्य छद्मस्थ होकर अलग विहार कर रहे हैं किन्तु मुझे तो ज्ञान उत्पन्न हो गया है। अब मैं केवलज्ञान और केवलदर्शन युक्त होने के कारण अर्हन्, जिन और केवली होकर विचर रहा हूँ।

यह सुनकर भगवान् गौतमस्वामी ने जमाली से कहा-हे जमाली! केवली का ज्ञान या दर्शन पर्वत, स्तम्भ या स्तूप किसी से आवृत नहीं होता, किसी से निवारित नहीं होता। अगर तुम ज्ञान और दर्शन के धारक अर्हन्, जिन या केवली बनकर विचर रहे हो तो इन दो प्रश्नों का उत्तर दो। (१) हे जमाली! लोक शाश्वत है या अशाश्वत? (२) जीव शाश्वत है या अशाश्वत? गौतमस्वामी के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर जमाली सन्देह में पड़ गया। उसके परिणाम कलुषित हो गए। वह भगवान गौतम के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सका।

यह देखकर श्रमण भगवान महावीर ने कहा-हे जमाली! मेरे बहुत से श्रमण निर्ग्रन्थ शिष्य छद्मस्थ हैं। वे इन प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं। लेकिन तुम्हारी तरह वे अपने को सर्वज्ञ या जिन नहीं कहते।

हे जमाली! लोक शाश्वत है, क्योंकि 'लोक किसी समय नहीं था' यह बात नहीं है। 'किसी समय नहीं है' यह बात भी

नहीं है और 'किसी समय नहीं रहेगा, यह बात भी नहीं है। हे जमाली! लोक अशाश्वत भी है क्योंकि उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी, इस प्रकार काल बदलता रहता है। जीव शाश्वत है क्योंकि पहले था, अब है और भविष्यकाल में भी रहेगा। जीव अशाश्वत भी है क्योंकि नैरयिक तिर्यञ्च होता है, तिर्यञ्च होकर मनुष्य होता है और मनुष्य होकर देव होता है।

जमाली अनगार ने कदाग्रहवश भगवान् की बात न मानी। वह वहाँ से निकल गया। असद्भावना और मिथ्यात्व के अभिनिवेश के कारण झूठी प्ररूपणा द्वारा स्वयं तथा दूसरों को भ्रान्त करता हुआ विचरने लगा। बहुत दिनों तक श्रमणपर्याय पालन के बाद अर्ध मास की संलेखना करके अपने पापों की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना मर कर लान्तक देवलोक में तेरह सागर की स्थिति वाले किल्विषिक देवों में उत्पन्न हुआ। जमाली अनगार आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक था। आचार्य और उपाध्याय का अवर्णवाद करने वाला था। बिना आलोचना किए काल करने से वह किल्विषी देव हुआ। देवलोक से चवकर चार पाँच तिर्यञ्च, मनुष्य और देव के भव करने के बाद वह सिद्ध होगा। (भगवती शतक ९ उद्देशा ३३)

सुदर्शना जमाली के सिद्धान्त को मानने लगी। वह श्रावस्ती नगरी में ढंक नामक कुम्भकार के घर ठहरी हुई थी। उसे भी धीरे धीरे अपने मत में लाने का निश्चय करने लगी। ढंक ने भी सुदर्शना को गलत मार्ग पर चलते देखकर समझाने का निश्चय किया। एक दिन सुदर्शना स्वाध्याय कर रही थी। ढंक पास ही पड़े हुए मिट्टी के बर्तनों को उलट पलट कर रहा था। उसी समय आग का एक अंगारा सुदर्शना की ओर फेंक दिया। उसकी

चद्दर का एक कोना जल गया। उसने ढंक से कहा—आवको ! तुमने मेरी चद्दर जला दी। ढंक ने कहा—यह कैसे ? आपके सिद्धान्त से तो जलती हुई वस्तु जली नहीं कही जा सकती। फिर मैंने आपकी चद्दर कैसे जलाई ?

सुदर्शना को ध्यान आया। बात का पूरा निर्णय करने के लिये वह जमाली के पास गई। जमाली ने उसकी कोई बात न मानी। सुदर्शना और दूसरे साधु उसे अकेला छोड़कर भगवान् महावीर के पास चले गए।

कुछ आचार्यों का कहना है कि सुदर्शना भगवान् की बहिन का नाम था और वह जमाली की माँ थी। अनवद्या भगवान् की पुत्री थी और जमाली की पत्नी।

(हरिभद्रीयावश्यक अध्य० १ भाष्य गा० १२०-१२१ पृ० ३१२)

जमाली के मत को स्पष्ट तथा तार्किक प्रणाली से समझने के लिए विशेषावश्यक भाष्य (बृहद्वृत्ति) से कुछ बातें यहाँ दी जाती हैं।

भगवती सूत्र शतक १ उद्दे० १ सू० ७ में नीचे लिखा पाठ आया है

प्रश्न—से णूणं भंते ! चलमाणे चलिए ? उदीरिज्जमाणे उदीरिए ? वेइज्जमाणे वेइए ? पहिज्जमाणे पहीणे ? छिज्जमाणे छिन्ने ? भिज्जमाणे भिन्ने ? डज्झमाणे दड्ढे ? मिज्जमाणे मए ? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ?

उत्तर—हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए, जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे।

अर्थ—हे भगवन् ! जो चल रहा है, क्या वह 'चलित' कहा जा सकता है ? जो उदीर्यमाण है वह उदीर्ण कहा जा सकता है ? जो वेद्यमान (अनुभव किया जा रहा) है वह वेदित (अनुभूत) कहा जा सकता है ? जो प्रहीयमाण (छोड़ा जाता हुआ) है वह प्रहीण (छोड़ा हुआ) कहा जा सकता है ? जो छिद्यमान

है वह छिन्न कहा जा सकता है ? जो भिद्यमान है वह भग्न कहा जा सकता है ? जो दह्यमान है वह दग्ध कहा जा सकता है ? जो म्रियमाण है वह मृत कहा जा सकता है ? जो निर्जीर्यमाण है वह निर्जीर्ण कहा जा सकता है ?

उत्तर–हाँ गौतम ! चलता हुआ चलित कहा जा सकता है। यावत् निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण कहा जा सकता है।

शास्त्र का यह मत निश्चय नय की अपेक्षा है। जिस आदमी को एक कोस चलना है, उसके दस कदम चलने पर भी निश्चय नय से यह कहा जा सकता है कि वह चल चुका। क्योंकि उसने दस कदम की गति पूरी करली है। व्यवहार नय से उसे 'चल चुका' तभी कहा जायगा जब वह गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेगा। स्याद्वाद दर्शन अपेक्षावाद है। वक्ता के अभिप्राय, नय या भिन्न भिन्न विवक्षाओं से दो विरोधी बातें भी सची हो सकती हैं।

व्यवहार नय की एकान्त दृष्टि को लेकर जमाली भगवान् महावीर के मत को मिथ्या समझता है। उसका कहना है–

क्रियमाण कृत नहीं हो सकता। जो वस्तु पहले ही कृत अर्थात् विद्यमान है उसे फिर करने की क्या जरूरत ? इस लिए वह क्रिया का आश्रय नहीं हो सकती। पहले बना हुआ घट दुबारा नहीं बनाया जा सकता। अगर किए हुए को फिर करने की आवश्यकता हो तो क्रिया कभी समाप्त न होगी। क्रियमाण का अर्थ है जो क्रिया का आश्रय हो अर्थात् किया जाय और कृत का अर्थ है जो हो चुका। ये दोनों विरोधी हैं।

क्रियमाण को कृत (निष्पन्न) मान लेने पर मिट्टी भिगोना, चाक घुमाना आदि क्रियाएं व्यर्थ हो जाएँगी क्योंकि घट तो क्रिया के प्रथम क्षण में ही निष्पन्न हो चुका।

क्रियमाण को कृत मानने से कृत अर्थात् विद्यमान को ही क्रिया का आश्रय मानना पड़ेगा। इस में प्रत्यक्ष विरोध है क्योंकि अकृत अर्थात् अविद्यमान पदार्थ को ही उत्पन्न करने के लिए क्रिया की जाती है, न कि विद्यमान का।

क्रिया के प्रारम्भ क्षण में ही कार्य उत्पन्न हो जाता है। इस मान्यता में भी प्रत्यक्ष विरोध है क्योंकि घट पट वगैरह कार्य क्रियासमाप्ति के साथ ही उत्पन्न होते देखे जाते हैं। क्रिया का काल लम्बा होने पर भी कार्य की उत्पत्ति प्रथम क्षण में ही हो जाती है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट पटादि कार्य न तो प्रथम क्षण में दिखाई पड़ते हैं, न बीच में। जब क्रिया समाप्त होने लगती है तभी वे दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस लिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि क्रिया के अन्तिम समय में ही घटादि कार्य कृत कहे जा सकते हैं।

उत्तरपक्ष–अकृत या अविद्यमान वस्तु ही उत्पन्न होती है। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान से बाधित है। जैसे– अकृत या अविद्यमान घटादि उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि असत् हैं। जो असत् होता है वह उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे गगनकुसुम। यदि अकृत अर्थात् अविद्यमान की भी उत्पत्ति मान ली जाय तो गगनकुसुम भी उत्पन्न होने लगेंगे। क्रिया के प्रथम क्षण में ही वस्तु की उत्पत्ति मान लेने से नित्यक्रिया, क्रियाऽपरिसमाप्ति, क्रियावैफल्य आदि दोष आजायँगे। यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ये दोष दोनों पक्षों में समान हैं। वस्तु को अकृत अर्थात् अविद्यमान मान लेने पर क्रिया का कोई आधार न रहेगा। ऐसी हालत में क्रिया कहाँ होगी? इसके विपरीत वस्तु को विद्यमान मान लेने पर पर्याय विशेष की उत्पत्ति के लिए क्रियाकरण आदि

चरितार्थ हो सकते हैं। जैसे कहा जाता है–'जगह करो' अर्थात् जगह का खाली करो। यहाँ जगह पहले से विद्यमान है। उसी को 'भरी हुई' पर्याय से बदल कर 'खाली' पर्याय में लाने के लिए 'जगह करो' यह कहा जाता है। इसी तरह 'हाथ करो' 'पीठ करो' इत्यादि भी जानने चाहिएं। जो वस्तु बिल्कुल असत् है उसमें यह व्यवहार नहीं हो सकता।

यदि कारणावस्था में असत् वस्तु भी उत्पन्न होती है तो मिट्टी से भी गगनकुसुम उत्पन्न होने लगेगा। क्योंकि असत्त्व दोनों में बराबर है। यदि खरविषाण नहीं होता तो घट भी न हो। अथवा इसका उल्टा ही होने लगे।

'वस्तु की उत्पत्ति कई क्षणों में होती है' यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक समय में भिन्न भिन्न कार्य उत्पन्न होते रहते हैं। मिट्टी लाना, भिगोना, पिण्ड बनाना, चाक पर चढ़ाना इत्यादि बहुत से कार्यों में बहुत समय लगते हैं। किसी एक ही क्रिया में अनेक समय नहीं लगते। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि घट की उत्पत्ति कई क्षणों में हुई है। जो क्रिया जिस क्षण में होती है, निश्चय नय से वह उसी क्षण में पूरी हो जाती है। किसी एक क्रिया में अनेक समयों की आवश्यकता नहीं है। घटोत्पत्ति की क्रिया अन्तिम क्षण में प्रारम्भ होती है और उसी क्षण में पूरी हो जाती है। इस तरह किसी भी एक क्रिया के लिए अनेक समयों की आवश्यकता नहीं है।

'घट प्रथम क्षण में या बीच में क्यों नहीं दिखाई देता?' प्रश्न का उत्तर भी ऊपर लिखी युक्ति से हो जाता है। घट को उत्पन्न करने की क्रिया अन्तिम क्षण में होती है, उसी समय वह हो जाता है और दिखाई भी देने लगता है। उससे पहिले क्षणों में पिण्डादि के [illegible] क्रियाएं होती हैं, इसलिए पूर्वक्षणों में घट

नहीं दिखाई देता। जिस क्षण में जिस कार्य के लिए क्रिया होती है, उस क्षण में वही दिखाई दे सकता है, दूसरा नहीं पिण्ड आदि अवस्थाएं घट से भिन्न हैं। इसलिए यह मानना पड़ता है कि घट की उत्पत्ति के लिए क्रिया अन्तिम क्षण में हुई। उस समय घट कृत है और दिखाई भी देता है। यदि क्रिया के वर्तमान क्षण में घट को कृत नहीं माना जाता, तो भूतकालीन या भविष्यत् क्रिया से वह कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसके लिए अनुमान दिया जाता है—अतीत और भविष्यत् क्रियाएं कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकतीं क्योंकि वे अविद्यमान अर्थात् असत् हैं। जो असत् है वह किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता जैसे गगनकुसुम। इसलिए वर्तमान क्रिया में ही कार्योत्पत्ति का सामर्थ्य मानना पड़ेगा और उसी समय कार्य की उत्पत्ति या उसे कृत कहा जायगा।

यदि क्रियमाण कृत नहीं है तो कृत किसे कहा जायगा? क्रिया की समाप्ति होने पर तो उसे कृत अर्थात् उत्पन्न किया हुआ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय क्रिया ही नहीं है। यदि क्रिया के अभाव में भी कार्य का होना मान लिया जाय तो क्रिया प्रारम्भ होने से पहिले भी कार्य हो जायगा, क्योंकि क्रिया का अभाव दोनों दशाओं में समान है। ऐसी दशा में क्रिया का वैयर्थ्य बहुरत मत में ही होगा।

शङ्का—जिस समय कार्य हो रहा है, उसे क्रियमाण काल कहते हैं। उसके बाद का काल कृतकाल कहा जाता है। क्रियमाण काल में कार्य नहीं रहता, इसीलिए 'अकृत' कहा जाता है 'कृत' नहीं।

उत्तर—कार्य क्रिया से होता है या उसके बिना भी? यदि क्रिया से! तो यह कैसे हो सकता है कि कार्य दूसरे समय में

हो और क्रिया दूसरे समय में ? ऐसा कभी नहीं होता कि छेद क्रिया घट में हो और छेद पलाश में।

यदि क्रिया समाप्त होने पर ही कार्य उत्पन्न होता है तो इस का अर्थ यह हुआ कि क्रिया कार्य की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक है। ऐसी दशा में क्रिया कारण नहीं रहेगी और प्रत्यक्ष विरोध हो जायगा। यदि क्रिया के बिना भी कार्य उत्पन्न होता है तो पदार्थों के लिए मिट्टी लाना, घड़ा बनाना आदि क्रियाएं व्यर्थ हो जायँगी। मोक्षार्थी को भी तप आदि की आवश्यकता न रहेगी। लेकिन यह बात नहीं है। इसलिए क्रियाकाल में ही कार्य की उत्पत्ति माननी चाहिए, समाप्ति होने पर नहीं।

शङ्का-मिट्टी लाने से लेकर घट की उत्पत्ति तक सारा समय घटोत्पत्तिकाल कहा जाता है। व्यवहार भी इसी प्रकार होता है, क्योंकि मिट्टी को चाक पर चढ़ाते समय भी यह कहा जाता है-घट बन रहा है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि अन्तिम क्षण ही घटोत्पत्तिक्षण है।

उत्तर-यह युक्ति ठीक नहीं है। घट उत्पन्न होने से पहले के क्षणों में उत्पत्ति का व्यवहार इसलिए होता है कि लोग घट को प्राप्त करना चाहते हैं। घट की प्राप्ति के अनुकूल होने वाले सभी कार्यों को घटकार्य मान लेते हैं। इस व्यवहार का आधार वास्तविक सत्य नहीं है। वास्तव अर्थात् निश्चय से तो प्रत्येक क्षण में नए नए कार्य उत्पन्न होते रहते हैं। उन में से कुछ स्थूल अवस्थाएं साधारण लोगों को मालूम पड़ती हैं। प्रत्येक समय होने वाली सूक्ष्म अवस्थाएं केवली ही जान सकते हैं।

शङ्का-घटोत्पत्ति का समय लम्बा नहीं माना जाता। एक ही क्षण कार्य का समय है तो उसका नियामक क्या है ? अन्तिम क्षण में ही घट क्यों उत्पन्न होता है, प्रारम्भ या बीच

के किसी क्षण में क्यों नहीं ?

उत्तर—कार्यकारण भाव ही इसका नियामक है। अन्तिम क्षण में कारण होने से घट उत्पन्न होता है, प्रथम या मध्यम क्षणों में कारण न होने से नहीं होता। किस कार्य का क्या कारण है, अथवा किस कारण से किस कार्य की उत्पत्ति होती है? इस बात का ज्ञान अन्वयव्यतिरेक से होता है। कार्य की उत्पत्ति के समय जिसका रहना आवश्यक हो वह उसका प्रति कारण है अथवा जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति न हो वह उसका कारण है। अन्वय और व्यतिरेक से अन्तिम क्षण की क्रिया ही घट का कारण निश्चित होती है और अन्तिम क्षण ही घटोत्पत्तिक्षण है। इसलिए क्रियमाण नियमित रूप से कृत होता है और कृत क्रियमाण होता भी है और नहीं भी। जहाँ कृत का अर्थ पाक आदि से उतरा हुआ निष्पन्न घट है वहाँ उसे क्रियमाण नहीं कहते। जहाँ घट अपूर्ण है उसे कृत तथा क्रियमाण दोनों तरह से कहा जा सकता है।

उपसंहार—आधा बिछा हुआ बिस्तर जितने प्रदेशों में बिछा हुआ है उनकी अपेक्षा से 'बिछा हुआ' भी कहा जा सकता है। जमाली का मत है पूरा बिस्तर बिना बिछे उसे 'बिछा हुआ' नहीं कहना चाहिए। जमाली का कहना एकान्तव्यवहार नय को मानकर है। दूसरे मत का खंडन करने से यह नयाभास बन जाता है। नयाभास का अवलम्बन करने से जमाली का मत मिथ्या है।

भगवती सूत्र का वचन भी निश्चय नय के अनुसार है। इस अपेक्षा से कार्य के थोड़ा सा हो जाने पर भी उसे कृत कहा जा सकता है। इसी तरह वस्त्र को जलाते समय 'दग्ध' कहा जा सकता है। साड़ी का कोना जलने पर भी अवयव में अवयवी का उपचार करके 'साड़ी जल गई' यह कहा जाता है।

इस तरह ऋजुसूत्र नय से क्रियमाण कृत कहलाता है और व्यवहार नय से अकृत। ऋजुसूत्र निश्चय नय का ही भेद है।

(विशेषावश्यक भाष्य गा २३ १-२३१२)

(२) जीवप्रादेशिकदृष्टि–भगवान् महावीर के सर्वज्ञ होने से सोलह वर्ष बाद ऋषभपुर नामक नगर में जीवप्रादेशिकदृष्टि नामक निह्नव हुआ। इस नगर का दूसरा नाम राजगृह था। चौदह पूर्व के ज्ञाता वसु नामक आचार्य विहार करते हुए राजगृह नगर के गुणशीलक चैत्य (उद्यान) में आये। उनका तिष्यगुप्त नामक एक शिष्य था। आत्मप्रवाद नाम के पूर्व को पढ़ते हुए तिष्यगुप्त ने निम्नलिखित बातें पढ़ीं–

"हे भगवन्! क्या जीव का एक प्रदेश जीव है? यह अर्थ ठीक नहीं है। इसी तरह हे भगवन्! क्या दो, तीन, दस, संख्यात या असंख्यात जीवप्रदेश जीव हैं? यह भी यथार्थ नहीं है। जिसमें एक प्रदेश भी कम हो उसे जीव नहीं कहा जा सकता। यह बात क्यों? क्योंकि सम्पूर्ण लोकाकाश प्रदेशों के समान जो जीव है उसे ही जीव कहा जा सकता है।

तिष्यगुप्त ने इसका अभिप्राय न समझा। मिथ्यात्वोदय के कारण उसे विपरीत धारणा हो गई। 'एक प्रदेश भी जीव नहीं है।' इसी तरह संख्यात असंख्यात प्रदेश भी जीव नहीं है। अन्तिम एक प्रदेश के बिना सब निर्जीव हैं। अतः वही एक प्रदेश जीव है जो जीव को पूर्ण बनाता है। इसके अतिरिक्त सभी प्रदेश अजीव हैं।' उसने समझा अन्तिम प्रदेश के होने पर ही जीवत्व है। उसके बिना नहीं। इसलिए वही प्राण है।

गुरु ने समझाना शुरू किया–जिस तरह दूसरे प्रदेश जीव नहीं हैं, उसी तरह अन्तिम प्रदेश भी जीव नहीं हो सकता क्योंकि सभी प्रदेश समान हैं। यदि यह कहा जाय कि अन्तिम प्रदेश पूरक (पूरा करने वाला) है इसलिए उसे ही जीव माना जाता है

तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रथम से लेकर अन्तिम तक सभी प्रदेश पूरक हैं। किसी भी एक के बिना जीव अधूरा है। इस तरह जब सभी जीवप्रदेश पूरक हो जायँगे तो अन्तिम की तरह सभी को जीव मानना पड़ेगा और जितने प्रदेश हैं उतने ही जीव हो जायेंगे अथवा प्रथम प्रदेश की तरह सभी प्रदेश अजीव हो जायँगे और उनसे बना हुआ जीव भी जीव न रहेगा।

अगर यह कहा जाय कि सभी प्रदेशों के पूरक होने पर भी अन्तिम प्रदेश ही जीव है दूसरे नहीं, तो यह बात मनमानी कल्पना कही जायगी। इसका कोई आधार नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रथम प्रदेश ही जीव है, अन्य सब अजीव हैं। अपनी इच्छानुसार कुछ प्रदेशों को जीव तथा कुछ को अजीव कहा जा सकता है।

जो वस्तु सभी अवयवों में व्याप्त नहीं रहती वह सब के मिल जाने पर भी पैदा नहीं हो सकती। जब प्रथमादि भिन्न भिन्न प्रदेशों में जीवत्व नहीं है तो सबके मिल जाने पर अन्तिम प्रदेश में जो उन्हीं के समान है जीवत्व कैसे आ सकता है

अन्तिम प्रदेश के अतिरिक्त दूसरे प्रदेशों में जीव आंशिक रूप से रहता है किन्तु अन्तिम प्रदेश में पूर्ण रूप से रहता है। यह कहना भी ठीक नहीं है।

अन्तिम प्रदेश में भी जीव सर्वात्मना नहीं रह सकता, क्योंकि वह प्रदेश भी दूसरे प्रदेशों के समान ही है। जो हेतु अन्तिम प्रदेश में सम्पूर्ण जीवत्व का साधक है उसी हेतु से दूसरे प्रदेशों में भी सम्पूर्ण जीवत्व सिद्ध किया जा सकता है।

शास्त्र का अर्थ यह नहीं है कि प्रथमादि प्रदेश अजीव हैं और अन्तिम जीव है, किन्तु अन्तिम भी एक होने के कारण अजीव है। सभी प्रदेशों के मिलने पर ही जीव माना जाता है।

जिस तरह एक तन्तु वस्त्र का उपकारक होता है। किसी भी एक तन्तु के बिना कपड़ा अधूरा रह जाता है, किन्तु केवल प्रथम या अन्तिम कोई भी तन्तु वस्त्र नहीं कहा जा सकता उसी तरह एक प्रदेश को जीव नहीं कहा जा सकता चाहे वह प्रथम हो या अन्तिम।

एवंभूत नय के मत से देश और प्रदेश वस्तु से भिन्न नहीं हैं। स्वतन्त्र रूप से वे अवस्तु रूप हैं, अयथार्थ हैं, उनकी कोई सत्ता नहीं है। देश प्रदेश की कल्पना से रहित सम्पूर्ण वस्तु ही एवंभूत का विषय है। एवंभूत नय का प्रमाण मानने से सम्पूर्ण जीव को जीव मानना होगा किसी एक प्रदेश को नहीं।

शंका—गाय जल गया, कपड़ा जल गया, इत्यादि स्थानों में एक देश में भी समस्त वस्तु का उपचार किया जाता है। इसी प्रकार अन्तिम प्रदेश में भी समस्त जीव का व्यवहार हो सकता है।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार अन्तिम प्रदेश की तरह प्रथमादि प्रदेशों में भी जीवत्व का व्यवहार मानना पड़ेगा क्योंकि युक्ति दोनों के लिए एकसी है। दूसरी बात यह है कि जब किसी वस्तु में थोड़ा सा अधूरापन रह जाता है तभी उसमें पर्यायों का व्यवहार हो सकता है। जैसे कुछ अधूरे कपड़े में कपड़े का व्यवहार। एक तन्तु में कभी कपड़े का व्यवहार नहीं होता। इसी तरह एक प्रदेश में भी जीव का व्यवहार नहीं हो सकता।

इस तरह गुरु के बहुत समझाने पर भी जब तिष्यगुप्त न माना तो उन्होंने उसे संघ के बाहर कर दिया। अकेला विहार करता हुआ वह आमलकल्पा नामक नगरी में आकर आम्रशाल वन में ठहर गया। मित्रश्री श्रावक ने तिष्यगुप्त को सच्ची बात समझाने का निश्चय किया। एक दिन तिष्यगुप्त उस श्रावक के घर गोचरी के लिए आए। श्रावक ने अशन, पान, वस्त्र, व्यंजन आदि वस्तुएं तिष्यगुप्त के सामने ला रक्खीं और उन सबका

अन्तिम कण लेकर बहराने लगा।

तिष्यगुप्त ने कहा श्रावक ! तुम इस तरह मेरा अपमान कर रहे हो ?

श्रावक ने कहा-महाराज ! यह तो आपका मत है कि वस्तु का अन्तिम अवयव सारे का काम कर सकता है। यदि भात वगैरह का यह अन्तिम अंश क्षुधानिवृत्ति रूप अपना कार्य नहीं कर सकता तो जीव के अनन्त सूक्ष्म एक प्रदेश में सारा जीव कैसे रह सकता है ? एक ही अन्तिम तन्तु पट नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे पट का कार्य शीतनिवारण नहीं हो सकता। अगर बिना पट का कार्य किए भी अन्तिम तन्तु को पट कहा जाय तो घट को भी पट कहना चाहिए। अनुमान-कमला अन्त्यावयव (अन्तिम भाग) में अवयवी (पदार्थ) नहीं रहता क्योंकि वह दिखाई नहीं देता। दिखाई देने की योग्यता होने पर भी जो वस्तु जहाँ दिखाई नहीं देती वह वहाँ नहीं रहती। जिस तरह आकाश में फूल। अन्तिम प्रदेश में जीव का व्यवहार नहीं होने से भी वह वहाँ नहीं रहता। अवयवी अन्त्यावयव मात्र है, क्योंकि अवयवी अन्तिम अवयव से पूर्ण होता है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें कोई दृष्टान्त नहीं है। प्रत्यक्ष अनुमान या आगम से वस्तु की सिद्धि होती है। जीवप्रादेशिक मत इन सबसे विरुद्ध होने के कारण मिथ्या है।

श्रावक द्वारा इस तरह समझाया जाने पर तिष्यगुप्त उसकी बात मान गया। श्रावक ने क्षमापापना करके उन्हें आहार बहराया। साधु तिष्यगुप्त अपने गुरु के पास चले आए और सम्यग् मार्ग अङ्गीकार करके गुरु की आज्ञानुसार विचरने लगे।

(३) अव्यक्तदृष्टि-भगवान् महावीर की मुक्ति के दो सौ चौदह साल बाद तीसरा निह्नव हुआ इसके मत का नाम था, अव्यक्तवाद

श्वेतविका नगरी के पोलासाढ़ चैत्य में आर्याषाढ़ नाम के आचार्य ठहरे हुए थे। उनके बहुत से साधुओं ने आगाढ़योग नाम का उग्र तप शुरू किया। दूसरे वाचनाचार्य के न होने से आचार्य आर्याषाढ़ ही वाचनाचार्य बन गए। आयुष्य कर्म समाप्त हो जाने से उसी रात को हृदयशूल द्वारा उन का देहान्त हो गया। मरकर वे सौधर्म देवलोक के नलिनी गुल्म नाम के विमान में पैदा हुए। गच्छ में कोई भी उनकी मृत्यु को न जान सका। अवधिज्ञान द्वारा पुराने सम्बन्ध को जानकर साधुओं पर दया करके वे नीचे आये और उसी शरीर में प्रवेश करके साधुओं को उपदेश करने लगे। उन्होंने कहा रात्रि के तीसरे पहर का कृत्य करो। साधुओं ने वैसा ही किया। फिर आचार्य ने शास्त्र के अनुसार उन्हें उद्देश (उपदेश) समुद्देश (शिक्षा) और अनुज्ञा (उचित कर्त्तव्य पालन) के लिए आज्ञा दी। इस तरह देवी प्रभाव से साधुओं को कालविभंगादि विघ्नों से बचाते हुए उनका योग पूरा करवा दिया।

तपस्या समाप्त होने पर स्वर्ग में जाते हुए आचार्य ने साधुओं से कहा 'आप लोग मेरा अपराध क्षमा करें, क्योंकि मैंने असंयत देव होकर भी आप संयतों से वन्दना करवाई है। मैं बहुत पहले स्वर्ग में चला गया था। आप पर अनुकम्पा करके यहाँ चला आया। आपका योग पूरा करवा दिया।' यह कहते हुए सबसे क्षमा माँग कर वे देवलोक में अपने स्थान पर चले गए।

इसके बाद उनके शरीर को घेर कर साधु लोग सोचने लगे-हमने बहुत दिनों तक असंयती की वन्दना की। वे दूसरी जगह भी सन्देह करने लगे। संयत कौन है और असंयत कौन है? इसलिए किसी को वन्दना नहीं करनी चाहिए। उन्होंने आपस में वन्दना व्यवहार छोड़ दिया। प्रत्येक स्थान पर सन्देह होने

लगा। 'यह साधु है या असाधु?'। जब प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं में भी इस तरह का सन्देह होने लगा तो अप्रत्यक्ष जीवा जीवादि तत्त्वों में सन्देह होना स्वाभाविक ही था।

शंका–जीवादि तत्त्व तो सर्वज्ञ द्वारा कहे गए हैं। इसलिए उनमें सन्देह के लिए स्थान नहीं है।

उत्तर–सन्देहशील व्यक्ति के मन में यह सन्देह हो सकता है कि ये तत्त्व सर्वज्ञ द्वारा कहे गए हैं या नहीं। इनका कहने वाला सर्वज्ञ था या नहीं? सामान्य रूप से साधुओं को जानने का मार्ग भी शास्त्रों में बताया ही है—

आलयेणा विहारेण ठाणा चंकमणेण य।
सक्का सुविहियं णाउं भासा वेणइएण य॥

अर्थात् स्थान, विहार, भ्रमण, भाषा और नम्रतादि से साधु अच्छी तरह जाने जा सकते हैं। प्रत्येक स्थान पर सन्देह करने से शय्या, उपधि और आहार आदि लेना भी कठिन हो जायगा। कौन जानता है कि जो आहार लिया जा रहा है वह शुद्ध है या अशुद्ध? इस तरह बहुत समझाने पर भी वे न माने।

एक दिन राजा बलभद्र ने उन्हें बुलाया और सब को मरवा डालने की आज्ञा दी। साधुओं ने कहा–

राजन्! हम लोग साधु हैं। हमारे प्राण क्यों लेते हो?

राजा–कौन जानता है आप साधु हैं या चोर?

साधु–हमारे वेश, रहन सहन और दूसरी बातों से आप जान सकते हैं कि हम साधु हैं।

राजा–यह आप लोगों का मत है कि किसी भी बात पर विश्वास मत करो। फिर मैं आपको साधु कैसे मानूं?

इस प्रकार बहुत समझाने पर वे राजा की बात मान गए।

(४) सामुच्छेदिक दृष्टि–वीर निर्वाण के दो सौ बीस साल

बाद सामुच्छेदिक दृष्टि नाम का चौथा निह्नव हुआ।

मिथिला नगरी के लक्ष्मीगृह नामक चैत्य में महागिरिसूरी का कौण्डिन्य नामक शिष्य ठहरा हुआ था। कौण्डिन्य का शिष्य अश्वमित्र अनुप्रवाद पूर्व में नैपुणिक नाम के अध्ययन को पढ़ रहा था। छिन्नच्छेदक (नय विभाग, प्रत्येक सूत्र का दूसरे सूत्र की अपेक्षा से रहित मानने वाला मत) नय के प्रकरण में उसने नीचे लिखे आशय का पाठ पढ़ा।

'पैदा हुए नारकी के सभी जीव समाप्त हो जायँगे। वैमानिक तक सभी समाप्त हो जायँगे। इसी तरह द्वितीयादि क्षणों में भी जानना चाहिए। इस पर उसे सन्देह हुआ कि पैदा होते ही यदि सब जीव नष्ट हो जायँगे तो पुण्य पाप का फल भोग कैसे होगा, क्योंकि जीव तो सभी पैदा होते ही नष्ट हो जायँगे ?

गुरु ने बहुत सी युक्तियों से समझाया किन्तु उसने अपना आग्रह न छोड़ा। उसे संघ से बाहर कर दिया। अपने मत का उपदेश देता हुआ वह राजगृह नगर चला गया। वहाँ शुल्कपाल का काम करने वाले खण्डरक्षक श्रावकों ने उन्हें निह्नव जानकर मारना शुरु किया। डरे हुए अश्वमित्र तथा उसके साथियों ने कहा—तुम लोग श्रावक हो, हम साधुओं को क्यों मारते हो ?

उन्होंने उत्तर दिया—तुम्हारे सिद्धान्त से जिन्होंने दीक्षा ली थी वे तो नष्ट हो चुके। तुम लोग तो चोर हो।

इस पर उन लोगों ने अपना आग्रह छोड़ दिया और अपने किए पर पश्चात्ताप करते हुए गुरु की सेवा में चले गए।

अश्वमित्र के इस मत में ऋजुसूत्र नय का एकान्त अवलम्बन किया गया है। इसलिए यह मिथ्या है। वस्तु का सर्वथा नाश कभी नहीं होता। नारकादि जीवों में प्रतिक्षण अवस्था बदलते रहने पर भी जीव द्रव्य एक ही बना रहता है। द्रव्य

की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु नित्य है। पर्याय की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु अनित्य (क्षणिक) है। सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक मानने वाले दोनों एकान्त पक्ष मिथ्या हैं।

शंका-पहिले बताए हुए आगमोक्त वचन से जीव क्षणिक सिद्ध होता है। इसको नित्य कहने से आगमविरोध हो जायगा।

उत्तर-केवल आगम को प्रमाण मानकर चलने पर भी क्षणिकैकान्त की सिद्धि नहीं होती। आगम में जीव को क्षणिक बताने के साथ साथ नित्य भी बताया है। भगवती सूत्र में नीचे लिखे आशय वाला पाठ है-

हे भगवन्! जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

गौतम! जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।

भगवन्! यह किस आधार पर कहा जाता है कि जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी?

गौतम! द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव शाश्वत है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अशाश्वत। नारकी जीव भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं। (भग श. ७ उद्देशा २)

'पढमसमयनेरइआ' इत्यादि जो आगम वाक्य पहिले दिया है उससे सर्वथा क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता। उसमें दिया गया है कि प्रथम समय के नारक नष्ट हो जायँगे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि समय बदल जायगा। प्रथम के स्थान पर द्वितीय हो जायगा। नारकी दोनों समय में एक ही रहेगा। यदि सर्वथा परिवर्तन हो जाय तो 'प्रथम समय में उत्पन्न हुआ' यह विशेषण व्यर्थ हो जाय। प्रत्येक समय में नया नया नारकी उत्पन्न हो तो वह सदा प्रथमसामयिक ही रहे। नारकी जीव के स्थिर रहने पर ही प्रथम द्वितीय या तृतीय समय वाला यह विशेषण उपपन्न हो सकता है।

शंका—यद्यपि प्रत्येक समय में नए नए नारक जीव उत्पन्न होते रहते हैं। कोई भी जीव दो क्षणों तक स्थिर नहीं रहता। फिर भी समान क्षण होने से उनकी सन्तानपरम्परा एक सरीखी चलती रहती है। जीवों की स्थिरता न होने पर भी उसी सन्तान को लेकर प्रथम द्वितीयादि क्षणों का व्यवहार होता है।
उत्तर—सर्वथा नाश मान लेने पर सन्तानपरम्परा नहीं बन सकती। किसी की किसी से समानता भी नहीं हो सकती। निरन्वय नाश (सर्वथा नाश) होने पर क्षणों का व्यवहार हो ही नहीं सकता। इसलिए सन्तानपरम्परा की कल्पना भी निराधार है।

दूसरी बात यह है कि सन्तान उन प्रतिक्षण नाश क्षणिक पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो वह पदार्थ स्वरूप ही हो गई। उसकी कोई अलग सत्ता न रहेगी। ऐसी दशा में उसका मानना ही व्यर्थ है। यदि सन्तान भिन्न है तो वह नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो सब वस्तुओं को क्षणिक मानने वाला तुम्हारा मत दूषित हो गया। यदि अनित्य है तो सन्तान भी अनित्य होने से प्रथम द्वितीयादि क्षणों के व्यवहार का कारण नहीं बन सकती।

पूर्वक्षण का उत्तरक्षण में यदि किसी रूप से अनुगमन (अनुसरण) होता हो तभी उन दोनों की समानता हो सकती है। पूर्वक्षण का सम्पूर्ण रूप से निरन्वयनाश मान लेने पर यह समता नहीं हो सकती। सर्वथा नाश होने पर भी यदि समानता मानते हो तो आकाशकुसुम के साथ भी समानता हो सकती, क्योंकि सर्वथा नष्ट पूर्वक्षण आकाशकुसुम के समान है।

निरन्वयनाश (सर्वथा नाश) हो जाने पर पूर्वक्षण और उत्तरक्षण परस्पर एसे भिन्न हो जाते हैं जैसे घट और पट। यदि सर्वथा भिन्न पूर्वक्षण के नाश हो जाने पर उससे सर्वथा

भिन्न उत्तरक्षण भी उसके समान मान लिया जाता है तो संसार की सारी वस्तुएं उसके समान हो जायेंगी, क्योंकि अनन्वयित्व और अन्यत्व सब जगह समान हैं। अगर यह कहा जाय कि संसार की वस्तुओं में देशादि का व्यवधान (अन्तर) होने से उनकी समानता नहीं हो सकती। उत्तरक्षण तो पूर्वक्षण के साथ सम्बद्ध है। यह भी ठीक नहीं है। सर्वथा नाश मान लेने पर पूर्व और उत्तरक्षण का सम्बन्ध नहीं बन सकता। सम्बन्ध के अलग मान लेने पर उसी को अन्वयी और स्थायी मानना पड़ेगा।

क्षणिकवादियों पर एक और दोष है। एक ही चित्त जब असंख्य समय तक ठहरता है तभी शास्त्र का ज्ञान हो सकता है। प्रत्येक क्षण में पूर्व पूर्वचित्त के नष्ट होने पर नए नए चित्त के द्वारा शास्त्र की बातों का ज्ञान नहीं हो सकता। जिस चित्त और इन्द्रिय के द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान होगा वे तो ज्ञान के समय ही नष्ट हो जायेंगे। इस तरह उत्तरोत्तर ज्ञान का पूर्व पूर्व ज्ञान के साथ कुछ भी सम्बन्ध न होने से सारी विचारधारा विशृङ्खलित हो जायगी।

शास्त्रज्ञान के लिए पदज्ञान और पदज्ञान के लिए अक्षर ज्ञान आवश्यक हैं। पूर्वपूर्व अक्षरज्ञान से सहकृत उत्तरोत्तर ज्ञान पद जन्य ज्ञान को पैदा करता है। इसमें असंख्य समय लग जाते हैं। इसी तरह पदज्ञान वाक्यज्ञान को। प्रतिक्षण निरन्वयनाश होने पर पदज्ञान या वाक्यज्ञान नहीं हो सकेगा। फिर तुम्हारा यह कहना असंगत हो जायगा कि शास्त्र के द्वारा वस्तुओं का क्षणिकत्व माना जाता है, क्योंकि क्षणिकवाद में शास्त्र का अर्थज्ञान ही अनुपपन्न है।

क्षणिकवाद में और भी बहुत सी अनुपपत्तियाँ हैं। प्रत्येक समय में वस्तु का नाश मान लेने से जो मनुष्य भोजन या जल

पान करेगा उसे तृप्ति न होगी, क्योंकि भोजन करने वाला तो नष्ट होगया। इसी तरह पक्षावद, ग्लानि, साधर्म्य, वैधर्म्य, प्रत्यभिज्ञान, अपने रक्खे हुए को दुबारा ढूँढना, स्मृति, अध्ययन, ध्यान, भावना इत्यादि कुछ भी नहीं बन सकेंगे क्योंकि सभी में चित्त, आत्मा या शरीर की स्थिरता आवश्यक है।

शंका- तृप्त्यादि की वासना लेकर पूर्वपूर्व क्षण से उत्तरोत्तर क्षण पैदा होता है। अन्त में उसी वासना के कारण तृप्ति अपनी क्रिया को पहुँच जाती है। इस तरह क्षणिक पक्ष में ही तृप्त्यादि उपपन्न होते हैं। नित्य में यह बात नहीं हो सकती क्योंकि वह हमेशा एक सरीखा रहता है। न कभी नष्ट होता है न उत्पन्न।

उत्तर- पूर्व पूर्वक्षण से उत्तरोत्तर क्षण में तृप्त्यादि की वृद्धि का कारण वासना नहीं हो सकती, क्योंकि वासना अगर क्षणों से अभिन्न है तो उन्हीं के साथ नष्ट हो जायगी। अगर वह उत्तरोत्तर क्षणों में अनुवृत्त होती है तो पूर्व पूर्वक्षण का सर्वनाश सिद्ध नहीं होता। क्षणिकवाद में दीक्षा लेने का भी कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। दीक्षा मोक्ष प्राप्ति के लिए ली जाती है। मोक्ष इस मत में नाश स्वरूप है और नाश सभी वस्तुओं का स्वतःसिद्ध है। फिर उसके प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। अगर मोक्ष को नित्य माना जाय तो इसीसे क्षणिक वाद खण्डित हो जायगा।

शंका- विज्ञान, वेदना, संज्ञा संस्कार और रूप इन पाँच स्कन्धों की क्षणपरम्परा का नाश हो जाना ही मुक्ति है। इसी स्कन्ध पञ्चक का समुच्छेद करने के लिए दीक्षादि का विधान है।

उत्तर- जो जीव दूसरे ही क्षण में सर्वथा नष्ट हो जाता है उसे सन्तानपरम्परा का नाश करने से क्या प्रयोजन, जिसके लिए उसे दीक्षा लेनी पड़े? दूसरी बात यह है कि जो जीव सर्वथा

अभाव स्वरूप होने वाला है, उसे अपनी और पराई सन्तान की चिन्ता से क्या मतलब ?

शंका—सभी वस्तुएं क्षणिक हैं, क्योंकि अन्त में उनका नाश प्रत्यक्ष दिखाई देता है जैसे पानी। मुद्गरादि के द्वारा घट का नाश सम्भव नहीं है क्योंकि वे किसी भी रूप में घट का नाश नहीं कर सकते। इसलिए प्रत्येक वस्तु का स्वभाव ही प्रति क्षण नाश वाला मानना चाहिए। अगर प्रतिक्षण नाश न होगा तो अन्त में भी नाश नहीं हो सकेगा।

उत्तर—क्योंकि अन्त में नाश दिखाई देता है इसी हेतु से वस्तु में प्रतिक्षण नाश का अभाव भी सिद्ध किया जा सकता है। हम कह सकते हैं वस्तु प्रतिक्षण नष्ट नहीं होती क्योंकि अन्तिम क्षण में नाश दिखाई देता है, घटादि की तरह। यह नहीं कहा जा सकता कि युक्ति के विपरीत होने से यह उपलब्धि भ्रान्त है। क्योंकि इस प्रत्यक्षोपलब्धि से युक्तियाँ ही मिथ्या सिद्ध होंगी, जिस तरह शून्यवादी की युक्तियाँ।

यदि वस्तु का नाश प्रत्येक क्षण में समान रूप से होता रहता है तो अन्तिम क्षण में ही वह क्यों दिखाई देता है ? प्रथम और मध्य क्षणों में क्यों नहीं दिखाई देता ? यदि वस्तु का नाश सर्वत्र समान ही है तो मुद्गरादि के द्वारा किया जाने पर विशेष रूप से क्यों मालूम होता है ? आदि और मध्य में भी उसी तरह क्यों नहीं मालूम पड़ता ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान क्षणिकवाद में नहीं हो सकता।

'अन्त में नाश दिखाई देने से' इस हेतु में असिद्ध दोष भी है। क्योंकि जैन दर्शन अन्तिम क्षण में भी वस्तु का सर्व नाश नहीं मानता। घट कपालावस्था में भी पुद्गलद्रव्यरूप तो रहता ही है। अगर सर्वनाश हो तो वह कपाल रूप से भी न रहे,

अभाव रूप हो जाय । इस तरह यह दृष्टान्त जैन सिद्धान्त में अनभिमत होने से असिद्ध है।

अगर उपरोक्त हेतु को ठीक मान लिया जाय तब भी उससे सभी वस्तुओं की नित्यता सिद्ध नहीं होती। जिन आकाश काल, दिशा आदि पदार्थों का अन्त में भी नाश नहीं देखा जाता वे क्षणिक सिद्ध न होंगे। उनको नित्य मान लेने पर सभी वस्तुओं को क्षणिक बतान वाला मत खण्डित हो जायगा।

उपसंहार–पर्यायार्थिक नय का मत है कि सभी वस्तुएं उत्पाद विनाश स्वभाव वाली हैं। द्रव्यार्थिक नय से तो सभी वस्तुएं नित्य हैं। ऐसा होने पर भी एक ही पर्यायार्थिक नय का मत मानकर चलना मिथ्यात्व है। द्वीप, समुद्र और त्रिभुवन की सभी वस्तुएं नित्यानित्य हैं। इन्हें एकान्त मानना मिथ्यात्व है। यही सर्वज्ञ भगवान् का मत है। सुख दुःख बन्ध मोक्ष सभी बातें दोनों नयों को मानने पर ही ठीक हो सकती हैं। किसी एक को छोड़ देने पर सारे व्यवहार का लोप हो जाता है।

सिर्फ पर्यायार्थिकनय का मत मान लेने पर संसार में सुख दुःखादि की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। क्योंकि जीव तो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायगा, जैसे मृत। केवल द्रव्यार्थिक नय मानने से भी सुख दुःखादि की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वस्तु के एकान्त नित्य होने से उसका स्वरूप आकाश की तरह अपरिणामी होगा। इस तरह द्रव्य और पर्याय दोनों का पक्ष स्वीकार करना चाहिए।

आचार्य ने अश्वमित्र को बहुत समझाया और कहा कि अगर जैनमत मानना है तो दोनों ही नयों को लेकर चलना चाहिए। बौद्धों की तरह क्षणिक मानने से संसार की कोई भी व्यवस्था नहीं हो सकती।

इस तरह युक्ति से समझाने पर भी अश्वमित्र न माना तो राजगृह में खण्डरक्षकों के द्वारा भय और युक्ति दोनों से समझाया जाने पर वह अपने गुरु के पास चला आया।

(५) द्वैक्रिय–भगवान् महावीर की मुक्ति के दो सौ अट्ठाईस वर्ष बाद द्वैक्रिय नामक पाँचवा निह्नव हुआ।

उल्लुका ग्राम की नदी के एक किनारे उल्लुकातीर नाम का नगर बसा हुआ था। दूसरे किनारे धूलि के आकार वाला एक खेड़ा था। नदी के कारण वह सारा प्रदेश उल्लुका कहलाता था। नगर में महागिरि का शिष्य धनगुप्त रहता था। उसका शिष्य आर्यगङ्ग नाम का आचार्य था। वह नदी के पूर्व तट पर रहता था और आचार्य दूसरे तट पर। एक दिन आचार्य को वन्दना करने के लिए जाते हुए आर्यगङ्ग को नदी पार करनी पड़ी। खल्वाट (गंजा) होने से उसकी खोपड़ी तप रही थी। नदी का जल ठंडा होने से पैरों में शैत्य का अनुभव हो रहा था। मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होने से उसके मन में विचार आया– शास्त्र में दो क्रियाओं का एक साथ होना निषिद्ध है। लेकिन मैं सरदी और गरमी दोनों का एक साथ अनुभव कर रहा हूँ। अनुभव के विपरीत होने से शास्त्र का वचन ठीक नहीं है। उसने अपना विचार गुरु के सामने रखा। गुरु ने उसे बहुत सी युक्तियों से समझाया। फिर भी हठ न छोड़ने पर संघ से बाहर कर दिया गया। घूमता हुआ वह राजगृह नगर में आया। वहाँ पर महातपस्तीरप्रभ नाम के झरने के किनारे मणिनाग यक्ष का चैत्य है। उसके समीप सभा में गङ्ग ने एक साथ दो क्रियाओं के अनुभव का उपदेश दिया। यह सुनकर क्रोधित मणिनाग ने कहा–अरे दुष्ट! यह क्या कहते हो? एक दिन यहीं पर भगवान् महावीर

ने एक समय में एक ही क्रिया होने का उपदेश दिया था। क्यों तुम उनसे भी बढ़ गए हो ? जो एक समय में अनेक क्रियाओं का अनुभव बतलाते हो। इस झूठे उपदेश को छोड़ दो। नहीं तो तुम्हें मार डालूंगा। भय और युक्ति दोनों द्वारा समझाया जाने पर उसने यक्ष की बात मान ली। अपनी मिथ्या भ्रान्ति के लिए पश्चात्ताप करता हुआ गुरु की सेवा में चला गया।

शंका-आर्यगङ्ग का कहना है कि एक साथ दो क्रियाओं का होना सम्भव है, क्योंकि यह बात अनुभव सिद्ध है। जैसे मेरे पैर में सरदी और सिर में गरमी का एक साथ अनुभव। इस अनुमान से एक साथ दो क्रियाओं का होना सिद्ध होता है।

उत्तर-एक साथ दो क्रियाओं का अनुभव असिद्ध है। सब जगह अनुभव क्रम से ही होता है। समय के अत्यन्त सूक्ष्म होने से तथा मन के चञ्चल, अतीन्द्रिय तथा शीघ्रगति वाला होने से ऐसी भ्रान्ति होती है कि अनुभव एक साथ ही हो रहा है। इस भ्रान्ति के आधार पर कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतीन्द्रिय पुद्गल स्कन्धों से बना हुआ होने के कारण मन सूक्ष्म है। शीघ्र संचरण स्वभाव वाला होने से आशुगामी है। स्पर्शादि द्रव्यन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाले जिस देश से मन का सम्बन्ध जिस समय जितना होता है, उस समय उतना ही ज्ञान होता है। शीतोष्ण वगैरह का ज्ञान भी वहीं होता जहाँ इन्द्रिय के साथ मन का पदार्थ से सम्बन्ध होगा। जहाँ मन का सम्बन्ध नहीं होता वहाँ ज्ञान भी नहीं होता। इस कारण से दूर और भिन्न देशों में रही हुई दो क्रियाओं का अनुभव एक साथ और एक समय नहीं हो सकता। पैर और सिर में होने वाला भिन्न भिन्न शीतलता और उष्णता का अनुभव भी एक साथ नहीं हो सकता। इसके लिए अनुमान देते हैं-पैर और सिर में होने

वाले शीतलता और उष्णता के अनुभव भी एक साथ नहीं हो सकते, क्योंकि वे दोनों भिन्न भिन्न देश में रहते हैं। जिस तरह विन्ध्याचल और हिमालय के शिखरों को कोई एक साथ नहीं छू सकता। इस तरह अनुभव के विपरीत होने से क्रियाद्वयवादी का हेतु असिद्ध है।

जीव उपयोगमय है। वह जिस समय, जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय के साथ उपयुक्त होता है उसी का ज्ञान करता है। दूसरे पदार्थों का ज्ञान नहीं कर सकता जैसे मेघ (बादल) के उपयोग में लगा हुआ बालक दूसरी सब वस्तुओं को भूल जाता है। जीव एक समय में एक ही जगह उपयुक्त होता है दूसरी जगह नहीं। इसलिए एक साथ एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव असिद्ध है।

जीव की सारी शक्ति एक क्षण में एक ही तरफ लगी रहती है। इसलिए वह उस समय दूसरी वस्तु का अनुभव नहीं कर सकता। एक साथ अनेक अनुभव होने से सांकर्य दोष आ जायगा। एक समय में जीव के सभी प्रदेश एक ही तरफ उपयुक्त हो जाते हैं। ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचता जिस से वह दूसरी क्रिया का अनुभव कर सके। इससे जीव एक साथ दो क्रियाओं का अनुभव नहीं कर सकता। इनसे मालूम पड़ता है कि एक साथ दो क्रियाओं की प्रतीति भ्रान्त है। इस भ्रान्ति का कारण समय की शीघ्रता और मन की अस्थिरता एवं चञ्चलता है। बहुत से कोमल पत्ते एक दूसरे पर रखने पर अगर उन्हें हम भाले से एक दम छेदा जाय तो ऐसा मालूम पड़ेगा जैसे सब एक साथ ही छिद गए। पर निश्चित है कि पहिले पत्ते के बिना छिदे दूसरा नहीं छिद सकता। सभी पत्ते क्रम से ही छिदते हैं। फिर भी शीघ्रता के कारण यह मालूम पड़ता है कि सभी एक साथ छिद

गए। इसी तरह आलातचक्र (लाठी के दोनों कोनों पर आग लगाकर घुमाने से बनने वाला अग्निचक्र) घुमाने से ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वह अग्नि का एक चक्कर है जिसके चारों ओर आग फैल रही है। वास्तव में ऐसा नहीं है। जिस तरह इन दोनों स्थानों पर शीघ्रता के कारण भ्रान्ति हो जाती है उसी तरह मन की शीघ्रता के कारण कालभेद होने पर भी ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि हम दो क्रियाओं का अनुभव एक साथ कर रहे हैं।

मन भी एक साथ दो इन्द्रियों या इन्द्रिय के देशों के साथ सम्बद्ध नहीं होता। केवल शीघ्रगामी होने से सब के साथ सम्बद्ध की तरह मालूम पड़ता है। जैसे सूखी तिलपापड़ी खाते समय उसके शब्द रूप रस गंध और स्पर्श का अनुभव एक साथ मालूम पड़ता है। अथवा दूध मीठा और पानी का स्वाद एक साथ मालूम पड़ता है। वास्तव में सभी ज्ञानों के क्रमिक होने पर भी शीघ्रता के कारण एक साथ मालूम पड़ते हैं। इसी तरह शीत और उष्ण का स्पर्श पैर और सिर में क्रमिक होने पर भी एक साथ मालूम पड़ता है।

अगर ज्ञानों को क्रमिक न माना जाय तो सांकर्य आदि दोष आजाते हैं। मतिज्ञानोपयोग के समय अवधिज्ञानोपयोग होने लगेगा। घटज्ञान के साथ ही अनन्त पदार्थों का भान होने लगेगा किन्तु यह बात अनुभव विरुद्ध है। ज्ञानों के क्रमिक होने पर भी ज्ञाता एक साथ उत्पत्ति मानता है। समय आवलिका आदि काल का विभाग अत्यन्त सूक्ष्म होने से उस मालूम नहीं पड़ता। एक साथ ज्ञान को उत्पन्न न होने देना मन का धर्म है। इस लिए एक ही साथ शीतोष्णादि का अनुभव नहीं हो सकता।

यदि एक वस्तु में उपयुक्त मन भी दूसरी वस्तु को जान सकता है तो दूसरी तरफ ध्यान में लगा हुआ कोई व्यक्ति सामने

खड़े हुए हाथी को नहीं देखता ?

अगर एक से अधिक क्रियाओं का उपयोग एक समय में मानते हो तो दो क्रियाओं का नियम नहीं बन सकेगा। एक ही समय हाथी की तरह बहुत से उपयोग होने लगेंगे। अवधिज्ञानी को एक ही पदार्थ में अनेक उपयोग होने लगेंगे।

शंका—एक वस्तु में एक समय में अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि अनेक उपयोग होते ही हैं। इसलिए तुम्हारी यह आपत्ति ठीक नहीं है।

उत्तर—बहु बहुविध आदि स्वरूप वस्तु के अनेक पर्यायों का ग्रहण अवग्रहादि के द्वारा होता है। वहाँ उत्तरोत्तर उपयोग अलग अलग पर्यायों को ग्रहण करता है। ये सब होते भी भिन्न भिन्न समय में हैं। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि एक ही वस्तु में एक समय में अनेक उपयोग होते हैं।

शंका—क्या दो क्रियाओं का एक साथ उपयोग किसी प्रकार नहीं हो सकता ?

उत्तर—सामान्य रूप से हो सकता है। जब यह कहा जाय 'मुझे वेदना हो रही है।' शीत और उष्ण का विशेष वेदन तो एक साथ नहीं हो सकता।

शंका—यदि वेदना मात्र का ग्रहण सामान्यज्ञान है तो शीत और उष्ण रूप से भी यह उसे क्यों नहीं ग्रहण करता ?

उत्तर—सामान्यग्राहक और विशेषग्राहक दोनों ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते, क्योंकि सामान्य और विशेष दोनों भिन्न २ लक्षण वाले हैं। एक समय दोनों एक ही ज्ञान में नहीं मालूम पड़ते। अगर दोनों एक ही मालूम होने लगें तो एक ही हो जावें। जैसे सामान्य और उसका स्वरूप या विशेष और उसका स्वरूप। सामान्य और विशेष ज्ञान भिन्न हैं। इस लिए

से ही हो सकते हैं। वस्तु का पहिले सामान्य ज्ञान होता है फिर विशेष। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा भी क्रम से ही होते हैं।

जिस तरह सामान्य और विशेष ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते उसी तरह बहुत से विशेष ज्ञान भी एक साथ नहीं हो सकते। परस्पर भिन्न विषय वाले विशेष ज्ञान भिन्न २ समयों की अपेक्षा रखते हैं। एक विशेष ज्ञान के बाद द्वितीय क्षण में दूसरा विशेषज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषज्ञान से पहिले सामान्य ज्ञान का होना आवश्यक है। अवग्रह ईहादि क्रम से ही विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है। एक विशेष ज्ञान के कई क्षणों के बाद दूसरा विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में उनका एक साथ होना तो असम्भव ही है।

पहिले घटत्वाश्रय घट आदि का सामान्य ज्ञान होता है। उसके बाद 'यह धातु का बना हुआ है, या मिट्टी का' इस प्रकार संशय होने पर ईहा होती है। फिर अवाय में यह धातु का बना हुआ है, इस प्रकार निश्चय होता है। इनमें पूर्व पूर्व ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञान की अपेक्षा सामान्य है। फिर 'यह ताम्बे का है, चाँदी का नहीं है' इत्यादि निश्चय (धारणा) होता है। सामान्य रूप से तो विशेषों का ग्रहण एक साथ भी हो सकता है। जैसे सेना वन इत्यादि। शीत और उष्ण का ज्ञान भिन्न भिन्न समय में ही होता है। इसलिए क्रियाद्वयवादी का मत भ्रान्त है।
(विशे० गा० २४२४-५०)

(६) त्रैराशिक—भगवान् महावीर की मुक्ति के पाँच सौ चवालीस साल बाद त्रैराशिकदृष्टि नाम का छठा निह्नव हुआ। अन्तरञ्जिका नाम की नगरी के बाहर भूतगुह नाम का चैत्य था। उस चैत्य में श्रीगुप्त नाम के आचार्य ठहरे हुए थे। नगरी के राजा का नाम था बलश्री। श्रीगुप्ताचार्य का रोहगुप्त नाम का एक शिष्य था। वह किसी दूसरे गाँव में रहता था। वह एक बार

गुरु दर्शन के लिए अन्तरञ्जिका में आया । उस दिन एक परिव्राजक लोहे की पट्टी से पेट बांधकर जम्बूवृक्ष की शाखा हाथ में लिए हुए उसी नगरी में घूम रहा था। किसी के पूछने पर वह उत्तर देता, मेरा पेट ज्ञान से बहुत अधिक भरा हुआ है। फूटने के डर से लोहे की पट्टी बांध रक्खी है। जम्बूद्वीप में मेरा कोई प्रतिवादी नहीं है। इस बात को बताने के लिए जम्बूवृक्ष की शाखा हाथ में ले रक्खी है। कुछ दिनों के बाद उस परिव्राजक ने ढिंढोरा पिटवाया 'दूसरों के सभी सिद्धान्त खोखले हैं। मेरा कोई भी प्रतिवादी नहीं है।'

लोहे की पट्टी पेट पर बंधी होने से 'पोट्ट' तथा जम्बूवृक्ष की शाखा हाथ में होने के कारण 'शाल' इस प्रकार उसका नाम पोट्टशाल पड़ गया।

नगरी में घूमते हुए रोहगुप्त ने ढिंढोरा और उसके साथ की घोषणा सुनी। 'मैं इसके साथ शास्त्रार्थ करूँगा' ऐसा कहकर उसने गुरु से बिना पूछे ही, ढिंढोरा रुकवा दिया। आलोचना करते हुए उसने सारी घटना गुरु को सुनाई। आचार्य ने कहा- तुमने ठीक नहीं किया। वह परिव्राजक के सात विद्याएं सिद्ध हैं। शास्त्रार्थ में हार जाने पर वह उनका प्रयोग करता है। वे इस प्रकार हैं-वृश्चिकप्रधाना, सर्पप्रधाना, मूषकप्रधाना, मृगी, वराही, काकविद्या, पोताकी विद्या। रोहगुप्त ने कहा अब तो कुछ नहीं हो सकता। मैंने ढिंढोरा रुकवा दिया है। जो होगा वह देखा जायगा।

आचार्य ने कहा-यदि यही बात है तो उसकी विद्याओं को निष्फल करने के लिए सात विद्याएं तुम भी सीख लो। पढ़ते ही तुम्हें सिद्ध हो जायेंगी। उनके नाम ये हैं-मोरी, नकुली, बिडाली, व्याघ्री, सिंही, उल्लूकी तथा ओलावकी। इन्हें ग्रहण कर

क तुम परिव्राजक का दमन कर सकोगे। रोहगुप्त ने सारी विद्याएं सीख लीं। इनके सिवाय आचार्य ने उसे रजोहरण अभिमन्त्रित करके दिया और कहा यदि और कोई छोटा मोटा उपद्रव उसकी क्षुद्र विद्याओं के कारण उपस्थित हो तो उसके सिर पर रजोहरण घुमा देना। फिर तुम्हें देवता भी नहीं जीत सकता, उस सरीखे मनुष्य की तो बात ही क्या ?

रोहगुप्त राजसभा में गया और कहा-यह शास्त्र क्या जानता है ? अपनी इच्छा से यह कोई पूर्व पक्ष करे। मैं उसका खंडन करूँगा। परिव्राजक ने सोचा, ये लोग चतुर होते हैं। इन्हीं का सम्मत पक्ष ले लेता हूँ। जिससे कि निराकरण न हो सके।

परिव्राजक ने कहा-संसार में जीव और अजीव दो ही राशियाँ हैं, क्योंकि वैसा ही मालूम पड़ता है। जैसे शुभ और अशुभ दो राशियाँ।

रोहगुप्त ने परिव्राजक को हराने के लिए अपने सिद्धान्त का भी खंडन शुरू किया। वह बोला यह हेतु असिद्ध है, क्योंकि जीव और अजीव के सिवाय नोजीव नाम की भी राशि मालूम पड़ती है। नारकी, तिर्यञ्च आदि जीव हैं। परमाणु और घट वगैरह अजीव हैं। छिपकली की पूँछ नोजीव है। ये तीन राशियाँ हैं, क्योंकि वैसी ही उपलब्धि होती है। जैसे उत्तम मध्यम और अधम मामक तीन राशियाँ। इस प्रकार की युक्तियों से परिव्राजक निरुत्तर हो गया और रोहगुप्त की जीत हुई।

परिव्राजक को क्रोध आगया। उसने वृश्चिक विद्या से रोहगुप्त का नाश करने के लिए बिच्छू छोड़े। रोहगुप्त ने मोरी विद्या से मोरों को छोड़ दिया। मोरों द्वारा बिच्छू मारे जाने पर परिव्राजक ने साँपों को छोड़ा। रोहगुप्त ने नेवले छोड़ दिये। इसी तरह चूहों

पर बिडाल,मृगी पर व्याघ्र, शूकरों पर सिंह, कौओं पर उल्लू और पोताकियों पर बाजों को छोड़ा गया। अन्त में परिव्राजक ने गर्दभी छोड़ी। रोहगुप्त ने सिर पर रजोहरण घुमा कर गर्दभी को पीटा। वह उल्टी परिव्राजक पर टूट पड़ी। उस पर मूत्रपुरीषोत्सर्ग करके चली गई। सभापति, सभ्य और सारी जनता द्वारा निन्दित होता हुआ परिव्राजक नगर के बाहर निकाल दिया गया।

पोट्टशाल परिव्राजक को जीत कर रोहगुप्त (जिसका दूसरा नाम षडुलूक था) गुरु के पास आया और सारा हाल सुनाया। आचार्य ने कहा यह तुमने अच्छा किया कि उसे जीत लिया। किन्तु उठते समय यह क्यों नहीं कहा कि यह हमारा सिद्धान्त नहीं है। जैन शास्त्रों में जीव और अजीव दो ही राशियाँ हैं। तीसरी राशि की कल्पना उसे हराने के लिये की गई है। अब भी,जाकर सभा में तुम यह बात कहो कि परिव्राजक का मिथ्या अभिमान दूर करने के लिये ही ऐसा किया गया है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। गुरु के बहुत समझाने पर भी रोहगुप्त कहने लगा यह अपसिद्धान्त नहीं है। नोजीव नाम की तीसरी राशि मानने में कोई दोष नहीं है। छिपकली की पूंछ नोजीव है।

नोजीव में नो शब्द का अर्थ सर्वनिषेध नहीं है। नो जीव का अर्थ है जीव का एक देश न कि जीव का अभाव। छिपकली की कटी हुई पूँछ को जीव नहीं कहा जा सकता। जीव शरीर का एक देश होने के कारण वह उससे विलक्षण है। अजीव भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें हलन चलन होती है। इसलिए उसे नोजीव ही मानना ठीक है।

शास्त्र में कभी भिन्न न होने वाले धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के भी देश और प्रदेश बताए हैं। फिर शरीर से अलग हो जाने वाली छिपकली की पूँछ को

आत्मप्रदेश क्यों कहा जाय । नोजीव का अर्थ है जीवप्रदेश क्योंकि यह जीव और अजीव दोनों से ही विलक्षण है ।

समभिरूढनय के मत से भी जीवप्रदेश को नोजीव माना गया है। अनुयोगद्वार में प्रमाणद्वार के अन्तर्गत नय का विचार करते हुए इस बात को स्पष्ट कहा है । समभिरूढनय शब्दनय को कहता है—यदि कर्मधारय से कहते हो तो इस तरह कहो 'जीव रूप जो प्रदेश उसके समदेश नोजीव है ।'

इसमें प्रदेश रूप जीव के एक देश को नोजीव कहा है। जिस तरह घट का एक देश नोघट कहा जाता है । इसलिये नोजीव नाम की तीसरी राशि है । यह भी जीवाजीवादि तत्त्वों की तरह युक्ति और आगम से सिद्ध है ।

षडुलूक के इस प्रकार कहने पर आचार्य ने उत्तर दिया यदि सूत्र को प्रमाण माना जाय तो जीव और अजीव दो ही राशियाँ हैं । स्थानाङ्गसूत्र में दो राशियाँ कही गई हैं—जीव और अजीव। अनुयोगद्वार में भी कहा है कि जीवद्रव्य और अजीव द्रव्य। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि जीव और अजीव इन्हीं से लोक व्याप्त है । इसी प्रकार दूसरे सूत्रों में भी ऐसे प्रवचन हैं। तीसरी नोजीव राशि नहीं कही गई । उसकी सत्ता बताना शास्त्र का अनादर करना है । धर्मास्तिकाय आदि का देश भी उनसे भिन्न नहीं है। केवल विवक्षा के लिये उसमें भिन्नत्व की कल्पना की गई है । इसी तरह पूँछ भी छिपकली से अभिन्न ही है, क्योंकि वह उसी के साथ लगी हुई है। इसलिये वह जीव ही है। नोजीव नहीं । छुरी आदि से जब छिपकली की पूँछ कट जाती है तो उसके अलग हो जाने पर भी बीच में जीव प्रदेशों का सम्बन्ध बना रहता है । यही बात भगवती सूत्र में बताई है ।

) 'अह भगवम् ! कछुआ कछुए का श्रवयव, मनुष्य, मनुष्य के

अवयव, गोह, गोह के अवयव, गाय, गाय के अवयव, महिष, महिष के अवयव–इनके दो तीन या असंख्यात टुकड़े हो जाने पर क्या बीच में भी जीव प्रदेश रहते हैं ? हाँ, रहते हैं।

हे भगवन् ! क्या कोई पुरुष उन जीव प्रदेशों को अपने हाथ से छूकर किसी तरह पीड़ा पहुँचा सकता है? नहीं, यह बात सम्भव नहीं है। वहाँ शस्त्र की गति नहीं होती।

इन वाक्यों से जीव और उनके कटे हुए भाग के बीच में जीव प्रदेशों का होना सिद्ध है। अत्यन्त सूक्ष्म और अमूर्त होने से उन्हें कोई भी नहीं देख सकता।

जिस प्रकार दीप का प्रकाश आकाश में दिखाई नहीं पड़ता, वही घटपटादि पदार्थों पर मालूम पड़ने लगता है। उसी तरह जीव का भाग श्वासोच्छ्वास वगैरह क्रियाओं के कारण शरीर में ही होता है। अन्तराल में मालूम नहीं होता। देह के न होने पर जीव के लक्षण भी नहीं दिखाई पड़ते। देह रहित मुक्तात्मा अथवा कटी पूँछ वाला अन्तरालवर्ती जीव को केवलज्ञान आदि अतिशय से रहित प्राणी नहीं जान सकता। इसी तरह अति सूक्ष्म देह वाला निगोदादि जीव या कार्मणशरीर वाले प्राणी को भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। अन्तरालवर्ती जीव प्रदेशों को शस्त्रादि से कोई किसी तरह की बाधा नहीं पहुँचा सकता।

शंका–कट जाने से छिपकली की पूँछ वाला हिस्सा अलग हो जाता है तो उसे नोजीव क्यों नहीं कहा जाता ? जिस तरह गली में पड़ा हुआ घड़े का टुकड़ा नोघट कहलाता है।

उत्तर–यह कहना ठीक नहीं है। जीव का खंड खंड करके नाश नहीं होता, क्योंकि वह आकाश की तरह अमूर्त है, अकृतक है। घटादि की तरह उसमें विकार नहीं देखे जाते। शस्त्रादि कारणों से भी उसका नाश नहीं हो सकता। अगर जीव का

खण्डशः नाश मान लिया जाय तो कभी न कभी उसका सर्वनाश भी मानना पड़ेगा। जो वस्तु खण्डशः नष्ट होती है घटपटादि की तरह उसका सर्वनाश भी अवश्य होता है।

शंका–अगर इस तरह जीव का नाश मान लिया जाय तो क्या हानि है?

समाधान–जीव का नाश मान लेने से जैनमत का त्याग करना होगा। शास्त्र में कहा है, हे भगवन्! जीव बढ़ते हैं, घटते हैं या एक सरीखे स्थिर हैं? हे गौतम! जीव न बढ़ते हैं, न घटते हैं। हमेशा स्थिर रहते हैं। जीव का सर्वनाश मान लेने से कभी मोक्ष नहीं होगा क्योंकि मुमुक्षु का नाश तो पहिले ही हो जायगा। मोक्ष न होने से दीक्षा वगैरह लेना व्यर्थ हो जायगा। क्रम से सभी जीवों का नाश हो जाने से संसार शून्य हो जायेगा। जीव के नाश होने पर किये हुए कर्मों का नाश होने से कृतनाश दोष आयेगा। अतः जीव का खंडशः नाश मानना ठीक नहीं। छिपकली आदि के औदारिक शरीर का ही नाश होता है। वही प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जीव का नाश नहीं दिखाई देता।

शंका–जिस तरह पुद्गलस्कन्ध सावयव होने से संघात और भेद वाला माना जाता है अर्थात् एक पुद्गलस्कन्ध में दूसरे स्कन्ध के परमाणु आकर मिलते हैं और उससे अलग होकर दूसरी जगह चले जाते हैं, इसी तरह जीव में भी दूसरे जीव के प्रदेश आकर मिलते रहेंगे और उस जीव के अलग होते रहेंगे। इस प्रकार मानने से जीव का नाश नहीं होगा। एक तरफ से खण्डशः नाश होता रहेगा, दूसरी तरफ से प्रदेशों का संघात होता रहेगा।

उत्तर–यह ठीक नहीं है। इस तरह संसार के सारे जीवों में परस्पर मिलावट हो जायगी। एक जीव के बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरे को भोगना पड़ेगा। कृत का नाश और अकृत

का अभ्यागम होने से मुख दुःखादि की व्यवस्था टूट जायगी।

शंका—जिस तरह धर्मास्तिकाय का प्रदेश उससे अलग न होने पर भी 'नोधर्मास्तिकाय' कहा जाता है। उसी तरह जीवप्रदेश जीव से अलग न होने पर भी नोजीव शब्द से कहा जायगा।

उत्तर—यदि इस तरह प्रत्येक प्रदेश 'नोजीव' शब्द से कहा जाय तो एक जीव में असंख्य प्रदेश होने के कारण असंख्य नोजीव हो जायेंगे। सभी प्रदेशों के नोजीव होने से जीव का अस्तित्व ही न रहेगा।

दूसरी बात यह है कि इस तरह धर्मास्तिकाय आदि द्व्यणुक और घटादि सभी अजीवों में प्रदेश भरे होने से नोअजीव' शब्द का व्यवहार होगा। अजीव राशि न रहकर सिर्फ नोअजीव' राशि रह जायगी। इस तरह 'नोजीव, नोअजीव' दो ही राशियाँ रह जायँगी। तीन राशियाँ फिर भी नहीं बनेंगी। इसलिये जीवप्रदेशों को भिन्न मानना ठीक नहीं। छिपकली के शरीर में हलन चलन देखकर उसे जीव कहते हैं। इसी तरह जब उसकी पूँछ में भी क्रिया पाई जाती है तो उसे जीव क्यों नहीं कहा जाय? अगर यही आग्रह है कि उसे नोजीव कहा जाय तो घट के प्रदेश को भी नोअजीव कहना चाहिये। इस तरह जीव, अजीव, नोजीव और नोअजीव चार राशियाँ माननी पड़ेंगी।

अगर यह कहो कि अजीव के देश, जाति और लिङ्ग अजीव के समान हैं। इसलिये उसे नोअजीव न कह कर अजीव ही कहा जाता है तो जीव पक्ष में भी यही बात समान है। जीव प्रदेश भी जीव के समान हैं। उन्हें भी नोजीव न कह कर जीव ही कहना चाहिए।

छिपकली की कटी हुई पूँछ जीव है क्योंकि उसमें स्फुरणादि जीव के लक्षण पाये जाते हैं, जैसे सम्पूर्ण जीव। यदि सम्पूर्ण

का ही जीव मानते हो, उसके गुण एक देश को नहीं मानते तो धर्मादि का एक देश भी अजीव नहीं रहेगा। सम्पूर्ण को ही अजीव कहा जा सकेगा। इस तरह अजीव का देश भी 'नोअजीव' कहा जायगा अजीव नहीं। इस प्रकार चार राशियाँ हो जायँगी।

अनुयोगद्वार सूत्र के आधार पर जो यह कहा था कि समभिरूढ नय 'नोजीव' को पृथक् मानता है, यह भी ठीक नहीं है। जीव से भिन्न जीवप्रदेश को समभिरूढ नय नहीं मानता किन्तु जीव से अभिन्न को ही नोजीव शब्द से व्यवहार करता है क्योंकि समभिरूढ नय देश (जीव का प्रदेश) और देशी (जीव) का कर्मधारय समास मानता है। यह समास विशेषण और विशेष्य का अभेद होने पर ही होता है। जैसे नीलकमल। इससे सिद्ध होता है नोजीव राशि जीवराशि से अभिन्न है अर्थात् उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अगर नैगम नय की तरह यहाँ तत्पुरुष समास होता तो भेद हो सकता था। 'यह तो जीव रूप जो प्रदेश' इस प्रकार कर्मधारय समास है। इसलिए जीव से अभिन्न जीव प्रदेश को ही समभिरूढ नय 'नोजीव' कहता है। जीव को अलग मानकर उसके एक खंड को नोजीव नहीं मानता। जिस प्रकार छिपकली की पूँछ को तुम अलग नोजीव मानते हो।

दूसरी बात यह है कि नोजीव को मानता हुआ भी समभिरूढ नय तुम्हारी तरह जीव और अजीव राशि से भिन्न नोजीव राशि को नहीं मानता। दो राशियाँ मानकर तीसरी का उसीमें अन्तर्भाव कर लेता है। नैगमादि नय भी जीव को अलग नहीं मानते। यदि यह मान लिया जाय कि समभिरूढ नय नोजीव को भिन्न मानता है तो भी यह प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें एक नय का अवलम्बन किया गया

है। सभी नयों का अवलोकन करने पर ही सामान्य आता एकान्तवाद से नहीं। जिनमत को प्रमाण मानना हो तो दो राशियाँ माननी चाहिएं।

शास्त्र में लिखा है—सूत्र में कहे गए एक भी पद या अक्षर को भी व्यक्ति नहीं मानता है वह बाकी सब कुछ मानते हुए मिथ्या दृष्टि है। इस तरह एक पद या अक्षर में भी संदेह होने पर मिथ्यात्व मामाता है। अलग राशि की प्ररूपणा तो कहना ही क्या?

इस प्रकार बहुत समझाने पर भी जब रोहगुप्त न माना तो आचार्य ने सोचा अगर इसे संघ बाहर कर दिया गया तो अपने मिथ्या मत का प्रचार करेगा। बहुत से भोले प्राणी इसके पक्ष में आ जायँगे और सत्यमार्ग छोड़ देंगे। इसलिए राजसभा में बहुतसी जनता के सामने इसे हराना चाहिए। बहुत से लोग इसकी हार को देख लेंगे तो इसकी बात नहीं मानेंगे।

इसके बाद बलश्री राजा के सामने गुरु और शिष्य का शास्त्रार्थ हुआ। छः महीने बीत गए, दोनों में से कोई नहीं हारा। राजा ने कहा-महाराज! राज्य के कार्यों में बाधा पड़ रही है, इसलिए आपका शास्त्रार्थ मैं अधिक नहीं सुन सकता। आचार्य ने कहा आपको सुनाने के लिए ही मैंने इतने दिन लगा दिए। यदि नहीं सुन सकते तो कल ही समाप्त कर देता हूँ।

दूसरे दिन सभा में आचार्य गुप्तश्री ने राजा से कहा, राजन्! स्वर्ग, नरक और पाताल में जितनी वस्तुएं हैं, धातु, जीव या मूल से बने हुए जितने पदार्थ हैं, वे सब कुत्रिकापण में मिल सकते हैं। यह बात आप सब लोग मानते ही हैं। यदि उस दुकान से नोजीव नाम की कोई वस्तु मिल जाय तो उसे मानना ही पड़ेगा। कोई भी उसका निषेध नहीं कर सकेगा। अगर

यहाँ नोजीव नामक पदार्थ न मिला तो संसार में उसका अभाव मान लेना चाहिए। राजा और दूसरे सभासदों को यह बात पसन्द आगई।

पहले कुछ रोहगुप्त का नोजीव नामक पदार्थ लाने की आज्ञा दी गई। उसने कुत्रिकापण में जाकर एक वस्तु को चार तरह से लाने के लिए कहा-पृथ्वी लाओ।

दुकान के अधिष्ठाता देव ने मिट्टी का ढेला लाकर दे दिया। रोहगुप्त-यह ठीक नहीं है। मैंने जो मांगा तुम वह नहीं लाए। देव-पृथ्वी का एक देश भी पृथ्वी कहा जाता है, क्योंकि इसमें भी पृथ्वीत्व जाति है। इसलिए यह ढेला भी पृथ्वी है।

रोहगुप्त ने कहा-अपृथ्वी लाओ। देव ने जल लाकर दे दिया।

रोहगुप्त-नोपृथ्वी लाओ। देव ने ढेले का एक टुकड़ा लाकर दे दिया।

शंका-'नो' शब्द का अर्थ देशनिषेध मानने पर पृथ्वी का भाग ही नोपृथ्वी कहा जाता है। यह टुकड़ा पृथ्वी के एक देश ढेले का एक भाग है। यह तो देश का देश है। इसलिए नोपृथ्वी नहीं कहा जा सकता।

उत्तर-पहले प्रश्न में ढेले को पृथ्वी मान लिया गया है। इस लिये टुकड़ा का एक देश पृथ्वी का एक देश कहा जा सकता है। यदि ढेला पृथ्वी नहीं है तो 'पृथ्वी लाओ' ऐसा कहने पर सारी पृथ्वी लानी पड़ेगी। यह बात सम्भव नहीं है। जिस तरह 'घड़ा लाओ' ऐसा कहने पर सारे घड़े न लाकर कोई खास घड़ा ही लाया जाता है क्योंकि सब घड़ों का लाना न तो सम्भव है और न उससे प्रयोजन ही है। वक्ता का अभि[illegible] समझ कर किसी खास जगह पर रखा हुआ ही घड़ा ला[illegible] जाता है। इसी तरह पृथ्वी लाओ पर [illegible] पृथ्वी

नहीं खाई जा सकती क्योंकि सारी का खाना असम्भव है और उससे प्रयोजन भी नहीं है। इसलिए वक्ता का अभिप्राय समझ कर ढेला या ईंट वगैरह वस्तु लाई जाती है। प्रकरण से भी इसी बात का पता लगता है। इस प्रकार जब पृथ्वी के एक देश ढेले में पृथ्वी का व्यवहार हो गया तो ढेले के एक भाग में नोपृथ्वी का व्यवहार भी हो सकता है।

शंका–जिस तरह ढेला पृथ्वीत्व जाति वाला होने से पृथ्वी है, उसी तरह ढेले का एक देश भी पृथ्वीत्व जाति वाला होने से पृथ्वी क्यों नहीं है? यदि है तो उसे नोपृथ्वी क्यों कहा जाता है?

समाधान–वास्तव में ढेले का एक देश भी पृथ्वी ही है। उपचार से उसे नोपृथ्वी कहा जाता है। ढेले को जब पृथ्वी मान लिया गया तो उसके एक देश में नो शब्द का प्रयोग करके उसे नोपृथ्वी मान लिया गया है। वास्तव में पृथ्वी और नोपृथ्वी एक ही हैं।

रोहगुप्त–नोअपृथ्वी लाओ। इसके उत्तर में देव ने ढेला और जल दोनों लाकर दे दिये। 'नो' शब्द के दो अर्थ हैं। सर्वनिषेध और देशनिषेध। प्रथम पक्ष में दो निषेधों के मिलने से 'नोअपृथ्वी' का अर्थ पृथ्वी हो गया। इसके उत्तर में देव ने ढेला ला दिया। देशनिषेध पक्ष में अपृथ्वी अर्थात् जलादि का एक देश ही नोपृथ्वी कहा जायगा। इसके उत्तर में देव ने जल ला दिया।

इसी तरह रोहगुप्त ने जलादि के लिये भी चार तरह के प्रश्न किये। कुल १४४ प्रश्न हुए। वे इस प्रकार थे–षडुलूक ने पहिले छः मूल पदार्थों की कल्पना की। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय। द्रव्य के नौ भेद–भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। गुण १७ हैं–रूप, रस,

गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, महत्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।

कर्म पाँच हैं-उत्क्षेपण, अवक्षेपण आकुञ्चन, प्रसारण, गमन। सामान्य के तीन भेद हैं-सत्ता, सामान्य और सामान्य विशेष। इस प्रकार नौ द्रव्य, सतरह गुण, पाँच कर्म, तीन सामान्य, विशेष और समवाय को मिला कर छत्तीस पदार्थ होते हैं। इनमें से प्रत्येक के विषय में षडुलूक ने चार तरह की पृच्छा की-

प्रकृति अर्थात् वस्तु के मूल रूप के विषय में जैसे 'पृथ्वी लाओ।' अकार के साथ (जिसका अर्थ निषेध है) 'अपृथ्वी लाओ।' दोनों के साथ नो लगाकर जैसे नोपृथ्वी लाओ और नोअपृथ्वी लाओ। इस तरह कुल मिलाकर एक सौ चवालीस तरह की पृच्छा हुई।

कुत्रिकापण देव ने तीन तरह की वस्तुएं लाकर दीं, क्योंकि चौथे विकल्प का पहिले में अन्तर्भाव हो जाता है। पृथ्वी कहने से ढेला अपृथ्वी कहने से जलादि और नोपृथ्वी कहने से ढेले का एक देश लाया गया। इस तरह का व्यवहार भी व्यवहार नय को मानकर किया गया है क्योंकि व्यवहार नय से देश और देशी (सम्पूर्ण वस्तु) का भेद माना गया है। निश्चय नय के मत से तो पृथ्वी और अपृथ्वी दो ही वस्तुएं हैं। देश और देशी का भेद इसमें नहीं माना गया है। इसलिये 'नोपृथ्वी' वाला पक्ष भी नहीं बन सकता। पृथ्वी, जल वगैरह सावयव वस्तुओं के मांगने पर देव ने व्यवहार नय का अवलंबन लेकर तीन प्रकार की वस्तुएं दीं। निश्चय नय से तो दो ही प्रकार का उत्तर हो सकता था।

जब रोहगुप्त ने जीव मांगा तो देव शुक सारिकादि ले आया। अजीव मांगने पर पत्थर का टुकड़ा ले आया। नोजीव मांगने

पर फिर पत्थर ले आया। जीव के टुकड़े न हो सकने के कारण नो शब्द का अर्थ यहाँ पर देशनिषेध सम्भव नहीं है। इसलिये सर्वनिषेध को समझ कर देव दुबारा पत्थर ले आया। नोअजीव माँगने पर शुक सारिकादि ले आया।

इस प्रकार जीव विषयक पृच्छायें होने पर दो ही पदार्थ उपलब्ध हुए। जीव और अजीव। तीसरी कोई वस्तु न मिली।
नोजीव नाम का कोई पदार्थ न मिलने पर रोहगुप्त शास्त्रार्थ में हार गया। सर्वज्ञ भगवान् महावीर के धर्म की जय हुई। रोहगुप्त शहर के बाहर निकाल दिया गया।

कहा जाता है उसी ने बाद में वैशेषिक मत का प्रचार किया। उसके बहुत से शिष्य हो गये। वही मत आज तक चल रहा है। उसका नाम रोहगुप्त और गोत्र उलूक था। छह पदार्थ बताने से षडुलूक कहा जाता है। इसी आधार पर वैशेषिक दर्शन औलूक्य दर्शन कहा जाता है। (विशे० गा० २४५१ से २५ ८)

(७)अबद्धिक-भगवान् महावीर की मुक्ति के पाँचसौ चौरासी वर्ष बाद गोष्ठामाहिल नामक सातवाँ निह्नव हुआ।

दशपुर नगर में सोमदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। रुद्र सोमा नाम की उसकी स्त्री जैनमत को मानने वाली श्राविका थी। उनके रक्षित नाम का चौदह विद्याओं में पारंगत पुत्र उत्पन्न हुआ। माता की प्रेरणा से उसने आचार्य तोसलिपुत्र के पास दीक्षा लेली। यथाक्रम ग्यारह अङ्ग पढ़ लिए। बारहवाँ दृष्टिवाद भी जितना गुरु के पास था, पढ़ लिया। बाकी बचा हुआ आर्यवैर स्वामी से जान लिया। रक्षित जी पूर्व और चौबीस यविकों में प्रवीण हो गया। कुछ दिनों के बाद माता के द्वारा भेजा हुआ फल्गु रक्षित नामक उसका भाई उसे बुलाने के लिए आया। वह भी आर्यरक्षित के पास दीक्षित हो गया। फिर दोनों भाई

माता पिता के पास आए। आर्यरक्षित के उपदेश से माता पिता तथा मामा गोष्ठामाहिल वगैरह सभी परिवार के लोग दीक्षित हो गए। इस तरह दीक्षा देते हुए आर्यरक्षित के पास एक बड़ा गच्छ हो गया। उस गच्छ में दुर्बलिका पुष्पमित्र, घृत पुष्पमित्र और वस्त्र पुष्पमित्र नाम के तीन साधु थे। दुर्बलिका पुष्पमित्र को नौ पूर्वों का ज्ञान था। उस गच्छ में चार प्रधान पुरुष थे। दुर्बलिका पुष्पमित्र, विन्ध्य, फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल। एक दिन आचार्य के कहने से दुर्बलिका पुष्पमित्र विन्ध्य को वाचना दे रहे थे। नवम पूर्व पढ़ लेने पर भी गुणन न होने के कारण पद उन्हें विस्मृत हो गया। आर्यरक्षित ने सोचा जब ऐसा बुद्धिमान भी सूत्रार्थ भूल रहा है तो सम्पूर्ण सूत्रों के अर्थ का उद्धार न हो सकेगा। यह सोचकर उन्होंने सूत्रार्थ को चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग नाम से चार विभागों में बांट दिया। प्रत्येक वस्तु पर होने वाले नयों के विवरण को रोक कर उसे सीमित कर दिया।

कुछ दिनों में घूमते हुए आर्यरक्षितसूरि मथुरा पहुँचे। वहाँ भूतगुहा नामक व्यन्तर गृह में ठहर गए।

एक दिन महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमन्धर स्वामी के पास निगोद की वक्तव्यता सुनते हुए विस्मित होकर शक्रेन्द्र ने पूछा-भगवन्! क्या भरतक्षेत्र में भी इस समय निगोद के इस सूक्ष्म विचार को कोई जानता है और समझा सकता है? भगवान् ने उत्तर दिया आर्यरक्षित ऐसी प्ररूपणा करते हैं। यह सुनकर आश्चर्यान्वित होता हुआ देवेन्द्र दूसरे साधुओं के चले जाने पर भक्तिपूर्वक आर्यरक्षित के पास वृद्ध ब्राह्मण के रूप में आया। वन्दना करके आचार्य से पूछा-भगवन्! मेरा रोग बढ़ रहा है। इसलिए अनशन करना चाहता हूँ। कृपा करके बताइए मेरी

कितनी आयु बाकी है। पत्रिकों में आयुश्रेणी पर ध्यान लगा कर आचार्य ने जान लिया, यह मनुष्य या व्यन्तर नहीं है परन्तु दो सागरोपम की आयु वाला सौधर्म देवलोक का स्वामी है। बुढ़ापे के कारण नीचे गिरी हुई भौंहों को हाथ से ऊपर उठाते हुए आचार्य ने कहा—आप शक्रेन्द्र हैं। यह सुनकर देवराज बहुत प्रसन्न हुआ। महाविदेह क्षेत्र की बात कही। फिर सुनाई और निगोद के विषय में पूछा। आर्यरक्षित ने सब कुछ विस्तार से समझा दिया। सुरपति ने जब जाने की आज्ञा मांगी तो आचार्य ने कहा थोड़ी देर ठहरो। साधुओं को आने दो। जिससे तुम्हें देखकर 'आज कल भी देवन्द्र आते हैं' यह समझते हुए वे धर्म में दृढ़ हों।

देवराज ने उत्तर दिया—भगवान्! मैं ऐसा करने के लिए तैयार हूं किन्तु मेरा स्वाभाविक दिव्य रूप देखकर कम शक्ति होने से वे निदान कर लेंगे। गुरु ने कहा—अच्छा तो अपने आगमन की सूचना देने वाला कोई चिह्न छोड़ जाओ। देवेन्द्र ने उस उपाश्रय का द्वार दूसरी दिशा में कर दिया। लौटकर आये हुए साधुओं ने विस्मित होते हुए द्वार के विषय में आचार्य से पूछा। सारा हाल सुनकर वे और भी विस्मित हुए।

एक दिन विहार करते हुए वे दशपुर नगर में आए। उन्हीं दिनों मथुरा नगरी में एक नास्तिक आया। वह कहता था सभी वस्तुएं मिथ्या हैं। कुछ भी नहीं है। माता पिता भी नहीं हैं। कोई भी वादी नहीं होने से संघ ने आर्यरक्षित के पास साधुओं को भेजा। वृद्धता के कारण स्वयं वहाँ पहुँचने में असमर्थ होने से आचार्य ने वादलब्धि वाले गोष्ठामाहिल को भेज दिया। उसने वहाँ जाकर वादी को जीत लिया। श्रावकों के आग्रह से उसका चतुर्मास भी वहीं हुआ।

आचार्य आर्यरक्षित ने अपने पाट पर दुर्बलिका पुष्पमित्र को बिठाने का निश्चय किया। किन्तु दूसरे सब साधु गोष्ठामाहिल या फल्गुरक्षित को आचार्य बनाना चाहते थे। एक दिन आचार्य ने सारे गच्छ को बुलाकर कहा। देखो! ये तीन घड़े हैं। एक में अनाज है, दूसरे में तेल और तीसरे में घी। इनको उल्टा कर देने पर अनाज सारा निकल जायगा। तेल थोड़ा सा घड़े में लगा रहेगा। घी बहुत सा रह जायगा।

सूत्रार्थ के सम्बन्ध में दुर्बलिका पुष्पमित्र के लिए मैं धान्यघट के समान रहा हूँ, क्योंकि उसने मेरा सारा ज्ञान ग्रहण कर लिया है। फल्गुरक्षित के प्रति मैं तैलघट के समान रहा हूँ, क्योंकि वह सारा ज्ञान ग्रहण नहीं कर सका। गोष्ठामाहिल के प्रति मैं घृत घट के समान रहा, क्योंकि बहुत सा सूत्रार्थ मैंने उसे बताया नहीं है। मेरे सारे ज्ञान को ग्रहण करने से दुर्बलिका पुष्प मित्र ही तुम्हारा आचार्य बनना चाहिए। आचार्य आर्यरक्षित की इस बात को सभी ने स्वीकार कर लिया।

आचार्य ने दुर्बलिका पुष्पमित्र से कहा—फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल के साथ जो मेरा व्यवहार था वही तुम्हारा होना चाहिए। गच्छ से कहा—आज तक आप लोगों ने मेरे साथ रक्खा वही इसके साथ रखना। किसी बात के होने या न होने पर मैं तो रुष्ट नहीं होता था किन्तु यह उस बात को नहीं सह सकेगा। आप लोगों को इसके प्रति विनय रखनी चाहिए। इस प्रकार दोनों पक्षों को शिक्षा देकर आचार्य देवलोक पधार गए।

गोष्ठामाहिल ने इस बात को सुना। मथुरा से आकर पूछा, आचार्य ने अपने स्थान पर किसे गणधर बनाया है? धान्य-घट वगैरह का सारा हाल लोगों से सुनकर वह बहुत दुखी हुआ। अलग उपाश्रय में ठहर कर दुर्बलिका पुष्पमित्र के पास उलाहना

देने आया। वहाँ आने पर सब ने उसका सम्मान किया और कहा—आप इसी उपाश्रय में ठहर जाइए, अलग ठहरने की क्या आवश्यकता है? लेकिन वह न माना। अलग जगह ठहर कर दुर्बलिका पुष्यमित्र की निन्दा के द्वारा साधुओं को बहकाने की चेष्टा करने लगा, किन्तु कोई भी उसकी बात नहीं मानता था। वह अभिमान के कारण दुर्बलिका पुष्यमित्र का व्याख्यान सुनने भी न आता किन्तु व्याख्यान मण्डप में बैठकर चिन्तन करते हुए विन्ध्य से सब कुछ जान लेता।

एक दिन आठवें और नवें पूर्व के प्रत्याख्यान विचार में हठ के कारण उसने विवाद खड़ा कर दिया। कर्मप्रवाद नाम के आठवें पूर्व में कर्म विचार करते हुए दुर्बलिका पुष्यमित्र ने व्याख्यान दिया—जीव के साथ कर्मों का संयोग तीन तरह का होता है। बद्ध, बद्धस्पृष्ट और बद्ध स्पृष्ट निकाचित। कषाय रहित ईर्यापथिक आदि क्रियाओं से होने वाला कर्मों का संयोग बद्ध कहा जाता है। बद्ध कर्म स्थिति का बिना-पाक किए ही जीव से अलग हो जाता है। जैसे सूखी दीवार पर पड़ी हुई धूल। बद्ध होने के साथ २ कर्मों का जीव प्रदेशों में मिल जाना बद्धस्पृष्ट कहा जाता है। बद्धस्पृष्ट कर्म कुछ समय पाकर ही अलग होते हैं। जैसे सीली हुई गीली दीवार पर चिपकाया गया गीला आटा।

वह स्पृष्ट कर्म जब तीव्र कषाय या अध्यवसाय पूर्वक बांधा जाता है और बिना भोग छूटना असम्भव हो जाता है तो उसे बद्ध स्पृष्ट निकाचित कहते हैं। बद्ध गाढ़तर होने से यह कालान्तर में भी बिना फल दिए नहीं जाता। जैसे गीली दीवार पर लगाया हुआ हस्तक अर्थात् हाथ का चिह्न।

तीनों तरह का बंध सूचीकलाप की उपमा देकर और स्पष्ट किया जाता है। बद्ध कर्म धागे में लपेटी हुई सूइयों के समान

होते हैं उन्हें बद्ध कहते हैं। लोहे की पत्ती से लपेटे हुए सूचीसमूह की तरह रहने वाले कर्म बद्धस्पृष्ट कहलाते हैं। सूइयों को आग में तपाकर हथोड़े से पीटने पर उनसे बने हुए पिण्ड की तरह जो कर्म होते हैं उन्हें बद्ध-स्पृष्ट-निकाचित कहा जाता है।

शंका–अनिकाचित और निकाचित कर्मों में क्या भेद है?

उत्तर–अनिकाचित कर्मों में अपवर्तनादि आठ करण होते हैं। वे इस प्रकार हैं अपवर्तना, उद्वर्तना, संक्रमण, क्षपण, उदीरणा, उपशमना, निद्धत्ति और निकाचना। निकाचित कर्मों के ये आठ नहीं होते। यही निकाचित और अनिकाचित कर्मों का भेद है। अपवर्तनादि की विशेष व्याख्या आठवें बोल में लिखी जायगी।

कर्मों का सम्बन्ध जीव के साथ दूध पानी की तरह या अग्नि और लोहपिण्ड की तरह होता है। यह बात शिष्य से सुन कर गोष्ठामाहिल कहने लगा, यह व्याख्यान ठीक नहीं है। यदि जीवप्रदेश और कर्म तादात्म्य सम्बन्ध से रहेंगे तो वे कभी अलग नहीं हो सकेंगे। इस तरह मोक्ष का अभाव हो जायगा। पूर्वपक्ष की विशेष पुष्टि के लिए अनुमान दिया जाता है:–

कर्म जीव से अलग नहीं होते, क्योंकि दोनों का तादात्म्य है। जो जिसके साथ तादात्म्य से रहता है वह उससे अलग नहीं होता। जैसे–जीव से जीव के प्रदेश। जीव और कर्मों का भी तादात्म्य (अविभाग) है, इसलिए जीव से कर्म अलग नहीं हो सकेंगे और किसी को मोक्ष नहीं मिलेगा। इसलिए इन दोनों का तादात्म्य बताने वाला व्याख्यान ठीक नहीं है। इसलिए कर्मों का सम्बन्ध क्षीरनीर या लोहाग्नि पिण्ड की तरह न मानकर साँप और काँचली की तरह मानना चाहिए। जिस तरह काँचली साँप को छूती हुई उसके साथ रहती है। उसी तरह कर्म भी रहते हैं। साँप जिस तरह काँचली छोड़ देता है उसी तरह कर्म छूट

जायँगे और मोक्ष भी मिल जायगा ।

गोष्ठामाहिल को कर्मों के विषय में शंका होने के कुछ दिनों बाद प्रत्याख्यान के विषय में भी शंका उत्पन्न हो गई ।

सभी प्रत्याख्यान बिना अवधि के करने चाहियें। जिन प्रत्याख्यानों में यावज्जीवन या और किसी तरह समय की अवधि रहती है उनमें आशंसा दोष लगता है क्योंकि यावत् जीवन त्याग करने वाले के दिल में यही भावना बनी रहती है कि मैं स्वर्ग में जाकर सभी भोग भोगूँगा। इस तरह के परिणाम से प्रत्याख्यान दूषित हो जाता है, क्योंकि शास्त्रों में लिखा है दुष्ट परिणामों की अशुद्धि के कारण प्रत्याख्यान भी अशुद्ध हो जाता है। राग द्वेष रूप परिणाम से जो त्याग दूषित नहीं किया जाता उसे भावविशुद्ध कहते हैं ।

गोष्ठामाहिल ने जो बात पूर्वपक्ष के समर्थन में कही, वह विन्ध्य ने आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र से निवेदन की। गुरु ने उसकी सब युक्तियों का खंडन कर दिया। विन्ध्य ने गुरु की आज्ञा से सारी बात गोष्ठामाहिल के सामने रक्खी। मिथ्याभिमान के कारण गोष्ठामाहिल ने उसकी बात न मानी तो गुरु ने स्वयं बातचीत करके समझाने का निश्चय किया।

उन्होंने कर्म विषयक विवाद को पहले मिटाने के लिए गोष्ठामाहिल से प्रश्न किया। यदि कर्म जीव को कंचुकी की तरह छूते हैं तो क्या वे जीव के प्रत्येक प्रदेश को लपेटे रहते हैं या सारे जीव को अर्थात् शरीर के चारों तरफ लिपटे रहते हैं?

यदि पहला पक्ष मान लिया जाय तो कर्मों को जीव में सर्वव्यापक मानना पड़ेगा। हर एक प्रदेश के चारों तरफ कर्म मानने से कोई भी मध्य का प्रदेश नहीं बचेगा जहाँ कर्म न हों। आकाश की तरह कर्म जीव के हर एक प्रदेश में व्याप्त होने से सर्वगत हो

जाएंगे। इस प्रकार मानने से कञ्चुकी का दृष्टान्त साध्यविकल है, क्योंकि प्रतिप्रदेशव्यापकता रूप जो सम्बन्ध तुम जीव के साथ कर्मों का सिद्ध करना चाहते हो, वह कञ्चुकी में नहीं है।

यदि शरीर के चारों तरफ कर्मों का सम्बन्ध मानते हो तो एक भव से दूसरे भव में जाते हुए जीव के साथ कर्म नहीं रहेंगे। शरीर के मैल की तरह वे भी शरीर के साथ ही छूट जायेंगे।

कर्म न रहने से जीवों का दूसरे भव में जन्म नहीं होगा और इस तरह संसार का नाश हो जायगा।

यदि बिना कर्म के भी संसार मान लिया जाय तो व्रत तपस्या आदि के द्वारा की जाने वाली कर्मों की निर्जरा व्यर्थ हो जायगी, क्योंकि संसार तो कर्म रहित होने पर भी रहेगा। इस तरह सिद्धों को भी संसार में आना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि अगर कञ्चुकी की तरह शरीर के बाहर ही कर्मों का सम्बन्ध माना जाय तो शरीर के अन्दर होने वाली शूल, वात आदि की वेदना नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वेदना का कारण कर्म वहाँ नहीं है। अगर बिना कारण भी अन्तर्वेदना होने लगे तो सिद्धों को भी होनी चाहिए।

शंका—लकड़ी वगैरह के आघात से बाह्य वेदना उत्पन्न होती है, उसी से भीतरी वेदना भी हो जाती है।

उत्तर—यह ठीक नहीं है। लकड़ी आदि आघात के बिना अन्तर्वेदना होती है। बाहर किसी तरह की पीड़ा न होने पर भी अन्दर की पीड़ा होती जाती है। इसलिये नियम नहीं बनाया जा सकता कि बाह्य वेदना अन्तर्वेदना को पैदा करती है। इस लिये अन्तर्वेदना का कारण कर्म वहाँ सिद्ध हो जाता है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि कर्म बाहर रहकर भी हृदय में शूल को पैदा कर देता है, क्योंकि कर्म यदि अपनी जगह के

अतिरिक्त दूसरी जगह भी दुःख दुःखादि उत्पन्न करने लगें तो देवदत्त के कर्मों से यज्ञदत्त को पीड़ा पहुँचने लगेगी।

शंका—देवदत्त के शरीर में अन्दर और बाहर कर्मों का आना जाना लगा रहता है। इसलिये उसके शरीर के प्रत्येक विभाग में सुख दुःखादि फल हो सकते हैं। यज्ञदत्त के शरीर में नहीं दे सकते, क्योंकि उसके शरीर में उनका संचरण नहीं होता।

उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं। इस तरह दृष्टान्त भी बदल जायगा, क्योंकि तुमने कर्मों का सम्बन्ध स्थायी रूप से कञ्चुक की तरह स्वीकार किया है। बाहर भीतर आना जाना लगा रहने से कञ्चुकी का दृष्टान्त ठीक नहीं बैठता।

दूसरी बात यह है, कर्मों का संचरण मानने से बाहर और अन्दर वेदना का अनुभव क्रम से होगा। एक साथ नहीं। इसके विपरीत लकड़ी वगैरह की चोट लगने पर बाहर और भीतर एक साथ ही अनुभव देखा जाता है। इसलिये कर्मों का संचरण मानना ठीक नहीं है।

कर्मों का शरीर में संचरण मान लेने पर दूसरे भव में अनुगमन नहीं होगा। यही बात अनुमान के रूप में दी जाती है।

कर्मों का दूसरे भव में अनुगमन नहीं हो सकता, क्योंकि वे शरीर में चलते हैं। जो शरीर में बाहर और अन्दर चलता फिरता है, वह दूसरे भव में साथ नहीं जाता। जैसे उच्छ्वास और निःश्वास। कर्म भी संचरणशील हैं। इसलिये इनका भवान्तर गमन नहीं हो सकता।

शंका—शास्त्र में कर्मों को संचरणशील बताया है। जैसे भगवती सूत्र प्रथम शतक के प्रथम उद्देशे में कहा है 'चलमाणे चलिए'

उत्तर—भगवती सूत्र के उस पाठ का यह आशय नहीं है कि कर्म चलते हैं। उसका अभिप्राय है कि जो कर्म उदय

भोग या निर्जरा के द्वारा जीव से अलग हो गया वह फिर कर्म नहीं रहता, क्योंकि उसमें सुख दुःख देने की शक्ति नहीं रहती अर्थात् कर्म वर्गणा के परमाणु जब तक आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं तभी तक उन्हें कर्म कहा जाता है। तभी तक उनमें सुख दुःख देने की शक्ति रहती है जीव से अलग होते ही आकाश और दूसरे पुद्गल परमाणुओं की तरह उनमें फल देने की शक्ति नहीं रहती। इसलिये उस समय उन्हें अकर्म ही कहा जायगा। यह बात उसी सूत्र में आगे के पाठ पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है। "नेरइए जाव वेमाणिए जीवाओ चलियं कम्मं निज्जरइ" अर्थात् नारकी से लेकर वैमानिक तक के जीवों से कर्म चलित हो जाता है वह निर्जीर्ण ही है। इसलिये कहा है 'निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण' इत्यादि। और भी अनेक दोष होने से कर्मों का संचरण मानना ठीक नहीं है। उस शरीर के मध्य में भी स्थित मानना चाहिए। इसी बात को प्रमाण से सिद्ध करते हैं। शरीर के मध्य में भी कर्म रहता है। क्योंकि वेदना होती है। जहाँ वेदना होती है वहाँ कर्म अवश्य रहता है। जैसे त्वचा पर। शरीर के मध्य में भी वेदना होती है। इसलिए वहाँ कर्म रहता है।

दूसरी बात यह है—कर्मों का बंध मिथ्यात्वादि के कारण होता है और मिथ्यात्वादि जिस तरह जीव के बाह्य प्रदेशों में रहते हैं उसी तरह मध्य प्रदेशों में भी रहते हैं तथा जिस तरह मध्य प्रदेशों में रहते हैं उसी तरह बाह्य प्रदेशों में भी रहते हैं। मिथ्यात्व आदि समस्त जीव में रहने वाले अध्यवसाय विशेष हैं। इसलिये मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के कारण जब समस्त जीव में रहते हैं तो उनका कार्य कर्मबन्ध भी सभी जगह होगा। अतः अग्निलोहपिण्ड और क्षीरनीर की तरह जीव के साथ कर्मतादात्म्य सम्बन्ध के साथ रहते हैं, इसी पक्ष को सत्य मानना चाहिए।

शंका–जीव और कर्म का तादात्म्य मानने से उनका कभी भेद न होगा। इस तरह मोक्ष का अभाव हो जायगा।

उत्तर–जिस तरह सोना और मैल के आपस में मिले होने पर भी औषधियों द्वारा वे अलग किये जा सकते हैं। इसी तरह ज्ञान और क्रिया के द्वारा कर्म भी जीव से अलग किये जा सकते हैं। मिथ्यात्व आदि के द्वारा जीव के साथ कर्मों का बंध होता है। सम्यग्ज्ञानादि मिथ्यात्व आदि के शत्रु हैं। इसलिये उनसे कर्मों का नाश होना स्वाभाविक ही है।

तुमने जो अनुमान बनाया था–कर्म जीव से अलग नहीं होता, क्योंकि दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। यह भी अनैकान्तिक है, क्योंकि दूध पानी, सोना, पत्थर आदि पदार्थ परस्पर तादात्म्य से स्थित होने पर भी अलग अलग हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया के द्वारा कर्मों का नाश सिद्ध हो जाने पर मोक्ष में कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती।

कर्म विषयक विवाद को दूर करके आचार्य ने प्रत्याख्यान के विषय में कहना शुरू किया। तुमने कहा–बिना परिमाण के किया जाने वाला प्रत्याख्यान ही अच्छा है। इसमें 'बिना परिमाण शब्द' का अर्थ क्या है?

क्या जब तक शक्ति है तब तक के त्याग को अपरिमाण कहते हैं, या भविष्य में सदा के लिये किये जाने वाले त्याग का, अथवा परिमाण का निश्चय बिना किये ही जो त्याग किया जाय?

पहिले पक्ष में शक्ति ही उस त्याग का परिमाण बन गई। इस तरह जिस बात का निषेध किया जा रहा है वही दूसरे शब्दों में मान ली। जब तक शक्ति रहेगी तब तक मैं इस काम को न करूँगा, इसमें स्पष्ट रूप से समय की अवधि आ जाती है। जिस तरह सूर्य की क्रिया से घंटा मिनट आदि का समय

नियत होता है उसी तरह यहाँ शक्तिक्रिया से प्रत्याख्यान की अवधि निश्चित की गई। इसे मान लेने पर अपरिमाण पक्ष की हानि होती है, क्योंकि शक्ति रूप क्रिया से अनुमित काल यहाँ मान ही लिया गया है। आशंसा दोष तुमने भी हमारे पक्ष में दिया था, वह तुम्हारे पक्ष में भी समान है। शक्ति के बाद इस वस्तु का सेवन करूँगा इस तरह की आशंसा यहाँ भी हो सकती है।

यथाशक्ति रूप अपरिमाण त्याग मान लेने से जीवित पुरुष के सब भोग भोगते हुए भी कोई दोष न लगेगा। हर एक बात में यह कह सकता है, मेरी शक्ति इतनी ही है। मेरा त्याग पूरा हो गया। अब कुछ भी करने पर व्रत न टूटेगा। इस तरह व्रतों को इच्छा पर चलाना जिनशासन के विरुद्ध है। प्रत्येक व्यक्ति को 'मेरी इतनी ही शक्ति थी' इस बात का सहारा मिल जायगा। व्रतों की अव्यवस्था हो जायगी। इच्छा होने पर शक्ति का सहारा लेकर वह मनचाही बात कर लेगा और फिर भी कहेगा मेरे व्रत हैं। बारबार सेवन करेगा और व्रती भी बना रहेगा। व्रतों के अतिचार, उनके होने पर प्रायश्चित्त, एक व्रत के भङ्ग होने पर सारे व्रतों का भङ्ग होना आदि आगमोक्त बातें व्यर्थ हो जायँगी। इसलिए यथाशक्ति वाला पक्ष ठीक नहीं है।

भविष्य में सदा के लिए दान वाला नियम अपरिमाण है। यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। इस प्रकार कोई संयमी स्वर्ग में जाकर भोग भोगने से भग्नव्रत वाला हो जायगा क्योंकि उसका व्रत सदा के लिये है। दूसरे भव में जाकर भी आगम से व्रत का टूटना मानना पड़ेगा। इस प्रकार सिद्ध भी संयत गिने जायँगे, क्योंकि सदा के लिए किये गये प्रत्याख्यान के काल में वे भी आजाते हैं। जैसे यावज्जीवन त्याग करने वाले साधु का जीवन काल। सिद्ध को संयत मानने से आगमविरोध होता है, क्योंकि शास्त्र में

लिखा है, सिद्ध न संयत हैं न असंयत हैं और न संयतासंयत हैं।

सदा के लिये त्याग मानने पर पौरुषी, दो पौरुषी, एकासन, उपवासादि का कोई स्थान न रहेगा, क्योंकि इन सबका समय की सीमा के साथ ही त्याग होता है। जैसे पौरुषी एक पहर तक, दो पौरुषी दो पहर तक। एकासना भी एक दिन के लिये ही होता है। इसलिये दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है।

तीसरे अपरिच्छिन्न रूप अपरिमाण पक्ष का खण्डन करते हैं। इस पक्ष में भी ये ही दोष आते हैं, क्योंकि बिना काल परिमाण के प्रत्याख्यान या त्याग करने वाला उसका पालन घड़ी, दो घड़ी करेगा या भविष्य में सदा के लिये? पहिले पक्ष में अनवस्था है, क्योंकि यदि वह एक घड़ी पालन करता है तो दो घड़ी क्यों न करे? दो घड़ी करता है तो तीन क्यों नहीं कर लेता? इस प्रकार कोई व्यवस्था नहीं रहती।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इससे मरने के बाद भी भोग भोगने से व्रत का टूटना मानना पड़ेगा। सिद्ध भी संयत हो जायँगे। एकासनादि प्रत्याख्यान न होंगे। इन्हीं दोषों को हटाने के लिये शास्त्र में साधुओं के लिये यावज्जीवन त्याग का विधान किया गया है। इससे व्रत भी नहीं टूटने पाते और दोष भी नहीं लगते।

शङ्का—यावज्जीवन पद लगाने से 'मरने के बाद में भोगों को भोगूगा' इस तरह की आशंसा बनी रहती है। इसलिये आशंसा दोष है।

उत्तर—दूसरे जन्म में भोग भोगने के लिये यावज्जीवन पद नहीं लगाया जाता। साधु के लिये स्वर्ग की आकांक्षा निषिद्ध है। वह तो सब कुछ मोक्ष के लिये ही करता है। इसलिये आशंसा दोष की सम्भावना नहीं है। दूसरे जन्म में व्रत न टूटने पावें

इसीलिए यावज्जीवन पद लगाया जाता है। विरति का आवरण करने वाले कर्मों का क्षयोपशम होने से इस जन्म में व्रतों का पालन अपने अधीन है। स्वर्ग में उन कर्मों का उदय होने से अपने हाथ की बात नहीं है। वहाँ व्रत का पालन शक्य नहीं है। इसीलिए इस जन्म के लिये त्याग किया जाता है। अगले जन्म में व्रत टूटने न पावें इसलिये 'यावज्जीवाए' पद लगाया जाता है। आशंसा दोष की यहाँ सम्भावना नहीं है।

शंका—व्रत भङ्ग से डरकर यावज्जीवाए पद लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मरने पर जीव मोक्ष में चला जायगा। वहाँ कामभोगों के न होने से व्रत टूटने नहीं पावेंगे।

उत्तर—आजकल यहाँ से कोई मोक्ष में नहीं जाता। महाविदेह क्षेत्र में से भी सभी का जाना निश्चित नहीं है।

शंका—जो जीव मोक्ष जाता है उसके लिए तो अपरिमाण प्रत्याख्यान ही ठीक है।

उत्तर—यह भी ठीक नहीं है। जो जीव मुक्त हो गया, अपना प्रयोजन सिद्ध कर चुका फिर उसे व्रतों की आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति यह मानता है कि मैं मरकर स्वर्ग में जाऊँगा, वह अगर 'यावज्जीवाए' पद को छोड़कर त्याग करे तो उसे मृषावाद दोष भी लगेगा।

दूसरी बात यह है कि यह त्याग मरने तक के लिये ही होता है या उसके बाद के लिये भी? यदि दूसरा पक्ष मानते हो तो स्वर्ग में व्रतों का टूटना मानना पड़ेगा। यदि मरने तक के लिये ही त्याग है तो 'यावज्जीवाए' पद देने में हानि ही क्या है? मन में यावज्जीवाए त्याग का निश्चय करके ऊपर से न बोले तो माया ही कही जायगी क्योंकि मन में कुछ और वचन से कुछ और। यदि त्याग जीवन पर्यन्त ही करना है तो वचन से उसे

कर देने पर कोई दोष नहीं लग सकता। शास्त्रों में वचन की अपेक्षा मन को प्रधान बताया है। वचन पर कुछ भी निर्भर नहीं है। दोषादोष की व्यवस्था भी मन पर ही आश्रित है।

शास्त्र में आया है--एक व्यक्ति ने त्रिविध आहार त्याग करने का अध्यवसाय किया चतुर्विध आहार के त्याग की आदत होने से उसके मुँह से निकला 'चार तरह के आहार का त्याग करता हूँ।' इस तरह का उच्चारण होने पर भी उसका त्याग त्रिविधाहार ही माना जायगा। चतुर्विध आहार वचन से करने पर भी मन में न होने से नहीं माना जायगा। इस प्रकार आगम भी मन के सामने वचन को अप्रमाण मानता है। यदि मन में यावज्जीवन त्याग की भावना है तो उतना ही त्याग माना जायगा। वचन से ऐसा न कहने पर मिथ्यात्व दोष लगेगा।

इस प्रकार युक्तियों से समझाया जाने पर भी जब वह नहीं माना तो पुष्पमित्र उसे गच्छ के दूसरे बहुश्रुत और स्थविरों के पास ले गये। उन्होंने भी कहा, जैसा आचार्य कहते हैं, वही ठीक है। आचार्य आर्यरक्षित ने भी ऐसा ही कहा था, न्यूनाधिक नहीं। गोष्ठामाहिल ने कहा--आप स्थविर लोग क्या जानते हैं? जैसा मैं कहता हूँ, तीर्थङ्करों ने वैसा ही उपदेश दिया है।

स्थविर बोले--तुम झूठी जिद कर रहे हो। तीर्थङ्करों की आशातना मत करो। तुम इस विषय में विशेषज्ञ नहीं हो।

इस प्रकार विवाद बढ़ जाने पर उन्होंने संघ इकट्ठा किया। सारे संघ ने देवता को बुलाने के लिए कायोत्सर्ग किया। इससे भद्रिका नाम की देवी आई। वह बोली आज्ञा दीजिए, क्या करूँ? वास्तविक बात को जानते हुए भी सब लोगों का विश्वास दिलाने के लिये संघ ने कहा--'महाविदेह क्षेत्र में जाकर तीर्थङ्कर से पूछो। क्या दुर्बलिका पुष्पमित्र और संघ की बात सच्ची है, अथवा गोष्ठामाहिल की?

वह बोली—महाविदेह क्षेत्र में आवागमन करते समय होने वाले विघ्नों को दूर करने के लिये आप लोग फिर कायोत्सर्ग कीजिए, जिससे मैं निर्विघ्न चली जाऊँ। संघ ने वैसा ही किया। वह भगवान् को पूछ वापिस आकर बोली—भगवान् फरमाते हैं—दुर्बलिका पुष्यमित्र और संघ की बात ठीक है। गोष्ठामाहिल झूठा है और यह सातवां निह्नव है।

यह सुनकर गोष्ठामाहिल बोला—यह थोड़ी ऋद्धि वाली है। तीर्थङ्कर भगवान् के पास जाने की ताकत इसमें नहीं है।

इस प्रकार भी जब वह नहीं माना तो संघ ने उसे बाहर निकाल दिया। आलोचना, प्रतिक्रमण तथा ठीक मार्ग का अवलंबन किये बिना ही उसका देहान्त हो गया।

इस प्रकार सातवां गोष्ठामाहिल नाम का निह्नव समाप्त हुआ।

(८) बोटिक निह्नव–स्थानाङ्ग सूत्र के सातवें बोल के प्रकरण में सात ही निह्नव हैं। मूल सूत्र में इन्हीं का निर्देश है। हरिभद्रीयावश्यक, और विशेषावश्यक भाष्य में आदि शब्द को लेकर आठवें बोटिक नाम के निह्नवों का वर्णन किया है। साथ में पहिले के सात निह्नवों का देशविसंवादी बताकर इन्हें प्रभूत विसंवादी कहा है। श्वेताम्बर समाज में यही कथा दिगम्बरों की उत्पत्ति का आधार मानी जाती है। इसकी ऐतिहासिक सत्यता के विचार में न पड़कर यहाँ पर उसकी कथा विशेषावश्यक भाष्य क अनुसार दी जाती है।

भगवान महावीर की मुक्ति के छः सौ नौ वर्ष बाद बोटिक नाम के निह्नवों का मत शुरू हुआ।

रथवीरपुर नगर क बाहर दीपक नाम का उद्यान था। वहाँ आर्यकृष्ण आचार्य आए। उसी नगर में सहस्रमल्ल शिवभूति नाम का राजसेवक रहता था राजा की विशेष कृपादृष्टि

होने से वह नगर में विलासी बनकर घूमता फिरता । आधी रात बीत जाने पर घर लौटता । एक दिन उसकी स्त्री ने अपनी सास से कहा—आपके पुत्र ने मुझे तो दुखी कर दिया। वे कभी रात को समय पर घर नहीं आते। नींद और भूख के मारे तंग हो जाती हूँ।

उसकी सास ने कहा—बेटी! अगर यह बात है तो तुम आज सो जाओ। मैं जागती रहूँगी। बहू ने वैसा ही किया। रात्रि को जागते हुए जब आधी रात बीत गई, शिवभूति ने आकर आवाज दी, 'किवाड़ खोलो'। मां ने क्रोध में आकर कहा—दुष्ट ! इस समय जहाँ किवाड़ खुले रहते हैं वहीं चले जाओ। तेरे पीछे लगकर अपनी जान कौन दे ?

क्रोध और अहंकार से भरा हुआ वह वहाँ से चल दिया। घूमते हुए खुले द्वार वाले स्थानक को देखा। वहाँ साधु महाराज धर्मध्यान कर रहे थे। उनके पास जाकर वन्दना करके उसने दीक्षा मांगी। राजवल्लभ और माता तथा पत्नी के द्वारा उद्वेजित जानकर उन्होंने दीक्षा न दी।

स्वयमेव दीक्षा लेकर अपने आप लोच करके वह साधु बन गया। दूसरे साधुओं ने उसे वेश दे दिया और सबके सब दूसरी जगह विहार कर गए। कुछ दिनों बाद फिर वहाँ आए। राजा ने शिवभूति को एक बहुमूल्य कम्बल दिया। आचार्य ने शिवभूति से कहा—इस बहुमूल्य कम्बल से मार्ग में बहुत सी बाधाएं खड़ी होने की सम्भावना है। इसलिए तुम्हें यह नहीं रखना चाहिए। शिवभूति ने कम्बल छिपाकर रख लिया। गोचरी वगैरह से लौटकर उसे सम्भाल लेता और उसे किसी काम में नहीं लाता।

गुरु ने उसके मूर्छाभाव को दूर करने के लिये एक दिन

जब यह बाहर गया हुआ था, उससे बिना पूछे ही कम्बल को फाड़कर पैर पोंछने के कपड़े बना दिये। शिवभूति को यह मालूम कर मन ही मन बहुत क्रोध आया।

एक दिन की बात है कि गुरु जिनकल्पियों का वर्णन कर रहे थे। उन्होंने कहा—जिनकल्पी दो तरह के होते हैं। पाणिपात्र (हाथ ही जिनके पात्र हैं अर्थात् पास में कुछ न रखने वाले) और प्रतिग्रह(पात्र वगैरह) रखने वाले। इनमें भी प्रत्येक के दो भेद हैं—प्रावरण (शरीर ढकने के लिए वस्त्र रखने वाले) और अप्रावरण (बिल्कुल वस्त्र न रखने वाले)। दो, तीन, चार, पांच, नौ, दस, ग्यारह और बारह, इस तरह जिनकल्पी की उपधियों के आठ भेद हैं।

(१) कुछ जिनकल्पियों के पास रजोहरण और मुखवस्त्रिका नाम की दो ही उपधियाँ होती हैं।

(२) कुछ के पास तीन, दो पहले की और एक कल्प अर्थात् कम्बलादि उपकरण।

(३) दो कल्पों के साथ चार उपधियाँ हो जाती हैं।

(४) तीन कल्पों के साथ पाँच।

(५) मुखवस्त्रिका रजोहरण और सात तरह का पात्रनिर्योग। इस प्रकार नव तरह की उपधि हो जाती है। पात्रनिर्योग इस प्रकार है-पात्र, पात्र बांधने का कपड़ा, पात्र रखने का कपड़ा, पात्र पोंछने का कपड़ा, पटल (भिक्षा के समय पात्र ढकने वाला वस्त्र),रजस्त्राण(पात्र लपेटने का कपड़ा) और गुच्छक (पात्र साफ करने का वस्त्रखंड)।

(६) इन्हीं के साथ एक कल्प मिलाने से दस तरह की उपधि हो जाती है।

(७) दो मिलाने से ग्यारह तरह की।

(८) तीन मिलाने से बारह तरह की।

इस प्रकार जिनकल्पी का वर्णन सुनकर शिवभूति ने कहा आज कल औधिक (वस्त्र पात्रादि नित्य काम में आने वाली) और औपग्रहिक (आपत्ति आने पर संयम की रक्षा के लिए काम में लाई जाने वाली) रूप इतनी उपधि क्यों ग्रहण की जाती है? वही जिनकल्प क्यों नहीं अङ्गीकार किया जाता? गुरु ने कहा—उस तरह की शारीरिक शक्ति और संहनन न होने से आज कल उसका पालन कोई नहीं कर सकता। दूसरी बातों की तरह इसका भी जम्बूस्वामी के बाद विच्छेद हो गया।

शिवभूति ने कहा—मेरे रहते उसका विच्छेद कैसे हो सकता है? मैं उसका पालन करूँगा। परलोकार्थी को निष्परिग्रह होकर जिनकल्प का ही अवलम्बन करना चाहिए। कषाय, भय, मूर्छा आदि दोष पैदा करने वाले इस अनर्थकारी परिग्रह से क्या मतलब? इसीलिए शास्त्र में साधु को निष्परिग्रह कहा है। जिनेन्द्र भगवान् भी वस्त्र धारण नहीं करते थे। इसलिए बिना वस्त्र रहना ही ठीक है।

गुरु ने कहा—यदि यह बात है तो बहुत से व्यक्तियों को देह के विषय में भी कषाय, भय, मूर्छादि दोष होते हैं। इसलिए व्रत लेते ही उसे भी छोड़ देना चाहिए। शास्त्र में जो निष्परिग्रहत्व कहा है उसका अर्थ है धर्मोपकरण में भी मूर्छा का न होना। मूर्छा का न होना ही निष्परिग्रहत्व है। धर्मोपकरणों का सर्वथा त्याग निष्परिग्रहत्व नहीं है। जिनेन्द्र भी सर्वथा वस्त्र रहित नहीं होते थे। शास्त्र में लिखा है—'चौबीसों जिनेन्द्र एक वस्त्र के साथ निकले थे।'

इस प्रकार गुरु और दूसरे स्थविरों द्वारा समझाया जाने पर भी कषाय और मोहनीय के उदय से उसने अपना आग्रह न छोड़ा। कपड़े छोड़कर चला गया। एक दिन वह बाहर के

उद्यान में ठहरा हुआ था। उसकी बहिन उत्तरा दर्शन करने आई। अपने भाई को नग्न देखकर उसने भी कपड़े छोड़ दिये। जब वह नगर में भिक्षा के लिए गई तो एक वेश्या ने देख लिया। उसके बीभत्स रूप को देख कर जनता स्त्रियों से घृणा न करने लग जाय, इस डर से वेश्या ने उसको बिना इच्छा के भी कपड़े पहिना दिए। यह सारा हाल उत्तरा ने शिवभूति से कहा। बिना वस्त्र की स्त्री बहुत बीभत्स और लज्जनीय हो जाती है, यह सोचकर उसने कहा तुम इसी तरह रहो। कपड़े मत छोड़ो। ये तुम्हें देवता ने दिए हैं। शिवभूति के कौण्डिन्य और कोट्टवीर नाम के दो शिष्य हुए। कौण्डिन्य और कोट्टवीर के बाद शिष्य परम्परा चलने से 'बोटिकदृष्टि' प्रचलित हो गई।

शिवभूति और उसके गुरु में जो शंका समाधान हुआ, विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार उसे यहाँ स्पष्ट रूप से दिया जाता है।

शिवभूति–साधु को परिग्रह नहीं रखना चाहिए, क्योंकि वह कषाय, भय और मूर्छा आदि का कारण है। शास्त्र में कहा गया है, अचेलपरिषह को जीतने वाला ही साधु होता है। यह परिषह कपड़ा छोड़ने वाले का ही हो सकता है–आगम में तीन ही कारणों से वस्त्र पहिनने की अनुमति दी गई है–लज्जा या संयम की रक्षा के लिए, जुगुप्सा–जनता में होने वाली निन्दा से बचने के लिए और सरदी गरमी तथा मच्छर आदि के परिषह से बचने के लिए। इन युक्तियों से सिद्ध होता है कि साधु को अचेल अर्थात् बिना वस्त्र के हो रहना चाहिए।

आचार्य आर्यकृष्ण–जो कषाय का कारण है वह परिग्रह है और परिग्रह मोक्षार्थी को छोड़ ही देना चाहिए। अगर यह तुम्हारा एकान्त नियम है तो शरीर भी छोड़ देना चाहिए, क्योंकि यह भी कषाय की उत्पत्ति का कारण है।

दुनिया में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो अपने या दूसरे में कषाय की उत्पत्ति का कारण न बने। इस तरह श्रुत और चारित्र रूप वाला धर्म भी छोड़ देना होगा, क्योंकि वह भी किसी अन्य मतावलम्बी के लिए कषाय का कारण है। तीनों लोकों के बन्धु, बिना ही कारण सब प्राणियों पर उपकार करने वाले भगवान् भी निकाचित कर्मों के उदय से गोशालक और संगम की कषाय का कारण बन गए। इसी तरह भगवान् का बताया हुआ धर्म, उस धर्म को मानने वाले साधु और द्वादशाङ्गी रूप आगम भी इस धर्म को न मानने वालों की कषाय का कारण है, यह भी अग्राह्य हो जायगा। अतः जो कषाय का कारण है, उसे छोड़ देना चाहिए यह एकान्त नियम नहीं है।

शंका-शरीर से लेकर जिनधर्म तक जो पदार्थ गिनाए हैं, वे कषाय के कारण होने पर भी परिग्रह नहीं हैं, क्योंकि उनका ग्रहण मोक्षसाधन मानकर किया जाता है।

उत्तर-शुद्ध और भिक्षा योग्य वस्त्र पात्रादि उपकरण भी अगर मोक्ष साधन मानकर ग्रहण किए जायँ तो परिग्रह कैसे रहेंगे, क्योंकि दोनों जगह बात एक सरीखी है।

मूर्छा का कारण होने से यदि वस्त्रादि को परिग्रह और त्याज्य कहा जाय तो शरीर और आहार भी मूर्छा का कारण होने से त्याज्य हो जायँगे। इसलिए जो साधु ममत्व और मूर्छा से रहित हैं, सब वस्तुओं में अनासक्त हैं उनके वस्त्रादि को परिग्रह नहीं कहा जा सकता।

जो वस्त्र स्थूल हैं, बाह्य हैं अग्नि या चोर वगैरह के उपद्रव से क्षण भर में नष्ट हो सकते हैं, सरलता से प्राप्त हो सकते हैं, कुछ दिनों बाद स्वयं जीर्ण हो जाते हैं, शरीर की अपेक्षा बिल्कुल तुच्छ हैं उनमें भी जो मनुष्य मूर्छा करता है, शरीर में तो उस

की मूर्छा अवश्य ही होगी, क्योंकि शरीर कहीं खरीदा नहीं जा सकता। वस्त्रादि की अपेक्षा बहुत दुर्लभ है। अन्तरङ्ग है। अधिक दिन ठहरने वाला है और विशेष कार्यों को सिद्ध करने वाला है।

शंका-शरीरादि की मूर्छा अल्प होती है। वस्त्रों में अधिक होती है। इसलिए शरीर में मूर्छा होने पर भी नग्न श्रमण कहे जायेंगे, वस्त्रादि रखने वाले नहीं।

उत्तर-वस्त्र के रखने या न रखने से ही कोई त्यागी या भोगी नहीं बनता। पशु, भील और बहुत से दूसरे मनुष्य बहुत थोड़ा परिग्रह होने पर भी गरीबी के कारण मन में दुखी होते हुए धन न होने पर भी सन्तोष का अभाव होने से लोभादि कषाय के वशीभूत होकर दूसरे के धन का चिन्तन करते हुए अनन्त कर्मों को बांध लेते हैं। वे अधिकतर नरकगति को प्राप्त करते हैं। दूसरी तरफ महामुनियों को कोई व्यक्ति उपसर्गादि की बुद्धि से अगर महामूल्यवान् वस्त्र आभरण और माला वगैरह पहिना देता है, शरीर पर चन्दन आदि का लेप कर देता है, तो भी सभी तरह की आसक्ति से अलग रहते हैं। आत्मा का निग्रह करते हुए, लोभादि कषाय शत्रुओं को जीतकर विमल केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पहुँच जाते हैं। इसलिए जिनकी आत्मा वश में नहीं है, जो मन में दुखी होते रहते हैं उनके नग्न होने से कुछ भी लाभ नहीं है।

भय का कारण होने से वस्त्रादि को त्याज्य कहना भी युक्ति युक्त नहीं है। आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र का भी उनका उपघात करने वाले मिथ्यात्व से भय है। शरीर को जंगली जानवरों से भय है। इसलिए उन्हें भी परिग्रह मानकर छोड़ देना पड़ेगा।

रौद्रध्यान का कारण होने से वस्त्रादि परिग्रह हैं। इसलिये उन्हें छोड़ देना चाहिए। यह कहना भी ठीक नहीं है।

शास्त्र में रौद्रध्यान चार तरह का बताया है। (१) हिंसानुबन्धी-हिंसा का सतत चिन्तन। (२) मृषानुबन्धी-असत्य का चिन्तन। (३) स्तेयानुबन्धी-चोरी का चिन्तन। (४) संरक्षणानुबन्धी-चोरादि को मारकर भी अपने धन को बचाने का चिन्तन।

यदि रक्षादि की चिन्ता होने से वस्त्रादि संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान के कारण हैं तो देहादि भी इसीलिये रौद्रध्यान के कारण बन जाते हैं, क्योंकि उन्हें भी अग्नि, चोर, जंगली जानवर, साँप, विष और कण्टकादि से बचाने की चिन्ता बनी रहती है।

संसार में सोना, पीना, खाना, जाना ठहरना आदि मन वचन और काया की जितनी क्रियाएं हैं, वे सब असंयत पुरुषों के लिए, जिनका अध्यवसाय ठीक नहीं होता, भय का कारण बन जाती हैं। ये ही संयत और प्रशस्त अध्यवसाय वाले पुरुषों के लिये मोक्ष का साधन होती हैं। इसलिये वस्त्रादि स्वीकार करने पर भी साधुओं को, जिन्होंने कषाय का मूल से नाश कर दिया है। साधारण मनुष्यों की तरह भय मूर्च्छादि दोष नहीं लगते।

वस्त्रादि परिग्रह हैं, क्योंकि मूर्च्छादि के कारण हैं जैसे-सोना चाँदी। अगर इसी अनुमान से वस्त्रादि को परिग्रह सिद्ध किया जाता है तो हम भी इसी तरह का दूसरा अनुमान बनाकर कनक और कामिनी को अपरिग्रह सिद्ध कर सकते हैं। जैसे-कनक और युवति, आसहधर्मिणी मानकर ग्रहण की गई है, परिग्रह नहीं हैं, क्योंकि शरीर के लिए उपकारी हैं, जैसे आहार। युवति का शरीर के लिए उपयोगी होना प्रसिद्ध ही है। सोना भी विषनाशक होने से शरीर का उपकारी है। शास्त्र में इसके आठ गुण बताए गये हैं। विषघात, रसायन, मङ्गल, विनीत,

मदक्षिणावर्त, भारीपन और हृष्टनाश।

शंका—अगर यह बात है तो परिग्रह और अपरिग्रह का भेद ही नष्ट हो जायगा। सुवर्ण वगैरह जो परिग्रह रूप से प्रसिद्ध हैं उन्हें आपने अपरिग्रह सिद्ध कर दिया। देहादि को, जिन्हें कोई भी परिग्रह नहीं कहता, परिग्रह सिद्ध कर दिया। आपका अनुमान है -यह परिग्रह है, क्योंकि कषायादि का कारण है। जैसे—सोना। अब आप ही बताइए परिग्रह क्या है? और अपरिग्रह क्या है?

उत्तर—वास्तव में कोई भी वस्तु परिग्रह या अपरिग्रह नहीं है। जहाँ पर धन, शरीर, आहार, कनक आदि में मूर्च्छा होती है, वहीं परिग्रह है। जहाँ मूर्च्छा नहीं है वहाँ परिग्रह नहीं है।

शंका—वस्त्रों से संयम का क्या उपकार होता है?

उत्तर—सूत और ऊन के कपड़ों से शीत का निवारण होता है। शीतार्त व्यक्ति आर्तध्यान करता है। शीत का निवारण होने से आर्तध्यान नहीं होता। वस्त्रों के अभाव में लोग शीत निवारण करने के लिए अग्नि जलाते हैं। उसमें बहुत से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है। कपड़े होने पर इस की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके बिना ही शीतनिवृत्ति हो जायगी। जो साधु रात्रिभिागरण करते हैं, उनके लिए नियम है कि वे चारों कालों का ग्रहण करें। बर्फवाली ठंडी रात में कपड़े होने से साधुओं की स्वाध्याय और ध्यान निर्विघ्न हो सकते हैं।

आधीरात के उपरान्त ऊपर से गिरती हुई सचित्त पृथ्वी से बचने के लिए इनकी आवश्यकता है।

ओस, वर्षा बर्फ और ऊपर से गिरती हुई सचित्त धूलि तथा दीपक वगैरह की प्रभा से बचने के लिए वस्त्रों की आवश्यकता है

मृत के ऊपर ढकने के लिए तथा उस नि॰ लने वाले ओढ़ाने के

लिये तथा बीमार के लिये भी वस्त्र की आवश्यकता है।

मुखवस्त्रिका, रजोहरणादि उपकरण भी यथावसर संयम के उपकारी हैं।

नगर या गाँव में पड़ी हुई बीमारी की धूल वगैरह से बचने के लिये भी मुखवस्त्रिका की आवश्यकता होती है।

रात्रि में किसी वस्तु को लेने या रखने के लिये तथा शास्त्र या पाट वगैरह को इधर उधर हटाने से पहले पूँजने के लिये रजोहरण की आवश्यकता है। यह साधु का चिह्न भी है।

गुप्त अङ्गों को ढकने के लिये तथा जुगुप्सानिवृत्ति के लिये चोलपट्टा भी रखना चाहिए।

जिनके अन्दर द्वीन्द्रियादि जीव पैदा हो गये हों, ऐसे सत्तु, गोरस, द्राक्षादि के पानी में पड़े हुए जीवों की रक्षा के लिये पात्रों की आवश्यकता है। बिना पात्रों के हाथ में लिए हुए गोरसादि इधर उधर गिर जायँगे, इससे उनमें पड़े हुए जीवों की हिंसा होगी। पात्रों द्वारा उन्हें दोष रहित स्थान पर परठने से हिंसा बच जाती है। बिना पात्रों के हाथ में घी, दूध वगैरह पदार्थ लेने से नीचे गिर जायँगे, उससे नीचे चलते हुए कीड़ी कुन्थु आदि प्राणियों की हिंसा होगी। हाथ धोने वगैरह में जो पश्चात्कर्म दोष लगते हैं, उनसे बचने के लिये भी इनकी आवश्यकता है। अशक्त, बालक, दुर्बल और वृद्ध वगैरह के उपकार के लिए भी पात्र आवश्यक हैं। क्योंकि पात्र रहने पर उनमें गृहस्थों से भोजन लाकर अशक्त को दिया जा सकता है पात्रों के बिना यह होना कठिन है। पात्र रहने पर आहार लाकर दूसरे साधुओं को देने से दान धर्म की सिद्धि होती है तथा वैयावृत्य तप होता है। पात्र रहने से लब्धि वाले और बिना लब्धि के शक्त और अशक्त, वहीं के निवासी और पाहुने सब समान रूप से स्वस्थ होकर

आहार कर सकते हैं क्योंकि पात्र में लाकर एक दूसरे को आहार दिया जा सकता है। साधु की भी बहुत सी बातों के लिए आवश्य कता है इसलिए पात्र और साधक दोनों का रखना आवश्यक है।

साधु को सार परिग्रह का त्याग होता है यह बात जो शास्त्रों में लिखी है उसका यही अभिप्राय है कि साधु का किसी भी वस्तु में मूर्च्छा नहीं होनी चाहिए। किसी वस्तु को न रखना उसका अभिप्राय नहीं है।

तीर्थङ्कर भगवान् अनुपम धैर्य और संहनन वाले होते हैं। छद्मस्थावस्था में भी चार ज्ञान के धारक होते हैं। अत्यधिक पराक्रम शाली होते हैं। उनके हाथ में छिद्र नहीं होता, इसलिए पाणिपात्र होते हैं। सभी परिषहों को जीते हुए होते हैं। कपड़े न होने पर भी उनको संयमविराधना आदि दोष नहीं लगते। इस कारण से तीर्थङ्करों के लिए वस्त्र संयम का साधक नहीं होता। वे बिना वस्त्रों के भी संयम की पूर्ण रक्षा कर सकते हैं।

शंका—यदि तीर्थङ्कर वस्त्र धारण नहीं करते तो 'सभी तीर्थ ङ्कर एक वस्त्र के साथ दीक्षा लेते हैं' यह उक्ति असंगत हो जायगी।

उत्तर—यद्यपि तीर्थङ्करों को संयम के लिए वस्त्रों की जरूरत नहीं पड़ती तो भी वे चाहते हैं कि सवस्त्र तीर्थ को चलाया जाय और साधु सवस्त्र ही रहें। इसी बात को बताने के लिए दीक्षा लेते समय वे एक कपड़े के साथ निकलते हैं। उस कपड़े के गिर जाने पर वे वस्त्र रहित हो जाते हैं।

जिनकल्पिक साधु तो हमेशा ही उपकरण वाले रहे हैं इसीलिए सामर्थ्यानुसार उनकी उपधियों के दो, तीन आदि भेद किए हैं। सर्वथा उपकरण रहित होना तो एकान्त ही मत है।

तीर्थङ्करों के स्वयं कथञ्चित् वस्त्र रहित होने पर भी उनका उपदेश है कि साधारण शक्ति वाले पुरुष को वस्त्र सहित रहना

चाहिए। पात्र शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु के बताए मार्ग पर चले। हरएक बात में गुरु की नकल करना ठीक नहीं है। जो रोगी वैद्य के उपदेशानुसार चलता है, वह रोग से मुक्त हो सकता है। वैद्य की तरह वेश या चाल चलन रखने से वह रोगमुक्त नहीं हो सकता। किसी रूपणक के वैद्य होने पर उसकी तरह नग्न रहकर सब तरह के पदार्थ खाने से रोगी सन्निपात ज्वर से मर ही जायगा। इसलिए वैद्य के उपदेशानुसार चलना ही रोगी के लिए श्रेयस्कर है। इसी तरह जिनराज रूपी वैद्य के उपदेशों पर चल कर ही जीव कर्मरोग से मुक्त हो सकता है। अपनी सामर्थ्य के बिना उनका वेश और चारित्र रखने से पागल ही समझा जायगा।

यदि तीर्थङ्कर भगवान के साथ पूर्ण रूप से समानता ही रखनी है तो उनकी तरह स्वयंसम्बुद्ध(जिनको दूसरे के उपदेश के बिना ही ज्ञान प्राप्त हो गया हो) भी होना चाहिए। छद्मस्था वस्था में किसी को उपदेश नहीं देना चाहिए। किसी शिष्य को दीक्षा न देनी चाहिए। तुम्हारे शिष्य तथा प्रशिष्यों को भी इसी बात पर चलना चाहिए। इस तरह तीर्थ ही नहीं चलेगा। आगे कोई केवलज्ञान न होने से तीर्थ ही बन्द हो जायेंगे।

जिनकल्प के लिए भी प्रत्येक व्यक्ति में विशेष योग्यता होनी चाहिये। शास्त्र में कहा है-जो व्यक्ति उत्तम धैर्य और संहनन वाला हो, कम से कम किञ्चित् ऊन नौ पूर्वों का ज्ञाता, अनुपम शक्ति और अतिशय से सम्पन्न हो, ज्ञान और पराक्रम से समृद्ध हो, वही जिनकल्पी हो सकता है। साधारण पुरुष नहीं।

शास्त्र में नीचे लिखी बातों का जम्बूस्वामी के बाद विच्छेद बताया गया है। मनःपर्ययज्ञान, परमावधि, पुलाक लब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, परिहार

विशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात नाम के तीन संयम, केवलज्ञान और मोक्ष आन की शक्ति।

साधु अचेल परिषह को जीतने वाला होता है। इससे भी वस्त्रों का छोड़ देना सिद्ध नहीं होता। यदि वस्त्र छोड़ने पर ही अचेल परिषह जीता जा सकता है तो दिगिंछा (क्षुत्) परिषह भी भोजन छोड़ देने पर ही जीता जा सकेगा।

कपड़े होने पर भी मूर्छा न होने से साधु अचेल कहे जाते हैं। उनके कपड़े बहुत जीर्ण और अल्पमूल्य वाले होते हैं, इस लिए भी वे अचेल कहे जाते हैं।

तीन कारणों से वस्त्र धारण करने चाहिए। इस बात से तो हमारा ही मत पुष्ट होता है।

इसलिए यह सिद्ध हो गया कि शास्त्र और युक्ति कोई भी वस्त्रत्याग के पक्ष में नहीं है। पात्र न रखने से एषणासमिति का सम्यक् पालन नहीं हो सकता। इसलिए पात्र भी रखने चाहिए। निक्षेपणादान समिति, व्युत्सर्ग समिति और भाषा समिति का पालन रजोहरण और मुखवस्त्रिका के बिना नहीं हो सकता। अतः समिति और महाव्रतों का ठीक पालन करने के लिए वस्त्रादि रखना आवश्यक है। यह संवाद उत्तराध्ययन के दूसरे अध्ययन के अचेल परिषह में भी दिया गया है। स्त्री मुक्ति के लिए ३६वें अध्ययन की बृहद् टीका देखनी चाहिए।

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा २१ —२१२)

५६२—नय सात

प्रमाण से जानी हुई अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म को मुख्य रूप से जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

विस्तार से तो नय के अनेक भेद हैं, क्योंकि एक वस्तु को कहने वाले जितने वाक्य हैं उतने ही नय हो सकते हैं, परन्तु

संक्षेप से नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्य अर्थात् सामान्य को विषय करने वाले नय को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और पर्याय अर्थात् विशेष को विषय करने वाला नय को पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। श्री सिद्धसेन आदि तार्किकों के मत को मानने वाले द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद मानते हैं परन्तु जिनभद्र गणि के मत का अनुसरण करने वाले सैद्धान्तिक द्रव्यार्थिक नय के चार भेद मानते हैं।

(अनुयोगद्वार सूत्र १५) (प्रवचन गाथा ८४८)(विशेषावश्यक गाथा १५५)

(१) नैगम नय—दो पर्यायों, दो द्रव्यों और द्रव्य और पर्याय की प्रधान और गौण भाव से विवक्षा करने वाले नय को नैगम नय कहते हैं। नैगम नय अनेक गमों अर्थात् बोधमार्गों (विकल्पों) से वस्तु को जानता है। (रत्नाकरावतारिका अध्याय ७ सूत्र ७)

जो अनेक मानों से वस्तु को जानता है अथवा अनेक भावों से वस्तु का निर्णय करता है उसे नैगम नय कहते हैं।

निगम नाम जनपद अर्थात् देश का है। उसमें जो शब्द जिस अर्थ के लिए नियत है, वहाँ पर उस अर्थ और शब्द के सम्बन्ध को जानने का नाम नैगम नय है अर्थात् इस शब्द का यह अर्थ है और इस अर्थ का वाचक यह शब्द है, इस प्रकार वाच्य वाचक के सम्बन्ध के ज्ञान को नैगम नय कहते हैं। (तत्त्वार्थ सूत्र अ १)

'अर्थ संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नय'

निगम का अर्थ है संकल्प। जो निगम अर्थात् संकल्प को विषय करे वह नैगम नय कहा जाता है। जैसे—'कौन जा रहा है' 'मैं जा रहा हूँ' यहाँ पर कोई जा नहीं रहा है किन्तु जाने का

केवल संकल्प ही किया है। इसलिये नैगम नय की अपेक्षा से यह कह दिया गया है कि मैं जा रहा हूँ। (न्याय प्रदीप)

शब्दों के जितने और जैसे अर्थ लोक में माने जाते हैं, उन को मानने की दृष्टि नैगम नय है। इस दृष्टि से यह नय अन्य सभी नयों से अधिक विषय वाला है।

नैगम नय पदार्थ को सामान्य, विशेष और उभयात्मक मानता है। तीनों कालों और चारों निक्षेपों को मानता है एवं धर्म और धर्मी दोनों को ग्रहण करता है।

यह नय एक अंश उत्पन्न होने से ही वस्तु को सम्पूर्ण मान लेता है। जैसे किसी मनुष्य को पायली बनाने की इच्छा हुई। तब वह जंगल में काष्ठ लाने के लिए गया। रास्ते में उसे किसी ने पूछा, 'कहाँ जाते हो' उसने उत्तर दिया, पायली लाने के लिए जाता हूँ। बिना ही लकड़ी प्राप्त किए और उससे बिना ही पायली बनाए केवल उसके लिए विचार अथवा प्रवृत्ति मात्र को ही उसने पायली कह दिया। इस प्रकार वस्तु के अंश को सम्पूर्ण वस्तु मानना नैगम नय का अभिप्राय है।

नैगम नय के दो भेद हैं, क्योंकि शब्द का प्रयोग दो ही प्रकार से हो सकता है। एक सामान्य अंश की अपेक्षा से और दूसरा विशेष अंश की अपेक्षा से। सामान्य अंश का सहारा लेकर प्रवृत्त होने वाले नय को समग्रग्राही नैगम नय कहते हैं। जैसे पानी का या सोने का अथवा मिट्टी का या पीतल का और सफेद काला इत्यादि भेद न करके यह नय घट मात्र का ग्रहण करता है।

विशेष अंश का आश्रय लेकर प्रवृत्त होने वाले नय को देशग्राही नैगम नय कहते हैं। जैसे घट को मिट्टी का या पीतल का इत्यादि विशेष रूप से ग्रहण करना।

नैगम नय के दूसरी अपेक्षा से तीन भेद भी माने गए हैं। जैसे–भूत नैगम, भावी नैगम और वर्तमान नैगम।

अतीत काल में वर्तमान का संकल्प करना भूत नैगम नय है। जैसे दीवाली के दिन कहना–आज महावीर स्वामी मोक्ष गये थे। आज का अर्थ है वर्तमान दिवस, लेकिन उसका संकल्प हजारों वर्ष पहले के दिन में किया गया है।

भविष्य में भूत का संकल्प करना भावी नैगम नय है। जैसे अरिहन्त (जीवनमुक्त) सिद्ध (मुक्त) ही हैं।

कोई कार्य शुरू कर दिया गया हो, परन्तु वह पूर्ण न हुआ हो, फिर भी पूर्ण हुआ कहना वर्तमान नैगम नय है। जैसे रसोई के आरम्भ में ही कहना कि आज तो भात बनाया है।

(२) संग्रह नय–विशेष से रहित सत्त्व, द्रव्यत्वादि सामान्यमात्र को ग्रहण करने वाले नय को संग्रह नय कहते हैं। (रत्नाकरावतारिका)

पिण्डित अर्थात् एक जाति रूप सामान्य अर्थ का विषय करने वाले नय को संग्रह नय कहते हैं। (न्य द्र नयचक्र)

संग्रह नय एक शब्द के द्वारा अनेक पदार्थों को ग्रहण करता है अथवा एक अंश या अवयव का नाम लेने से सर्वगुण पर्यायसहित वस्तु को ग्रहण करने वाला संग्रह नय है। जैसे कोई बड़ा आदमी अपने घर के द्वार पर बैठा हुआ नौकर से कहता है कि 'दातुन लाओ' यह 'दातुन' शब्द सुनकर मञ्जन, कूँची, जीभी, पानी का लोटा, तुवाल आदि सब चीजें लाकर उपस्थित होता है। केवल 'दातुन' इतना ही कहने से सम्पूर्ण सामग्री का संग्रह हो गया।

संग्रह नय के दो भेद हैं, परसंग्रह (सामान्य संग्रह) और अपरसंग्रह (विशेष संग्रह)।

सत्तामात्र अर्थात् द्रव्यों को ग्रहण करने वाला नय परसंग्रह

नय कहलाता है, क्योंकि यह नय द्रव्य कहने से जीव और अजीव के भेद को न मानकर सब द्रव्यों को ग्रहण करता है। द्रव्य आदि अवान्तर सामान्य को ग्रहण करने वाला और उनके भेदों की उपेक्षा करने वाला अपरसंग्रह नय है। जैसे 'जीव' कहने से सब जीव द्रव्यों का ग्रहण तो हुआ, परन्तु अजीव द्रव्य रह गया। इसलिए यह नय विशेष संग्रह नय है।

(रत्नाकरावतारिका प० ७)

(२) व्यवहार नय–लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। जैसे–जो सत् है, वह द्रव्य है या पर्याय। जो द्रव्य है, उसके जीवादि छः भेद हैं। जो पर्याय है उसके सहभावी और क्रमभावी ये दो भेद हैं। इसी प्रकार जीव के संसारी और मुक्त दो भेद हैं। इत्यादि।

सब द्रव्यों और उनके विषयों में सदा प्रवृत्ति करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। यह नय लोक व्यवहार का अनुसरण करने के कारण सामान्य को नहीं मानता। फलतः विशेष का ही ग्रहण करता है, क्योंकि लोक में विशेष घटादि पदार्थ जलधारण आदि क्रियाओं के योग्य देखे जाते हैं। यद्यपि निश्चय नय के अनुसार घट आदि सब, अष्टस्पर्शी पौद्गलिक वस्तुओं में पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श होते हैं, किन्तु बालक और स्त्रियाँ जैसे साधारण लोग भी जहाँ कहीं एक स्थल में काला या नीला आदि वर्णों का निश्चय करते हैं, उसी का लोकव्यवहार के योग्य होने के कारण व्यवहार सत् रूप से प्रतिपादन करते हैं और शेष का नहीं। (अनु० नयद्वार)

व्यवहार से कोयल काली है, परन्तु निश्चय से कोयल में पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श पाये जाते हैं। इसी प्रकार गुड़ व्यवहार से मीठा है, परन्तु निश्चय नय

स उसमें उपरोक्त बीसों बोल पाये जाते हैं।

यह नय प्रायः उपचार में ही प्रवृत्त हुआ करता है और इस के ज्ञेय विषय अनेक हैं। इसलिए इसको विस्तृतार्थ भी कहा है। जैसे यह कहना कि घड़ा चूता है, रास्ता चलता है इत्यादि। वस्तुतः घड़े में भरा हुआ पानी चूता है और रास्ते पर मनुष्यादि चलते हैं। फिर भी लौकिक जन घड़े का चूना और रास्ते का चलना ही कहा करते हैं। इसी प्रकार प्रायः उपचरित विषय ही व्यवहार नय का विषय समझना चाहिए।

व्यवहार नय के दो भेद हैं—सामान्यभेदक और विशेषभेदक सामान्य संग्रह में दो भेद करने वाले नय को सामान्यभेदक व्यवहार नय कहते हैं। जैसे द्रव्य के दो भेद हैं, जीव और अजीव। विशेष संग्रह में भेद करने वाला विशेषभेदक व्यवहार नय है। जैसे जीव के दो भेद-संसारी और मुक्त।

(४) ऋजुसूत्र नय—वर्तमान क्षण में होने वाली पर्याय को प्रधान रूप से ग्रहण करने वाले नय को ऋजुसूत्र नय कहते हैं जैसे सुखपर्याय इस समय है। यह वर्तमानक्षणस्थायी सुखपर्याय को प्रधान रूप से विषय करता है, परन्तु अधिकरणभूत आत्मा को गौण रूप से मानता है। (रत्नाकरावतारिका अ० ७ सूत्र २८)

वर्तमानकालभावी पर्याय को ग्रहण करने वाला नय ऋजु सूत्र नय है। ऋजुसूत्र नय भूत और भविष्यत् काल की पर्याय को नहीं मानता। (अनुयोगद्वार उपक्रम द्वार)

इसके दो भेद हैं—सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्र।

जो एक समय मात्र की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करे, उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र कहते हैं। जैसे शब्द क्षणिक है। जो अनेक समयों की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है, उसे स्थूल ऋजु सूत्र कहते हैं। जैसे सौ वर्ष पर्यन्त की मनुष्य पर्याय।

(५) शब्दनय—काल, कारक, लिङ्ग संख्या, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थभेद का प्रतिपादन करने वाले नय को शब्द नय कहते हैं। जैसे सुमेरु था, सुमेरु है, सुमेरु होगा। उपरोक्त उदाहरण में शब्द नय भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल के भेद से सुमेरु पर्वत में तीन भेद मानता है। इसी प्रकार 'घड़े को करता है' और 'घड़ा किया जाता है' यहाँ कारक के भेद से शब्द नय घट में भेद करता है। इसी प्रकार लिङ्ग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग के भेद से भी भेद मानता है।

शब्द नय ऋजुसूत्र नय के द्वारा ग्रहण किए हुए वर्तमान को भी विशेष रूप से मानता है। जैसे ऋजुसूत्र नय लिङ्गादि का भेद होने पर भी उसकी वाच्य पर्यायों को एक ही मानता है, परन्तु शब्द नय लिङ्गादि के भेद से पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थभेद ग्रहण करता है। जैसे तट, तटी, तटम्, इन तीनों के अर्थों को भिन्न भिन्न मानता है।

(६) समभिरूढ नय—पर्यायवाची शब्दों में निरुक्ति के भेद से भिन्न अर्थ को मानने वाले नय को समभिरूढ नय कहते हैं।

यह नय मानता है कि जहाँ शब्दभेद है, वहाँ अर्थ भेद अवश्य है। शब्द नय तो अर्थभेद वहीं मानता है जहाँ लिङ्गादि का भेद हो। परन्तु इस नय की दृष्टि से तो प्रत्येक शब्द का अर्थ जुदा जुदा होता है, भले ही वे शब्द पर्यायवाची हों और उनमें लिङ्ग संख्या आदि का भेद भी न हो। इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं फिर भी इनके अर्थ में अन्तर है। इन्द्र शब्द से ऐश्वर्य वाले का बोध होता है और पुरन्दर से पुरों अर्थात् नगरों के नाश करने वाले का। दोनों का एक ही आधार होने से दोनों शब्द पर्यायवाची बताए गए हैं, किन्तु इनका अर्थ जुदा जुदा है। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द मूल में तो पृथक् अर्थ का

बतलाने वाला होता है, कालान्तर में व्यक्ति या समाज में प्रयुक्त होते होते पर्यायवाची बन जाता है। समभिरूढ नय शब्दों के प्रचलित अर्थों को नहीं, किन्तु उनके मूल अर्थों को पकड़ता है।

समभिरूढ नय के मत से जब इन्द्रादि वस्तु का अन्यत्र अर्थात् शक्रादि में संक्रमण होता है तब वह अवस्तु हो जाती है, क्योंकि समभिरूढ नय वाचक के भेद से भिन्न भिन्न वाच्यों का प्रतिपादन करता है। तात्पर्य यह है कि समभिरूढ नय के मत से जितने शब्द होते हैं उतने ही उनके अर्थ होते हैं अर्थात् प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न होता है। शब्द नय इन्द्र, शक्र, पुरन्दर इन तीनों शब्दों का एक ही वाच्य मानता है, परन्तु समभिरूढ नय के मत से इन तीनों के तीन भिन्न भिन्न वाच्य हैं, क्योंकि इन तीनों की प्रवृत्ति के निमित्त भिन्न भिन्न हैं इन्दन (ऐश्वर्य भोगना) क्रिया में परिणत को इन्द्र, शकन (समर्थ होना) क्रिया में परिणत को शक्र, और पुरदारण (पुर अर्थात् नगरों का नाश) क्रिया में परिणत को पुरन्दर कहते हैं। यदि इनकी प्रवृत्ति के भिन्न निमित्तों के होने पर भी इन तीनों का एक ही अर्थ मानेंगे तो घट, पटादि शब्दों का भी एक ही अर्थ मानना पड़ेगा। इस प्रकार दोष आवेगा। इसलिए प्रत्येक शब्द का भिन्न वाच्य मानना ही युक्तिसंगत है।

(७) एवंभूत नय शब्दों की प्रवृत्ति की निमित्त भूत क्रिया से युक्त पदार्थों को ही उनका वाच्य मानने वाला एवंभूत नय है।

समभिरूढ नय इन्दनादि क्रिया के होने या न होने पर इन्द्रादि को इन्द्रादि शब्दों के वाच्य मान लेता है, क्योंकि ये शब्द अपने वाच्यों के लिए रूढ हो चुके हैं, परन्तु एवंभूत नय इन्द्रादि को इन्द्रादि शब्दों के वाच्य तभी मानता है जब कि ये इन्दनादि (ऐश्वर्यवान्) क्रियाओं में परिणत हों। जैसे एवंभूत नय इन्दन क्रिया का अनुभव करते समय ही इन्द्र को इन्द्र शब्द का वाच्य है

मानता है और शकन(समर्थ होना) क्रिया में परिणत होने पर ही शक्र को शक्र शब्द का वाच्य स्वीकार करता है,अन्यथा नहीं।

शब्द से कही हुई क्रियादि चेष्टाओं से युक्त वस्तु को ही शब्द का वाच्य मानने वाला एवंभूत नय है अर्थात् जो शब्द को अर्थ से और अर्थ को शब्द से विशेषित करता है वह एवंभूत नय है। जैसे घट शब्द चेष्टा अर्थवाली घट धातु से बना है। अतः इसका अर्थ यह है कि जो स्त्री के मस्तक पर आरूढ होकर जल धारण आदि क्रिया कि चेष्टा करता है, वह घट है। इसलिए एवंभूत नय के मत से घट वस्तु तभी घट शब्द की वाच्य होगी जब कि वह स्त्री के मस्तक पर आरूढ होकर जलधारणादि क्रिया को करेगी, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार जीव तभी सिद्ध कहा जाता है जब सब कर्मों का क्षय करके मोक्ष में विराजमान हो।

(अनुयोगद्वार सूत्रवृत्ति)

तात्पर्य यह है कि एवंभूत नय में उपयोग सहित क्रिया की प्रधानता है। इस नय के मत से वस्तु तभी पूर्ण होती है जब वह अपने सम्पूर्ण गुणों से युक्त हो और यथावत् क्रिया करे।

नय के भेद

'जितनी तरह के वचन हैं उतनी ही तरह के नय हैं।' इससे दो बातें मालूम होती हैं। पहली यह कि नय के अगणित भेद हैं। दूसरी यह कि नय का वचन के साथ बहुत सम्बन्ध है। यदि वचन के साथ नय का सम्बन्ध है तो उपचार से नय वचनात्मक भी कहा जा सकता है। अर्थात् प्रत्येक नय वचनों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। इसलिए वचन को भी नय कह सकते हैं। इस तरह प्रत्येक नय दो तरह का है–भाव नय और द्रव्य नय। ज्ञानात्मक नय को भाव नय कहते हैं और वचनात्मक नय को द्रव्य नय।

नय के मूल में दो भेद हैं–निश्चय और व्यवहार। व्यवहार नय

का उपनय भी कहते हैं। जो वस्तु के असली स्वरूप को बतलाता है उसे निश्चय नय कहते हैं। जो दूसरे पदार्थों के निमित्त से उसे अन्यरूप बतलाता है उसे व्यवहार नय कहते हैं

यद्यपि व्यवहार वस्तु के स्वरूप को दूसरे रूप में बतलाता है परन्तु यह मिथ्या नहीं है क्योंकि जिस अपेक्षा से जिस रूप में यह वस्तु का विषय करता है उस रूप में वस्तु पाई जाती है। जैसे-हम कहते हैं 'घी का घड़ा' इस वाक्य से वस्तु के असली स्वरूप का ज्ञान तो नहीं होता अर्थात् यह नहीं मालूम होता कि घड़ा मिट्टी का है, पीतल का या टीन का? इसलिए इसे निश्चय नय नहीं कह सकते लेकिन इससे इतना अवश्य मालूम होता है कि उस घड़े में घी रक्खा जाता है। जिसमें घी रक्खा जाता हो ऐसे घड़े को व्यवहार में घी का घड़ा कहते हैं। इसलिए यह ज्ञान व्यवहार से सत्य है और इसी से व्यवहार नय भी सत्य है। व्यवहार नय मिथ्या तभी हो सकता है जब कि उसका विषय निश्चय का विषय मान लिया जाय अर्थात् कोई मनुष्य घी के घड़े का अर्थ घी से बना हुआ घड़ा समझे। जब तक व्यवहार नय अपने व्यावहारिक सत्य पर कायम है तब तक उसे मिथ्या नहीं कह सकते।

निश्चय नय के दो भेद हैं-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्य अर्थात् सामान्य का विषय करने वाले नय को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। पर्याय अर्थात् विशेष का विषय करने वाले नय को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं-नैगम, संग्रह, व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं-ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ और एवंभूत। श्री जिनभद्रगणि का अनुसरण करने वाले सैद्धान्तिक द्रव्यार्थिक के चार भेद मानते हैं और पर्यायार्थिक के तीन। परन्तु सिद्धसेन आदि तार्किकों के मत को मानने वाले

द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार भेद मानते हैं।

द्रव्यार्थिक नय के १० भेद इस प्रकार हैं—

(१) नित्यद्रव्यार्थिक-जो सब द्रव्यों को नित्यरूप से स्वीकार करता है।

(२) एकद्रव्यार्थिक—जो अगुरुलघु और क्षेत्र की अपेक्षा न करके मूल गुण को ही इकट्ठा ग्रहण करे।

(३) जो सद्द्रव्यार्थिक-जो ज्ञानादि गुण से सब जीव समान हैं' इसतरह सबको एक ही जीव कहता हुआ सद्द्रव्यादि को ग्रहण करे। जैसे 'सल्लक्षणं द्रव्यम्'।

(४) वक्तव्यद्रव्यार्थिक-जो द्रव्य से कहने योग्य गुण को ही ग्रहण करे।

(५) अशुद्ध द्रव्यार्थिक-जो आत्मा को अज्ञानी कहे।

(६) अन्वयद्रव्यार्थिक-जो सब द्रव्यों को गुण और पर्याय से युक्त माने।

(७) परमद्रव्यार्थिक-जो सब द्रव्यों की मूल सत्ता एक है, ऐसा कहे।

(८) शुद्धद्रव्यार्थिक-जो प्रत्येक जीव के आठ रुचक प्रदेशों को शुद्ध निर्मल कहे। जैसे-संसारी जीव को सिद्ध समान बताना।

(९) सत्ताद्रव्यार्थिक-जो जीव के असंख्यात प्रदेशों को एक समान माने।

(१०) परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक-जो इस प्रकार माने कि गुण और गुणी एक द्रव्य हैं, आत्मा ज्ञान रूप है।

पर्यायार्थिक नय के छः भेद—

(१) द्रव्य के पर्याय को ग्रहण करने वाला, भव्यत्व, सिद्धत्व वगैरह द्रव्य के पर्याय हैं।

(२) द्रव्य के व्यञ्जन पर्याय को मानने वाला। जैसे-द्रव्य के प्रदेश, परिमाण वगैरह व्यञ्जन पर्याय कहे जाते हैं।

(३) गुणपर्याय को मानने वाला। एक गुण से अनेकता होने को गुणपर्याय कहते हैं। जैसे धर्मादि द्रव्यों के एक गतिसहायकता गुण से अनेक जीव और पुद्गलों की सहायता करना।
(४) गुण के व्यंजन पर्यायों को स्वीकार करने वाला। एक गुण के अनेक भेदों को व्यंजन पर्याय कहते हैं।
(५) स्वभाव पर्याय को मानने वाला। स्वभाव पर्याय अगुरुलघु को कहते हैं। उपरोक्त पाँचों पर्याय सब द्रव्यों में होते हैं।
(६) विभाव पर्याय को मानने वाला पर्यायार्थिक नय का छठा भेद है। विभावपर्याय जीव और पुद्गल में ही है, अन्य द्रव्यों में नहीं। जीव का चारों गतियों में नये नये भावों का ग्रहण करना और पुद्गल का स्कन्ध वगैरह होना ही क्रमशः इन दोनों द्रव्यों के विभावपर्याय हैं।

दूसरी रीति से भी पर्यायार्थिक नय के छः भेद हैं-
(१) अनादि नित्य पर्यायार्थिक–स्थूलता की दृष्टि से अनादि नित्य पर्याय को ग्रहण करने वाला अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय है। जैसे मेरु पर्याय नित्य है।
(२) सादि नित्य पर्यायार्थिक–स्थूलता की दृष्टि से सादि नित्य पर्याय को ग्रहण करने वाला सादि नित्य पर्यायार्थिक नय है। जैसे मुक्त पर्याय नित्य है।
(३) अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक–सत्ता को गौण करके सिर्फ उत्पाद व्यय को विषय करने वाला अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे प्रत्येक पर्याय प्रति समय नश्वर है।
(४) अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक–जो उत्पाद व्यय के साथ प्रति समय पर्याय में ध्रौव्य भी ग्रहण करे उसे अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहते हैं जैसे पर्याय एक समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है।

(५) कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभाव नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय— जो संसारी जीव की पर्याय को कर्म की उपाधि रहित देखे। जैसे संसारी जीवों की पर्याय मुक्त (शुद्ध) है।

(६) कर्म की उपाधि सहित संसारी जीवों को ग्रहण करने वाला कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे संसारी जीव की मृत्यु होती है, जन्म होता है।

द्रव्यार्थिक के दस भेद—

जहाँ दार्शनिक रीति से आत्मा का विवेचन किया जाता है, ऐसे अध्यात्म प्रकरणों के लिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का विवेचन दूसरे ढंग का होता है। इस दृष्टि से द्रव्यार्थिक के दस भेद हैं—

(१) कर्म आदि की उपाधि से अलग शुद्ध आत्मा को विषय करने वाला कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक है। जैसे संसारी आत्मा मुक्तात्मा के समान शुद्ध है।

(२) उत्पाद व्यय को छोड़ कर सत्ता मात्र को विषय करने वाला सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। जैसे जीव नित्य है।

(३) भेद विकल्पों की अपेक्षा न करके अभेद मात्र को विषय करने वाला भेद विकल्प शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। जैसे-गुण पर्याय से द्रव्य भिन्न है।

(४) कर्मों की उपाधि सहित द्रव्य को ग्रहण करने वाला कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक है। जैसे क्रोध आत्मा का स्वभाव है।

(५) द्रव्य को उत्पाद व्यय सहित ग्रहण करने वाला उत्पाद व्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक है। जैसे द्रव्य प्रति समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है।

(६) भेद की अपेक्षा रखने वाला भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। जैसे-ज्ञान दर्शन आदि जीव के गुण हैं।

किन्तु गुण गुणी का भेद मानकर यहाँ व्याख्यान किया गया है।

(७) गुण पर्यायों में द्रव्य को अनुगत बतलाने वाला अन्वय द्रव्यार्थिक है। जैसे-द्रव्य गुण पर्याय रूप है।

(८) जो स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र, स्वकाल स्वभाव की अपेक्षा से द्रव्य को सत् रूप से ग्रहण करता है उसे स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक कहते हैं। जैसे स्वचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य है।

(९) पर चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य को असत् रूप ग्रहण करने वाला परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक है। जैसे पर चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य नहीं है।

(१०) जो परम भाव को ग्रहण करने वाला नय है उसे परम भावग्राहक द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे आत्मा-ज्ञान रूप है।

व्यवहार नय के भेद—

व्यवहार नय के दो भेद हैं। सद्भूत व्यवहार नय, असद्भूत व्यवहार नय। एक वस्तु में भेद को विषय करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है। इसके भी दो भेद हैं, उपचरित सद्भूत व्यवहार नय, अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय।

सोपाधिगुण गुणी में भेद ग्रहण करने वाला सद्भूत व्यवहार नय। निरुपाधि गुण गुणी में भेद ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे जीव का मतिज्ञान इत्यादि लोक में व्यवहार होता है। इस व्यवहार में उपाधि रूप कर्म के आवरण से कलुषित आत्मा का मल सहित ज्ञान होने से जीव का मतिज्ञान सोपाधिक होने से उपचरित सद्भूत व्यवहार नामक प्रथम भेद है।

निरुपाधि गुण गुणी के भेद का ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है अर्थात् उपाधि रहित गुण के साथ उपाधिशून्य आत्मा जब संयम होता है तब अनुपाधिक गुण गुणी के भेद से भिन्न अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय सिद्ध

होता है। जैसे–केवलज्ञान रूप गुण से सहित निरुपाधिक आत्मा।

असद्भूत व्यवहार नय के भी दो भेद हैं। उपचरित असद्भूत व्यवहार और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार ।

सम्बन्ध रहित वस्तु में सम्बन्ध को विषय करने वाला उपचरित असद्भूत है अर्थात् सम्बन्ध का योग न होने पर कल्पित सम्बन्ध मानने पर उपचरित असद्भूत व्यवहार होता है। जैसे देवदत्त का धन। यहाँपर देवदत्त का धन के साथ स्वाभाविक रूप से सम्बन्ध माना गया है। वह कल्पित होने से उपचरित सिद्ध है, क्योंकि देवदत्त और धन ये दोनों एक द्रव्य नहीं हैं। इसलिए भिन्न द्रव्य होने से देवदत्त तथा धन में सद्भूत (यथार्थ) सम्बन्ध नहीं है। अतःअसद्भूत करने से उपचरित असद्भूत व्यवहार है।

सम्बन्ध सहित वस्तु में सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूत है। यह भेद वहाँ कर्मजनित सम्बन्ध है वहाँ होता है। जैसे–जीव का शरीर। यहाँ पर आत्मा और शरीर का सम्बन्ध देवदत्त और उसके धन के सम्बन्ध के समान कल्पित नहीं है, किन्तु यावज्जीव स्थायी होने से अनुपचरित है तथा जीव और शरीर के भिन्न होने से असद्भूत व्यवहार है। (सम्यक्त्वोपलब्धि मं० ७)

इन सातों नयों में पहिले पहिले के नय बहुत या स्थूल विषय वाले हैं। आगे आगे के नय अल्प या सूक्ष्म विषय वाले हैं।

नैगम नय का विषय सत् और असत् दोनों ही पदार्थ हैं, क्योंकि सत् और असत् दोनों में संकल्प होता है। संग्रह नय केवल सत् को ही विषय करता है। व्यवहार संग्रह के टुकड़ों को मानता है। व्यवहार से ऋजुसूत्र सूक्ष्म है, क्योंकि ऋजुसूत्र में सिर्फ वर्तमान काल की ही पर्याय विषय होती है। ऋजुसूत्र से शब्द नय सूक्ष्म है, क्योंकि ऋजुसूत्र में तो लिंगादि का भेद होने पर भी अर्थभेद नहीं माना जाता जब कि शब्द नय मानता

है। शब्द से समभिरूढ नय का विषय सूक्ष्म है, क्योंकि शब्द नय लिंग वचन आदि समान होने पर केवल शब्द के भेद से अर्थ भेद नहीं मानता। समभिरूढ सिर्फ शब्द भेद के कारण भी अर्थ भेद मान लेता है। एवंभूत का विषय समभिरूढ से भी सूक्ष्म है, क्योंकि वह व्युत्पत्त्यर्थ से प्राप्त क्रिया में परिणत व्यक्ति को ही उस शब्द का वाच्य मानता है। जिस समय वस्तु अपने वाच्यार्थ की क्रिया में परिणत नहीं है उस समय एवंभूत की अपेक्षा उस उस शब्द से नहीं कहा जा सकता।

एक एक नय के सौ सौ प्रभेद माने गए हैं। इसलिए सात मूल नयों के सात सौ भेद होते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने नैगमनय का संग्रह और व्यवहार नय में समावेश करके मूल नय ६ ही माने हैं। इस अपेक्षा से नयों के ६०० भेद होते हैं। द्रव्यार्थिक नय के चार भेद और शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनों को एक ही मानने से नय के मूल ५ भेद ही हैं। इस अपेक्षा से नय के ५०० भेद हैं। द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद(संग्रह,व्यवहार, ऋजुसूत्र)और चौथा शब्द(शब्द,समभिरूढ और एवंभूत सम्मिलित) नय मानने से नयों के ४०० भेद भी होते हैं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो ही भेद नय मानने से नयों के दो सौ भेद होते हैं। (प्रवचनसारोद्धार द्वार १२४)

नय के सौ भेद इस प्रकार माने गये हैं। द्रव्यार्थिक नय के १० भेद कहे गये हैं। नैगम के तीन, संग्रह के दो, व्यवहार के दो, इस प्रकार ७ भेद हुए। द्रव्यार्थिक के दस भेदों को सात से गुणा करने पर ७० भेद होते हैं।

पर्यायार्थिक नय के ६ भेद हैं, ऋजुसूत्र के दो, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय का एक एक भेद मानने से ५ भेद

होते हैं। पर्यायार्थिक नय के ६ भेदों से ५ को गुणा करने पर इसके ३० भेद होते हैं। द्रव्यार्थिक के ७० और पर्यायार्थिक के ३० भेद मिलकर १०० भेद होते हैं।

नयों के सात सौ भेद नीचे लिखे अनुसार भी किए जाते हैं-

नैगम नय के मूल तीन भेद हैं-अतीत नैगम नय, अनागत नैगम नय, वर्तमान नैगम नय। इन तीनों को नित्य द्रव्यार्थिक आदि दस से गुणित करने पर तीस भेद हो जाते हैं। तीस भेदों को सप्तभङ्गी के सात भङ्गों से गुणित करने पर २१० भेद हो जाते हैं। संग्रह नय के दो भेद हैं-सामान्य संग्रह और विशेष संग्रह। प्रत्येक के ७०-७० (नित्यद्रव्यार्थिक रूप दस को सप्तभङ्गी से गुणित करने पर) भेद होते हैं। इसके कुल १४० भेद हुए। व्यवहार के दो भेद-सामान्यसंग्रहभेदक व्यवहार और विशेष संग्रहभेदक व्यवहार, प्रत्येक के उपरोक्त रीति से ७०-७० भेद हैं।

पर्यायार्थिक नय के समुच्चय रूप से द्रव्य, व्यञ्जन, गुण आदि ६ भेद हैं। प्रत्येक के साथ सप्तभङ्गी जोड़ी जाती है। अतः शब्द समभिरूढ और एवंभूत के ४२-४२ भेद हो जाते हैं। ऋजुसूत्रनय के मूल में सूक्ष्म और स्थूल दो भेद हो जाने से ८४ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर नीचे लिखे अनुसार भेद हो जाते हैं-

नैगम के २१० संग्रह के १४० व्यवहार के १४० ऋजुसूत्र के ८४ शब्द के ४२ समभिरूढ के ४२ एवंभूत के ४२। कुल ७००।

सातों नयों का स्वरूप समझाने के लिए शास्त्रकारों ने प्रस्थक, वसति और प्रदेश ये तीन दृष्टान्त दिए हैं। वे हैं क्रमशः ये दिए हैं।

प्रस्थक का दृष्टान्त-प्रस्थक काष्ठ का बना हुआ धान्य का माप विशेष है। प्राचीन काल में मगध देश में यह माप काम में लाया जाता था। प्रस्थक (पायली) करने के उद्देश्य से हाथ में कुल्हाड़ी ले कर जंगल की ओर जाते हुए पुरुष को देखकर किसी ने उससे पूछा

आप कहाँ जाते हैं ? उत्तर में उसने कहा कि प्रस्थक के लिये जाता हूँ। इसी प्रकार प्रस्थक के लिये काष्ठ काटते हुए, काष्ठ को छीलते हुए, कोरते हुए, लिखते हुए भी यह पूछने पर यही उत्तर देता है कि प्रस्थक काटता हूँ, यावत् प्रस्थक को लिखता हूँ। इस प्रकार पूर्णता प्राप्त प्रस्थक को भी प्रस्थक कहता है। यहाँ काष्ठ के लिये जंगल में जाते हुए को पूछने पर 'प्रस्थक के लिए जाता हूँ' यह उत्तर अविशुद्ध नैगम नय की अपेक्षा से है, क्योंकि वह प्रस्थक के काष्ठ के लिये जा रहा है, न कि प्रस्थक के लिये। यहाँ कारण से कार्य का उपचार किया गया है। शेष उत्तर क्रमशः विशुद्ध विशुद्धतर नैगम नय की अपेक्षा से हैं, क्योंकि उनमें भी कारण से कार्य का उपचार किया गया है। आगे आगे उत्तर में प्रस्थक पर्याय का व्यवधान कम होता जा रहा है और इसलिये उपचार का उत्तरोत्तर तारतम्य है। जैसे कि दूध आयु है, दही आयु है, घी आयु है। इन वाक्यों में उपचार की उत्तरोत्तर कमी है। विशुद्ध नैगम नय की अपेक्षा से तो प्रस्थक पर्याय को प्राप्त द्रव्य प्रस्थक कहा जाता है। लोक में इन अवस्थाओं में प्रस्थक का व्यवहार होता देखा जाता है। इसलिए लोक व्यवहार प्रधान व्यवहार नय का उक्त मन्तव्य भी नैगम नय जैसा ही है। संग्रह नय मेय धान्य से भरे हुए अपनी अर्थक्रिया करते हुए प्रस्थक को प्रस्थक रूप से मानता है। कारण में कार्य का उपचार इस नय को इष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त इस नय के सामान्यग्राही होने से इसके अनुसार सभी एक ही प्रस्थक हैं।

ऋजुसूत्र नय प्रस्थक और मेय धान्यादि दोनों को प्रस्थक रूप से मानता है। यह नय पहिले के नयों से अधिक विशुद्ध होने से वर्तमानकालीन मान और मेय को ही प्रस्थक रूप से स्वीकार करता है। भूत एवं भविष्यत् काल इस नय की अपेक्षा

असत् रूप है।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय की दृष्टि से प्रस्थक स्वरूप का ज्ञान और जानकार ही प्रस्थक है। अपने प्रस्थक निर्माण के उपयोग में लगा हुआ प्रस्थक का कर्ता ही प्रस्थक है।

वसति का दृष्टान्त–किसी ने पाटलीपुत्र में रहने वाले किसी मनुष्य को पूछा—

प्र०–आप कहाँ रहते हैं?

उ०–मैं लोक में रहता हूँ (अविशुद्ध नैगम नय के व्यवहार से)

प्र०–लोक तीन हैं-ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक। क्या आप तीनों ही लोकों में रहते हैं?

उ०–मैं केवल तिर्यक्लोक में ही रहता हूँ। (यह विशुद्ध नैगम नय का वचन है)

प्र०–तिर्यक् लोक में जम्बूद्वीप से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त असंख्य द्वीप समुद्र हैं, तो क्या आप उन सभी में रहते हैं?

उ०–मैं जम्बूद्वीप में रहता हूँ। (यह विशुद्धतर नैगम नय है)

प्र०–जम्बूद्वीप में ऐरावतादि दस क्षेत्र हैं तो क्या आप उन सब में रहते हैं?

उ०–मैं भरतक्षेत्र में रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम)

प्र०–भारतवर्ष के दो खंड हैं-दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध, तो क्या आप उन दोनों में रहते हैं?

उ०–मैं दक्षिणार्द्ध भारतवर्ष में रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम)

प्र०–दक्षिणार्द्ध भारतवर्ष में भी अनेक ग्राम, आकर, नगर, खेड़, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, संवाह, सन्निवेश आदि स्थान हैं। तो क्या आप उन सभी में रहते हैं?

उ०–मैं पाटलीपुत्र में रहता हूँ (विशुद्धतर)

प्र०–पाटलीपुत्र में अनेक घर हैं क्या आप उन सभी घरों में

रहते हैं ?

उ०–मैं देवदत्त के घर में रहता हूँ। (अशुद्धतर नैगम)

प्र०–देवदत्त के घर में अनेक कोठे हैं। क्या आप उन सब कोठों में रहते हैं ?

उ०–मैं मध्य के कोठे में रहता हूँ।

इस प्रकार पूर्व पूर्व की अपेक्षा से विशुद्धतर नैगम नय के मत से बसते हुए को रहता हुआ माना जाता है। यदि वह अन्यत्र भी चला जावे तो भी वह जहाँ का निवासी होगा वहाँ का ही माना जायगा।

इसी प्रकार व्यवहार का मत है, किन्तु विशेषता इतनी है कि जब तक वह अन्यत्र अपना स्थान निश्चय न कर ले तब तक उसके लिये यह कहा जाता है कि अमुक पुरुष इस समय पाटली पुत्र में नहीं है और जहाँ पर जाता है वहाँ पर ऐसा कहते हैं, पाटलीपुत्र का बसने वाला अमुक पुरुष यहाँ आया हुआ है। लेकिन बसते हुए को बसता हुआ मानना यह दोनों नयों का मन्तव्य है।

संग्रह नय जब कोई अपनी शय्या में शयन करे तभी उसे बसता हुआ मानता है, क्योंकि चलना आदि क्रिया से रहित होकर शयन करने के समय को ही संग्रह नय बसता हुआ मानता है। संग्रह नय सामान्यग्राही है इसलिये उसके मत से सभी शय्याएं एक समान हैं।

ऋजुसूत्र नय के मत से शय्या में जितने आकाश प्रदेश अवगाहन किए हुए हैं, वह उन्हीं पर बसता हुआ माना जाता है, क्योंकि यह नय वर्तमान काल को स्वीकार करता है, अन्य को नहीं। इसलिये जितने आकाशप्रदेशों में किसी ने अवगाहन किया है उन्हीं पर वह बसता है, ऐसा ऋजुसूत्र

नय का मत है। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनों नयों का एमा मन्तव्य है कि सब पदार्थ अपने स्वरूप में बसते हैं।

प्रदेश का दृष्टान्त-प्रकृष्ट देश को प्रदेश कहते हैं। अर्थात्-वह भाग जिसका फिर भाग न हो। इस प्रदेश के दृष्टान्त से भी नयों का विवेचन किया जाता है।

नैगम नय कहता है कि छः द्रव्यों का प्रदेश है। जैसे-धर्मास्तिकाय का प्रदेश, अधर्मास्तिकाय का प्रदेश, आकाशास्तिकाय का प्रदेश। जीव का प्रदेश, पुद्गलस्कन्ध का प्रदेश और काल का प्रदेश।

इस प्रकार कहते हुए नैगमनय को उससे अधिक निपुण संग्रह नय कहता है कि जो तुम छः का प्रदेश कहते हो सो ठीक नहीं है, क्योंकि जो तुम छः देश का प्रदेश कहते हो वह असंगत है, क्योंकि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य से सम्बन्ध रखने वाला देश का जो प्रदेश है, वह भी वास्तव में उसी द्रव्य का है जिससे कि देश सम्बद्ध है। क्योंकि द्रव्य से अभिन्न देश का जो प्रदेश है वह भी द्रव्य का ही होगा। लोक में भी ऐसा व्यवहार देखा जाता है। जैसे कोई सेठ कहता है कि मेरे नौकर ने गदहा खरीदा। नौकर भी मेरा है, गदहा भी मेरा है, क्योंकि नौकर के मेरा होने से गदहा भी मेरा ही है। इसी प्रकार द्रव्य के द्रव्य सम्बन्धी होने के कारण प्रदेश भी द्रव्य सम्बन्धी ही है। इस लिये छः के प्रदेश मत कहो, किन्तु इस प्रकार कहो-पाँच के प्रदेश इत्यादि। पाँच द्रव्य और उनके प्रदेश भी अविशुद्ध संग्रह नय ही मानता है। विशुद्ध संग्रह नय तो द्रव्यबाहुल्य और प्रदेशों की कल्पना को नहीं मानता।

इस प्रकार कहते हुए संग्रह नय को उससे भी अधिक निपुण व्यवहार नय कहता है-जो तुम कहते हो कि पाँच के प्रदेश,

सो ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार कहने से यह प्रतीत होता है कि धर्मास्तिकायादि पाँचों का प्रदेश। जैसे पाँच पुरुषों ने मिलकर सामिल में सोना खरीदा, तो वह सोना पाँचों का कहा जायगा। इस प्रकार यदि धर्मास्तिकायादि पाँचों द्रव्यों का सामान्य एक प्रदेश हो, तभी 'पाँचों का प्रदेश' यह कहना उपयुक्त हो सकता है। परन्तु पाँचों द्रव्यों का सामान्य कोई प्रदेश नहीं है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश भिन्न भिन्न हैं। इसलिये इस प्रकार कहना चाहिये 'पाँच प्रकार का प्रदेश' जैसे धर्मप्रदेश इत्यादि।

इस प्रकार कहते हुये व्यवहार नय को ऋजुसूत्र कहता है कि 'पाँच प्रकार का प्रदेश' यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने का यह तात्पर्य होगा कि धर्मास्तिकाय आदि एक एक द्रव्य के पाँच पाँच प्रकार के प्रदेश। इस प्रकार प्रदेश के २५ प्रकार हो जायेंगे। इसलिये इस प्रकार कहो 'प्रदेश भाज्य है' अर्थात् प्रदेश धर्मास्तिकाय आदि पाँच के द्वारा विभाजनीय है। जैसे-स्यात्धर्म प्रदेश, इत्यादि। इस प्रकार प्रदेश के पाँच भेद सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार कहते हुए ऋजुसूत्र को अब शब्द नय कहता है- 'प्रदेश भाज्य है' ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहने से यह दोष आता है कि धर्मास्तिकाय का प्रदेश भी कभी अधर्मास्तिकाय का प्रदेश हो जायेगा और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश भी धर्मास्तिकाय के प्रदेश हो जायँगे। जैसे एक ही देवदत्त कभी राजा का भृत्य और अमात्य हो जाता। इस प्रकार नैयत्य के अभाव में अनवस्था दोष आता है। इसलिये इस प्रकार कहो 'धर्मे प्रदेसे' अर्थात् धर्मात्मक प्रदेश। क्या यह प्रदेश धर्मास्तिकाय से अभिन्न होने पर धर्मात्मक कहा जाता है अथवा उसके एकदेश से अभिन्न होने पर ही, जैसे समस्त जीवास्तिकाय के एक देश

एक जीव से ही, अभिन्न होने पर प्रदेश जीवात्मक कहा जाता है। जीवास्तिकाय में तो परस्पर भिन्न भिन्न अनन्त द्रव्य हैं। इसलिये एक जीव द्रव्य का प्रदेश है। वह समस्त जीवास्तिकाय के एक प्रदेश में रहने पर भी जीवात्मक कहा जाता है, किन्तु धर्मास्तिकाय एक ही द्रव्य है इसलिये सकल धर्मास्तिकाय से अभिन्न होने पर प्रदेश धर्मात्मक कहा जाता है। अधर्मास्तिकाय और आकाश को भी एक एक द्रव्य होने के कारण इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। जीवास्तिकाय में तो जीवप्रदेश से तात्पर्य है 'नोजीव प्रदेश।' क्योंकि जीव प्रदेश का अर्थ जीवास्तिकायात्मक प्रदेश है और वह जीव नोजीव है, क्योंकि यहाँ नोशब्द देशवाचक है। इसलिये नोजीव प्रदेश का अर्थ समस्त जीवास्तिकाय के एक देश में रहने वाला है। क्योंकि जीव का द्रव्यात्मक प्रदेश समस्त जीवास्तिकाय में नहीं रह सकता। इसी प्रकार स्कन्धात्मक प्रदेश भी नोस्कन्ध है।

इस प्रकार कहते हुए शब्द नय को समभिरूढ़ नय कहता है– जो तुम कहते हो कि 'धर्म प्रदेश' का प्रदेश धर्मात्मक है, इत्यादि। यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'धम्मे पएसे, सपएसे धम्मे' यहाँ पर सप्तमी तत्पुरुष और कर्मधारय दो समास हो सकते हैं। यदि धर्म शब्द को सप्तम्यन्त माना जाय तो सप्तमी तत्पुरुष समास होता है। जैसे–वन हस्ती। यदि धर्म शब्द को प्रथमान्त मानते हो तो कर्मधारय समास होता है, जैसे 'नीलमुत्पलं'। तुम किस समास से कहते हो? यदि तत्पुरुष से कहते हो तो ठीक नहीं है। क्योंकि 'धर्म प्रदेश' इस प्रकार मानने से धर्म में भेद की आपत्ति होती है, जैसे 'कुण्डे बदराणि'। किन्तु प्रदेश और प्रदेशी में भेद नहीं होता है। यदि अभेद में सप्तमी मानते हो जैसे–'घटे रूपं' तो दोनों में इसी प्रकार कहने से संशय

सो ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार कहने से यह प्रतीत होता है कि धर्मास्तिकायादि पाँचों का प्रदेश। जैसे पाँच पुरुषों ने मिलकर शामिल में सोना खरीदा, तो वह सोना पाँचों का कहा जायगा। इस प्रकार यदि धर्मास्तिकायादि पाँचों द्रव्यों का सामान्य एक प्रदेश हो, तभी ' पाँचों का प्रदेश ' यह कहना उपयुक्त हो सकता है। परन्तु पाँचों द्रव्यों का सामान्य कोई प्रदेश नहीं है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश भिन्न भिन्न हैं। इसलिये इस प्रकार कहना चाहिये ' पाँच प्रकार का प्रदेश ' जैसे धर्मप्रदेश इत्यादि।

इस प्रकार कहते हुये व्यवहार नय को ऋजुसूत्र कहता है कि ' पाँच प्रकार का प्रदेश ' यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने का यह तात्पर्य होगा कि धर्मास्तिकाय आदि एक एक द्रव्य के पाँच पाँच प्रकार के प्रदेश। इस प्रकार प्रदेश के २५ प्रकार हो जायेंगे। इसलिये इस प्रकार कहो 'प्रदेश भाज्य है ' अर्थात् प्रदेश धर्मास्तिकाय आदि पाँच के द्वारा विभाजनीय है। जैसे-स्यात्धर्म प्रदेश, इत्यादि। इस प्रकार प्रदेश के पाँच भेद सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार कहते हुए ऋजुसूत्र को शब्द नय कहता है- 'प्रदेश भाज्य है' ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहने से यह दोष आता है कि धर्मास्तिकाय का प्रदेश भी कभी अधर्मास्तिकाय का प्रदेश हो जावेगा और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश भी धर्मास्तिकाय के प्रदेश हो जायँगे। जैसे एक ही देवदत्त कभी राजा का भृत्य और अमात्य हो जायगा। इस प्रकार नैयत्य के अभाव में अनवस्था दोष आता है। इसलिये इस प्रकार कहो 'धर्मो पदेसे' अर्थात् धर्मात्मक प्रदेश। क्या यह प्रदेश धर्मास्तिकाय से अभिन्न होने पर धर्मात्मक कहा जाता है अथवा उसके एक प्रदेश से अभिन्न होने पर ही, जैसे समस्त जीवास्तिकाय के एक देश

एक जीव से ही, अभिन्न होने पर प्रदेश जीवात्मक कहा जाता है। जीवास्तिकाय में तो परस्पर भिन्न भिन्न अनन्त द्रव्य हैं। इसलिये एक जीव द्रव्य का प्रदेश है। वह समस्त जीवास्तिकाय के एक प्रदेश में रहने पर भी जीवात्मक कहा जाता है, किन्तु धर्मास्तिकाय एक ही द्रव्य है इसलिये सकल धर्मास्तिकाय से अभिन्न होने पर प्रदेश धर्मात्मक कहा जाता है। अधर्मास्तिकाय और आकाश का भी एक एक द्रव्य होने के कारण इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। जीवास्तिकाय में जो जीवप्रदेश से तात्पर्य है 'नोजीव प्रदेश।' क्योंकि जीव प्रदेश का अर्थ जीवा स्तिकायात्मक प्रदेश है और वह जीव नोजीव है, क्योंकि यहाँ नोशब्द देशवाचक है। इसलिये नोजीव प्रदेश का अर्थ समस्त जीवास्तिकाय के एक देश में रहने वाला है। क्योंकि जीव का द्रव्यात्मक प्रदेश समस्त जीवास्तिकाय में नहीं रह सकता। इसी प्रकार स्कन्धात्मक प्रदेश भी नोस्कन्ध है।

इस प्रकार कहते हुए शब्द नय को समभिरूढ नय कहता है– जो तुम कहते हो कि 'धर्म प्रदेश' वह प्रदेश धर्मात्मक है, इत्यादि। यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'धम्म पएसे, सपएसे धम्मे' यहाँ पर सप्तमी तत्पुरुष और कर्मधारय दो समास हो सकते हैं। यदि धर्म शब्द को सप्तम्यन्त माना जाय तो सप्तमी तत्पुरुष समास होता है। जैसे वन हस्ती। यदि धर्म शब्द को प्रथमान्त मानते हो तो कर्मधारय समास होता है, जैसे 'नीलमुत्पलं'। तुम किस समास से कहते हो? यदि तत्पुरुष से कहते हो तो ठीक नहीं है। क्योंकि 'धर्म प्रदेश' इस प्रकार मानने से धर्म में भेद की आपत्ति होती है, जैसे 'कुण्डे बदराणि'। किन्तु प्रदेश और प्रदेशी में भेद नहीं होता है। यदि अभेद में सप्तमी मानते हो जैसे–'घट रूप' तो दोनों में इसी प्रकार देखने से संशय

दोष आता है। यदि कर्मधारय मानते हो तो विशेष से कहो। 'धम्मे य से पएसे य सेय' (धर्मश्च प्रदेशश्च स धर्मप्रदेशः)। इस लिये इस प्रकार कहना चाहिए कि प्रदेश धर्मास्तिकाय है, क्योंकि वह समस्त धर्मास्तिकाय से तो अव्यतिरिक्त है। किन्तु उसके एक देश में नहीं रहता है। इसी प्रकार मोक्षस्कन्ध तक अर्थ समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार कहते हुए समभिरूढ नय को अब एवंभूत नय कहता है कि तुम जो धर्मास्तिकाय आदि वस्तु कहते हो, उन सबको कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरवशेष और एक ही नाम से कही जाने वाली मानो। देश, प्रदेश आदि रूप से मत मानो, क्योंकि देश, प्रदेश मेरे मत में अवस्तु हैं। अखण्ड वस्तु ही सत्य है, क्योंकि प्रदेश और प्रदेशी के भिन्न भिन्न मानने से दोष आते हैं। जैसे प्रदेश और प्रदेशी भिन्न हैं या अभिन्न? यदि भिन्न हैं तो भेद रूपसे उनकी उपलब्धि होनी चाहिए, परन्तु ऐसी उपलब्धि नहीं होती है।

यदि अभिन्न हैं तो धर्म और प्रदेश शब्द पर्यायवाची बन जाते हैं, क्योंकि एक ही अर्थ को विषय करते हैं। इन में युगपत् प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि एक के द्वारा ही अर्थ का प्रतिपादन हो जाने से दूसरा व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये वस्तु परिपूर्ण ही है।

इस प्रकार सब अपने अपने मत की सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। ये सातों नय निरपेक्षता से वर्णन करने पर दुर्नय हो जाते हैं और परस्पर सापेक्ष होने पर सत्य हो जाते हैं। इन सातों नयों का सापेक्ष कथन ही जैनमत है, क्योंकि जैनमत अनेक नयात्मक है। एक नयात्मक नहीं। स्तुतिकार ने भी कहा है–

हे नाथ! जैसे सब नदियाँ समुद्र में एकत्रित होती हैं इसी प्रकार आपके मत में सब नय एक साथ हो जाते हैं। किन्तु आप के मत का किसी भी नय में समावेश नहीं होता। जैसे समुद्र किसी नदी

में नहीं समता। इसलिये सभी वादियों का सिद्धान्त जैनमत है, किन्तु किसी वादी का मत जैनधर्म नहीं है।

(नयचक्र) (नयप्रदीप) (नयविवरण) (नयोपदेश) (आत्मख्याति)
(विशे० गा० २१८०–२१९८)

५६३–सप्तभंगी

जब एक वस्तु के किसी एक धर्म के विषय में प्रश्न करने पर विरोध का परिहार करके व्यस्त और समस्त, विधि और निषेध की कल्पना की जाती है तो सात प्रकार के वाक्यों का प्रयोग होता है, जो कि स्यात्कार से चिह्नित होते हैं। उन सप्त प्रकार के वाक्यप्रयोग को सप्तभङ्गी कहते हैं। वे सात भङ्ग इस प्रकार हैं–(१) स्यादस्त्येव (२) स्यान्नास्त्येव (३) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव (४) स्यादवक्तव्यमेव (५) स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव (६) स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव (७) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव।

हिन्दी भाषा में इन सातों भङ्गों के नाम ये हैं–
(१) कथञ्चित् है (२) कथञ्चित् नहीं है (३) कथञ्चित् है और नहीं है (४) कथञ्चित् कहा नहीं जा सकता (५) कथञ्चित् है, फिर भी कहा नहीं जा सकता (६) कथञ्चित् नहीं है, फिर भी कहा नहीं जा सकता (७) कथञ्चित् है, नहीं है, फिर भी कहा नहीं जा सकता।

वस्तु के विषय मूल अस्तित्व आदि प्रत्येक पर्याय के धर्मों के सात प्रकार के ही होने से व्यस्त और समस्त, विधि निषेध की कल्पना से सात ही प्रकार के संदेह उत्पन्न होते हैं। इसलिए वस्तु के विषय में सात ही प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होने के कारण उसके विषय में सात ही प्रकार के प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं और उनका उत्तर इन प्रकार के वाक्यों द्वारा दिया जाता है।

मूल भङ्ग अस्ति और नास्ति दो हैं। दोनों की युगपद्

विवक्षा से अवक्तव्य नाम का भङ्ग बनता है और यह भी मूल भङ्ग में शामिल हो जाता है। इन तीनों के असंयोगी (अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य) द्विसंयोगी (अस्तिनास्ति अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य) और त्रिसंयोगी (अस्ति नास्ति अवक्तव्य) बनाने से सात भङ्ग हो जाते हैं।

अनेकान्त का अर्थ है अनेक धर्म। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाए जाते हैं, इसीलिए वह अनेकान्तात्मक मानी गई है। यदि चारों दिशाओं से किसी मकान के चार फोटो लिए जावें तो फोटो एक से तो नहीं होंगे, फिर भी एक ही मकान के होंगे। इसी तरह अनेक दृष्टियों से वस्तु अनेक तरह की मालूम होती है। इसीलिये हमारे प्रयोग भी नाना तरह के होते हैं। एक ही आदमी के विषय में हम कहते हैं यह वही आदमी है जिसे गत वर्ष देखा था। दूसरे समय कहते हैं यह वह नहीं रहा अब बड़ा विद्वान् हो गया है। पहिले वाक्य के प्रयोग के समय उसके मनुष्यत्व पर ही दृष्टि है। दूसरे वाक्य के प्रयोग के समय उसकी मूर्ख, विद्वान् आदि अवस्थाओं पर। इसलिए परस्पर विरोधी मालूम होते हुए भी दोनों वाक्य सत्य हैं। आम के फल को हम कटहल की अपेक्षा छोटा और बेर की अपेक्षा बड़ा कहते हैं। इसलिए कोई यह नहीं कह सकता कि एक ही फल को छोटा और बड़ा क्यों कहते हो ? बस यही बात अनेकान्त के विषय में भी है। एक ही वस्तु को अपेक्षा भेद से 'है' और 'नहीं है' कह सकते हैं।

जो पुस्तक हमारे कमरे में है, वह पुस्तक हमारे कमरे के बाहर नहीं है। यहाँ पर है और नहीं में कुछ विरोध नहीं आता। यह अविरोध अनेकान्त दृष्टि का फल है। शीत और उष्ण स्पर्श के समान अस्ति और नास्ति में विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि

विरोध तभी कहा जा सकता है जब कि एक ही काल में एक ही जगह दोनों धर्म एकत्रित होकर न रहें, लेकिन स्वचतुष्टय (स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा अस्तित्व और परचतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव) की अपेक्षा नास्तित्व या प्रत्यक्षादि प्रमाणों से एक ही वस्तु में सिद्ध है, फिर विरोध कैसा? जिन दो धर्मों में विरोध है। यह बात हम अपरख नहीं मान सकते। जब हमें यह बात मालूम हो जाती है कि ये धर्म एक ही समय में एक ही जगह नहीं रह सकते, तब हम उनमें विरोध मानते हैं। यदि ये एकत्रित होकर रह सकें, तो विरोध कैसे कहा जा सकता है? स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति और स्वचतुष्टय की अपेक्षा ही यदि नास्ति कहा जावे, तो विरोध कहना ठीक है । लेकिन अपेक्षाभेद से दोनों में विरोध नहीं कहा जा सकता ।

स्वपरचतुष्टय–इसका कहा है कि स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है। यह चतुष्टय है–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। गुण और पर्याय के आधार समूह को द्रव्य कहते हैं, जैसे ज्ञानादि अनेक गुणों का आश्रय जीव द्रव्य, है। 'जीव' जीवद्रव्य के रूप से 'है' (अस्ति)। जड़ द्रव्य के रूप से 'नहीं है' (नास्ति)। इसी प्रकार घड़ा घड़रूप से है, कपड़े के रूप से नहीं है। हरएक वस्तु स्वद्रव्य रूप से है और पर-द्रव्य रूप से नहीं है।

द्रव्य के प्रदेशों को (परमाणु के बराबर उसके अंशों को) क्षेत्र कहते हैं। घड़े के अवयव घड़े का क्षेत्र है। यद्यपि व्यवहार में आधार की जगह को क्षेत्र कहते हैं, किन्तु यह वास्तविक क्षेत्र नहीं है। जैसे दवात में स्याही है। यहाँ पर व्यवहार से स्याही का क्षेत्र दवात कहा जाता है लेकिन स्याही और दवात का क्षेत्र

अभाव हो जावेगा। ये दोनों बातें प्रमाण विरुद्ध हैं, क्योंकि न तो प्रत्येक वस्तु सर्वरूप से 'अस्ति' है और न उसका सर्वरूप से अभाव ही है। 'अस्ति' भङ्ग के साथ स्वचतुष्टय लगा हुआ है और नास्ति भङ्ग के साथ परचतुष्टय लगा हुआ है। अस्ति के प्रयोग से स्वचतुष्टय की अपेक्षा ही अस्ति समझा जावेगा न कि सर्वथा। इसी तरह नास्ति के कहने से परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति कहलावेगा न कि सर्वथा। इस प्रकार न तो प्रत्येक वस्तु व्यापक होगी और न अभाव रूप, परन्तु फिर भी एक ही भङ्ग के प्रयोग से काम नहीं चल सकता, क्योंकि दोनों भङ्गों से भिन्न भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है। एक भङ्ग का प्रयोग करने पर भी दूसरे भङ्ग के द्वारा पैदा होने वाला ज्ञान नहीं होता। जैसे यदि कहा जाय कि अमुक आदमी बाजार में नहीं है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अमुक जगह है। बाजार में न होने पर भी 'कहाँ है' यह जिज्ञासा बनी ही रहती है, जिसके लिए अस्ति भङ्ग की आवश्यकता है। व्यवहार में अस्ति भङ्ग का प्रयोग होने पर भी नास्ति भङ्ग के प्रयोग की भी आवश्यकता होती है। मेरे हाथ में रुपया है यह कहना एक बात है और मेरे हाथ में रुपया नहीं है, यह कहना दूसरी बात है। इस प्रकार दोनों भङ्गों का प्रयोग आवश्यक है।

अन्योन्याभाव से भी नास्ति भङ्ग की पूर्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नास्ति भङ्ग का सम्बन्ध किसी नियत अभाव से नहीं है। अन्योन्याभाव को छोड़कर प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, ये तीनों संसर्गाभाव हैं। नास्ति भङ्ग का सम्बन्ध सभी से है।

यद्यपि 'अस्ति नास्ति' यह तीसरा पहिले दो भङ्गों के मिलाने से बनता है, फिर भी इसका काम अस्ति और नास्ति इन दोनों भङ्गों से अलग है। जो काम अस्ति नास्ति भङ्ग

करता है, वह न अकेला अस्ति कर सकता है और न अकेला नास्ति। यद्यपि एक और दो मिलकर तीन होते हैं, फिर भी तीन की संख्या एक और दो से जुदी मानी जाती है।

वस्तु के अनेक धर्मों को हम एक साथ नहीं कह सकते, इसलिए युगपत् स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य है। वस्तु के अवक्तव्य होने का दूसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि वस्तु में जितने धर्म हैं, उतने शब्द नहीं हो सकते और हम लोगों को उन सब धर्मों का ज्ञान भी नहीं हो सकता जिससे उन सब को शब्दों से कहने की चेष्टा की जाय। तीसरी बात यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से अवक्तव्य है। वह अनुभव में तो आ सकती है, परन्तु शब्दों के द्वारा नहीं कही जा सकती।

रसों का अनुभव रसनेन्द्रिय द्वारा ही हो सकता है। शब्दों द्वारा नहीं। इसलिये वस्तु अवक्तव्य है, लेकिन अन्य दृष्टि से वक्तव्य भी है। इसलिये जब हम अवक्तव्य के साथ किसी रूप में वस्तु की वक्तव्यता भी कहना चाहते हैं तब वक्तव्यरूप तीनों भङ्ग अवक्तव्य के साथ मिल जाते हैं। इसलिये अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति नास्ति अवक्तव्य इन भङ्गों का प्रयोग होता है।

(सूयगडांग सूत्र श्रुतस्कन्ध २ अध्ययन ५ गा० १ १२ की टीका) (सन्मतितर्क)
(सप्तभङ्गतरङ्गिणी) (स्याद्वादमञ्जरी कारिका ११) (रत्नाकरावतारिका परि. ४)

अभाव हो जावेगा। ये दोनों बातें प्रमाण विरुद्ध हैं, क्योंकि न तो प्रत्येक वस्तु सर्वरूप से 'अस्ति' है और न उसका सर्वरूप से अभाव ही है। 'अस्ति' भङ्ग के साथ स्वचतुष्टय लगा हुआ है और नास्ति भङ्ग के साथ परचतुष्टय लगा हुआ है। अस्ति के प्रयोग से स्वचतुष्टय की अपेक्षा ही अस्ति समझा जायगा न कि सर्वथा। इसी तरह नास्ति के कहने से परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति कहलायेगा न कि सर्वथा। इस प्रकार न तो प्रत्येक वस्तु व्यापक होगी और न अभाव रूप, परन्तु फिर भी एक ही भङ्ग के प्रयोग से काम नहीं चल सकता, क्योंकि दोनों भङ्गों से भिन्न भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है। एक भङ्ग का प्रयोग करने पर भी दूसरे भङ्ग के द्वारा पैदा होने वाला ज्ञान नहीं होता। जैसे यदि कहा जाय कि अमुक आदमी बाजार में नहीं है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अमुक जगह है। बाजार में न होने पर भी 'कहाँ है' यह जिज्ञासा बनी ही रहती है, जिसके लिए अस्ति भङ्ग की आवश्यकता है। व्यवहार में अस्ति भङ्ग का प्रयोग होने पर भी नास्ति भङ्ग के प्रयोग की भी आवश्यकता होती है। मेरे हाथ में रुपया है यह कहना एक बात है और मेरे हाथ में रुपया नहीं है, यह कहना दूसरी बात है। इस प्रकार दोनों भङ्गों का प्रयोग आवश्यक है।

अन्योन्याभाव से भी नास्ति भङ्ग की पूर्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नास्ति भङ्ग का सम्बन्ध किसी नियत अभाव से नहीं है। अन्योन्याभाव को छोड़कर प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, ये तीनों संसर्गाभाव हैं। नास्ति भङ्ग का सम्बन्ध सभी से है।

यद्यपि 'अस्ति नास्ति' यह तीसरा पहिले दो भङ्गों के मिलाने से बनता है, फिर भी उसका काम अस्ति और नास्ति इन दोनों भङ्गों से अलग है। जो काम अस्ति नास्ति भङ्ग

अन्तिम मंगल

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः
काले काले च वृष्टिं वितरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रसरतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥१॥

प्रजा में शान्ति फैले, राजा धर्मनिष्ठ और बलवान् बने हमेशा ठीक समय पर वृष्टि हो, सब व्याधियाँ नष्ट हो जायें दुर्भिक्ष, डकैती, महामारी आदि दुःख संसार के किसी जीवको न हों, तथा जिनेन्द्र भगवान का चलाया हुआ, सबको सुख देने वाला धर्मचक्र सदा फैलता रहे ॥

॥ इति शुभमस्तु ॥

पुस्तक मिलने का पता —

श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया,
जैन पारमार्थिक संस्था,
बीकानेर (राजपूताना)

Shri Agarchand Bhairodan Sethia
Jain Parmarthic Sanstha Jain
BIKANER (Rajputana)